MAPA- 605

वित्तीय प्रशासन (भाग- 1)

FINANCIAL ADMINISTRATION

(Part- 1)

उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी- 263139
फोन नं0- 05946- 261122, 261123
टॉल फ्री नं0- 18001804025
ई-मेल- info@uou.ac.in
वैबसाईट- http://uou.ac.in

अध्ययन मंडल

प्रो0 गिरिजा प्रसाद पाण्डे निदेशक- समाज विज्ञान विद्या शाखा उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	प्रो0 अजय सिंह रावत उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
प्रो0 एम0 एम0 सेमवाल राजनीति विज्ञान विभाग केन्द्रीय विश्वविद्यालय, गढवाल, उत्तराखण्ड	प्रो0 मधुरेन्द्र कुमार (विशेष आमंत्रित सदस्य) राजनीति विज्ञान विभाग कुमाऊँ विश्वविद्यालय, नैनीताल, उत्तराखण्ड
डॉ0 ए0के0 रुस्तगी, रीडर, राजनीति विज्ञान जे0एस0पी0जी0 कॉलेज, अमरोहा, उत्तर प्रदेश	डॉ0 सूर्य भान सिंह, असिस्टेन्ट प्रोफेसर राजनीति विज्ञान उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड
डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर) उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	
पाठ्यक्रम संकलन और सम्पादन	
डॉ0 घनश्याम जोशी (असिस्टेन्ट प्रोफेसर) लोक प्रशासन विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी, उत्तराखण्ड	
इकाई लेखक	**इकाई संख्या**
डॉ0 अंजु पारीक लोक प्रशासन विभाग, एस0 जी0 पारीक पी0जी0 कालेज, जयपुर	1, 2, 3, 4
डॉ0 मनीषा माथुर, लोक प्रशासन विभाग, कनोरिया पी0 जी0 महिला महाविद्यालय, जयपुर, राजस्थान	5, 6, 7,8, 9, 10
डॉ0 गगन सिंह, वाणिज्य विभाग उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी	11, 12, 13

प्रकाशन वर्ष- 2022

कापीराइट @ उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय

प्रथम संस्करण- 2022

प्रकाशक निदेशालय- उत्तराखण्ड मुक्त विश्वविद्यालय, हल्द्वानी।

प्रकाशन से पूर्व की प्रति।

अनुक्रम

खण्ड- 1 वित्तीय प्रशासनः आधार और उद्देश्य	
1.वित्तीय प्रशासन की प्रकृति और कार्यक्षेत्र	1 – 11
2.वित्तीय प्रशासन के उद्देश्य और सिद्धान्त	12 – 27
3. मिश्रित अर्थव्यवस्था	28 – 43
4. केन्द्र राज्य वित्तीय संबंध	44 – 58
खण्ड- 2 बजट प्रक्रिया और बजट व्यवस्था-1	
5. राजकोषीय नीति, समता और सामाजिक न्याय	59 – 75
6. सरकारी बजट प्रक्रियाः सिद्धान्त और कार्य	76 – 86
7. भारतीय बजट व्यवस्था	87 – 101
खण्ड- 3 बजट प्रक्रिया और बजट व्यवस्था-1	
8. सरकारी व्यय का वर्गीकरण	102 – 109
9. सार्वजनिक व्यय सिद्धान्त एवं विकास	110 – 121
10. निष्पादन बजट प्रणाली, शून्य आधारित बजट प्रणाली	122 – 138
खण्ड- 4 साधन संगठन	
11. राजस्व के स्रोतः कर एवं करों के अतिरिक्त आय	139 – 159
12. घाटे का वित्तीयन	160 – 170
13. सार्वजनिक ऋण प्रबन्धन एवं भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका	171 – 191

ईकाई- 1 वित्तीय प्रशासन की प्रकृति तथा कार्यक्षेत्र

इकाई की संरचना

1.0 प्रस्तावना
1.1 उद्देश्य
1.2 वित्तीय प्रशासन: अर्थ
1.3 सार्वजनिक वित्त तथा व्यक्तिगत वित्त में अंतर
1.4 वित्तीय प्रशासन: महत्व
1.5 वित्तीय प्रशासन की प्रकृति
1.6 वित्तीय प्रशासन का कार्यक्षेत्र
1.7 वित्तीय प्रशासन के अवयव
1.8 सारांश
1.9 शब्दावली
1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1.0 प्रस्तावना

'वित्त' प्रशासन का आधार है। किसी भी प्रशासन की सफलता उचित वित्तीय व्यवस्था पर ही आश्रित है। सुव्यवस्थित वित्त अच्छे प्रशासन की नींव है शरीर में रक्त का जो महत्व है, वही वित्त का सरकार के कार्यों में है वित्त प्रत्येक संगठन के जीवन रक्त के सदृश है। किसी भी कार्यालय, उद्योग या उद्यम के क्रियान्वयन हेतु कर्मचारी वर्ग तथा पदार्थों की आवश्यकता पड़ती है जिसे केवल धन के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है। व्यवस्था के क्रियान्वयन की कुशलता तथा व्यवस्था की देखभाल वित्तीय व्यवस्था की प्रभावशीलता पर निर्भर करती है, क्योंकि प्रत्येक प्रशासनिक अधिनियम के वित्तीय परिणाम हो सकते है। वित्त और प्रशासन में अन्योन्यश्रित सम्बन्ध है। जैसा कि प्रो. एल. डी व्हाईट का मानना है कि ''प्रशासन और वित्त को एक दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता, वित्त प्रत्येक प्रशासनिक कार्य का आर्थिक पहलू होता है जो उससे वैसे ही अपृथक्करणीय होता है। जैसे मनुष्य और उसकी छाया।''

लोक प्रशासन के मुख्य पहलू के रूप में वित्तीय प्रशासन उतना ही प्राचीन है, जितना समस्त विश्व की संगठित सरकारें। अपने मौलिक रूप में यह मध्यकालीन युग तक कुछ सीमित कार्यों को ही सम्पादित करता था। पूर्व आधुनिक काल में इसका अस्तित्व कार्यपालिका के ऊपर विधायी नियंत्रण की सरंचना में ही सीमित था। औद्योगिक क्रान्ति के द्वारा स्वतंत्र सामाजिक-आर्थिक शक्तियों ने वित्त प्रशासन को नया अर्थ तथा गतिशीलता प्रदान की। बदलते हुए संदर्भ में नियोजित विकास तथा सामाजिक परिवर्तन की बदलती हुई आवश्यकताओं को पूरा करने की उम्मीद की गई।

1.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सार्वजनिक वित्त के अवयवों तथा उसके प्रशासन के बारे में जान पायेंगे।

- वित्तीय प्रशासन के विकास में विभिन्न स्तरों की व्याख्या कर पायेंगे।
- वित्तीय प्रशासन के बढते हुए कार्यक्षेत्र का वर्णन कर पायेंगे।
- वित्तीय प्रशासन के प्रभाव को समझ पायेंगे।

1.2 वित्तीय प्रशासन: अर्थ

'वित्तीय प्रशासन' दो शब्दों से मिलकर बना है, 'वित्त और प्रशासन' वित्त का शाब्दिक अर्थ है धन संसाधन और प्रशासन शब्द का तात्पर्य जागरूक उद्देश्य की खोज में सामूहिक मानव प्रयास का संगठन तथा प्रबन्ध। 'वित्तीय प्रशासन' शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया जाता है, इसमें वे सब प्रक्रियायें सम्मिलित की जाती हैं जिनका सम्बन्ध सार्वजनिक सेवाओं पर व्यय करने के लिए आवश्यक धनराशि एकत्र करने, उसे सुरक्षित रखने, खर्च करने और उनका उचित लेखा-जोखा रखने से रहता है। वित्त के बिना सरकार अपने उद्देश्य में पूर्णतः सफल नहीं हो सकती, चाहे यह कृषि विभाग, रेलवे, सड़क, यातायात, निगम, प्रारंभिक चिकित्सा केन्द्र, म्युनिसिपल बोर्ड हो या परिवार की दिन-प्रतिदिन की क्रियाएं। सभी धन की उपलब्धता पर ही निर्भर करती है प्रशासन के लिये वित्त की इतनी अधिक महत्ता होने के कारण वित्त के प्रशासन का अध्ययन भी अत्यन्त महत्वपूर्ण हो गया है। जो सरकार वित्तीय प्रशासन की एक संतोषजनक व्यवस्था का निर्माण कर लेती है वह अपने कार्यों का प्रबन्ध कुशलता के साथ करने की दिशा में काफी आगे बढ जाती है। इस प्रकार ''वित्तीय प्रशासन, जो कि एक जैसी व्यवस्था तथा रीतियों का निर्माण करता है जिनके द्वारा लोक सेवाओं के संचालन के लिए धन प्राप्त किया जाता है, व्यय किया जाता है और उसका लेखा रखा जाता है, आधुनिक सरकार का हृदय माना जाता है।''

डब्ल्यू. एफ. विलोबी के अनुसार, ''एक दक्ष शासन की समस्या में अन्तर्निहित विविध तत्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्वपूर्ण कोई दूसरा तत्व नहीं है।''

टास्क फोर्स हूवर कमीशन के शब्दों में, ''वित्त आधुनिक शासन के अन्तः स्थल तक पहुंच गया है।''

प्रो. गेस्टन गेज के अनुसार, ''वित्तीय प्रशासन सरकारी संगठन का वह भाग है जिसका सम्बन्ध सार्वजनिक कोषों के संग्रहण, संरक्षण तथा वितरण में सार्वजनिक आय व सार्वजनिक व्यय के समायोजनों से सार्वजनिक ऋणों के प्रबन्ध से और वित्तीय मामलों में सामान्य नियंत्रण से होता है।''

यद्यपि यह परिभाषा वित्तीय प्रबन्धन के कुछ महत्वपूर्ण पहलुओं को दर्शाती है, लेकिन वित्त प्रशासन के व्यापक कार्यक्षेत्र को दर्शाने में असफल रही है शायद इस सीमा का अनुभव करने के बाद जी. एस. लाल लिखते है कि, ''वित्त प्रशासन राज्य के वित्तीय प्रबन्ध के समस्त पहलुओं से सम्बन्धित है जबकि लोक प्रशासन लोक मामलों तथा लोकहित से अधिक सम्बद्ध है वित्त प्रशासन की सीमाएं बढ रही है, इसलिए वित्त प्रशासन की व्यापक परिभाषा की आवश्यकता है।''

संक्षेप में वित्त प्रशासन के अन्तर्गत राजकीय आय का संचय, संरक्षण और वितरण, आय तथा व्यय का समायोजन, राजकीय ऋणों की व्यवस्था, राज्य के वित्तीय मामलों का सामान्य नियंत्रण आदि का समावेश होता है ये राजनीतिक समुदाय के सदस्यों के विकास तथा जीवन के लिए आवश्यक होती है।

1.3 सार्वजनिक वित्त तथा व्यक्तिगत वित्त में अंतर

वित्तीय कार्य एक व्यापक प्रक्रिया है जो सार्वजनिक तथा निजी दोनों संगठनों में सामान्य रूप से पायी जाती है, लेकिन इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि जो सिद्धान्त या नियम निजी वित्त में लागू होते है वही सामान्य रूप से सार्वजनिक वित्त में भी लागू होगें। सार्वजनिक वित्त तथा निजी वित्त में अंतर इस प्रकार स्पष्ट प्रतीत होता है-

क्र.सं.	आधार	सार्वजनिक वित्त	व्यक्तिगत वित्त
1	उद्देश्य	सार्वजनिक वित्त का व्यापक एवं विस्तृत उद्देश्य होता है। इसका मुख्य उद्देश्य समाज का अधिकतम कल्याण करना होता है	व्यक्तिगत वित्त का उद्देश्य व्यक्ति या परिवार के हितों तक सीमित होता है इसका उपयोग पूर्णतया व्यक्तिगत एवं पारिवारिक हितों के लिए किया जाता है।
2	आय व्यय का समायोजन	इसमें व्यय की आवश्यकताओं के अनुरूप आय बढाने का प्रयास किया जाता है।	आय अनुमान के अनुरूप ही व्यय करने का प्रयास किया जाता है।
3	अवधि	इसमें आय-व्यय की एक निश्चित अवधि होती है। जैसे वार्षिक बजट (1 अप्रेल से 31 मार्च तक)	इसमें आयव्यय की कोई निश्चित अवधि - नहीं होती। व्यवहार में मासिक आय से व्यय का समायोजन करने का प्रयास किया जाता है।
4	आय प्राप्ति के साधन	सरकार के आय प्राप्ति के साधन व्यापक एवं विविध होते है जैसे कर -, चुंगी, ऋण, फीस, शुल्क आदि।	इसमें आय के निश्चित एवं सीमित स्रोत होते है जैसे व्यक्ति का वेतन -, मजदूरी, लाभ आदि।
5	गोपनीयता	आय-व्यय आंकडों का बजट के रूप में प्रतिवर्ष प्रकाशन एवं संसद में विचार-विमर्श होता है। इसमें गोपनीयता नहीं रहती।	व्यक्ति अपनी आय को अपने परिवार एवं स्वयं तक सीमित रखता है इसमें गोपनीयता रहती है।
6	घाटा व बचत	सामान्य तौर पर कल्याणकारी सरकार घाटे का बजट बनाकर जन-कल्याण, बिना करभार के करने का प्रयास करती है	व्यक्तिगत या पारिवारिक आय-व्यय ढांचे में बचत करना विवेकपूर्ण तथा दूरदर्शितापूर्ण माना जाता है एवं व्यक्ति इसके लिए प्रयासरत भी रहते है घाटे के बजट का कोई स्थान नहीं होता है
7	सुरक्षा व्यय	सार्वजनिक वित्त में देश के सुरक्षा व्यय का महत्वपूर्ण स्थान है।	निजी वित्त में सुरक्षा के नाम पर कोई व्यय नहीं होता है

1.4 वित्तीय प्रशासन: महत्व

अद्योगिक क्रान्ति के बाद तक वित्त प्रशासन की महत्ता को नहीं समझा गया था। अद्योगिक क्रान्ति के बाद जब सामाजिक जीवन बहुत जटिल हो गया तो सरकार की भूमिका अधिक व्यापक हो गयी। कल्याणकारी राज्य की संकल्पना ने राज्य के कार्यक्षेत्र में अधिकाधिक वृद्धि की। सरकार ने उन नए क्षेत्रों में प्रवेश किया जो राज्य के कार्यक्षेत्र से बाहर रखे गये थे। इस प्रकार बदलते हुए संदर्भ में वित्त प्रशासन ने बढते हुए सार्वजनिक व्यय को पूरा करने के लिए संसाधन की उत्पत्ति के नए तरीकों तथा साधनों को ढूंढने में अधिक महत्ता प्राप्त की। फैलिक्स ए. नीग्रो ने वित्तीय प्रशासन के महत्व को स्पष्ट करते हुए कहा था कि, ''वित्तीय प्रशासन आज अत्यन्त ही महत्व की वस्तु है, क्योंकि सरकारी सेवाओं पर व्यय की जाने वाली धनराशि में अत्यधिक वृद्धि हो गयी है। सरकार द्वारा किये जाने वाले प्रत्येक कार्य के लिए द्रव्य की आवश्यकता है और वह इतने अधिक कार्य करती है जिससे यह

अत्यन्त आवश्यक हो गया है कि वित्तीय प्रशासन के सम्बन्ध में ठीक सिद्धान्त तथा प्रविधियां प्रयोग में लायी जायें।'' यद्यपि दृढ वित्तीय व्यवस्था का शासन के लिए बहुत महत्व है। राजस्व, निर्धन नागरिक से भी प्राप्त किया जाता है, इसलिए सरकार का नैतिक कर्तव्य है कि वह उस धन को कुशलता तथा मितव्ययिता से व्यय करें। अकुशल वित्तीय प्रबंध के कारण शासन जनता पर अपना प्रभाव नहीं डाल पाता परिणामस्वरूप शासन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जाता है। प्रजातंत्र में ठोस वित्तीय व्यवस्था के पक्ष में निश्चित भावना होनी चाहिए। इसके अभाव में अपव्यय तथा अन्य बुरी बातों का दोष जनता प्रजातंत्र पर ही मढ देती है और परिणाम यह होता है कि जनता ऐसे प्रजातंत्र से ही घृणा करने लगती है। इस प्रकार का वित्तीय प्रशासन स्वयं प्रजातंत्र के भविष्य पर तुषारापात कर देता है।

विश्वव्यापी आर्थिक मंदी (1929-33) ने सरकारों की तटस्थ आर्थिक दृष्टिकोण की कमजोरी को उजागर कर दिया था। इसने आय तथा रोजगार एवं समानता तथा सामाजिक न्याय के स्थायित्व के मांग की भूख को और बढ़ा दिया था। केनेसियन परिप्रेक्ष्य पर आधारित राज्य ने राष्ट्रीय आय तथा रोजगार को बढाने में सक्रिय तथा सकारात्मक भूमिका निभायी। इसने एकता तथा समानता को बनाए रखने का कार्य भी संभाला। सरकार की राजकोषीय नीति लोगों के सामाजिक-आर्थिक जीवन को प्रभावित करने का शक्तिशाली हथियार बन गयी। रक्षा तथा प्रशासकीय व्यय अपनी गैर-उत्पादकता का लेबिल खो चुके थे तथा आय एवं रोजगार के स्तर को बढाने का नया उत्तरदायित्व सामने आ गया था। वित्त प्रशासन को राज्य के इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए प्रभावशाली नीतियों के निर्धारण की जिम्मेदारी सौंपी गई थी। इन्हें वित्तीय संसाधन को लोक उद्देश्यों में परिवर्तित करने के लिए कहा गया था तथा विभाजित न्याय द्वारा बहुत सी नीतियों में सुधार लाया गया। लोकतंत्र के लोकप्रिय सामाजिक संस्था के रूप में उदय के साथ लोक निधि पर संसदीय नियंत्रण की संकल्पना को सार्वभौमिक मान्यता मिली। ''बिना प्रतिनिधित्व के कर नहीं'' सिद्धान्त, जिसका अर्थ है, ''बिना संसदीय स्वीकृति के कोई सार्वजनिक व्यय नहीं।'' आधुनिक राजनीतिक समुदायों की अग्रणी नीति बन गयी। वित्तीय व्यवस्था को साधारण आदमी के समझने योग्य बनाने तथा व्यवस्थित वित्तीय प्रक्रिया विकसित करने की तुरन्त आवश्यकता महसूस की गई। इस प्रयत्न में आवश्यक कला की विशिष्टता का भी ध्यान रखा गया। वित्त प्रशासन 'लोकप्रिय सम्प्रभुता' को सामाजिक यथार्थ बनाने में आधुनिक सरकारों का हथियार बन गयी है। नियोजित विकास की संकल्पना ने विकास योजना तथा परियोजना के निर्धारण एवं कार्यान्वयन में लोक प्रशासकों को सक्रिय तथा गतिशील भूमिका निभाने का अधिकार दिया। इस परियोजना के क्रियान्वयन में समय तथा लागत अधिक महत्वपूर्ण हो गये। वित्त प्रशासन की संकल्पना निधि के आवण्टन पर नियंत्रण से, विभिन्न परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों में बदल गयी।

इस चुनौती का सामना करने हेतु निष्पादक बजट तथा दूसरें सम्बन्धित बजट में सुधार कर वित्त प्रशासन की सराहनीय उपलब्धियों को प्रदर्शित किया गया। करदाता अतिरिक्त बोझ को संभालने में असमर्थ है या कर देना नहीं चाहते है इस असंमजस की स्थिति में सार्वजनिक व्ययों को सावधानीपूर्वक वरीयता दिये जाने की आवश्यकता है संक्षेप में वित्त प्रशासन आधुनिक समय में महत्वपूर्ण भूमिका निभा रहा है।

1.5 वित्तीय प्रशासन की प्रकृति

वित्त प्रशासन की प्रकृति को दो भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से समझा जा सकता है- 1. परम्परागत दृष्टिकोण और 2. आधुनिक दृष्टिकोण।

1. **परम्परागत दृष्टिकोण-** इस दृष्टिकोण को मानने वालों का विचार है कि वित्तीय प्रशासन उत्पति, विनियोजन तथा वित्तीय संसाधनों की खोज से सम्पादित क्रियाओं का योग है जो लोक संगठनों को जीवित रखने तथा उनके विकास के लिए आवश्यक होता है। वे इस बात पर बल देते है कि किसी भी लोक प्रशासन में एक प्रशासनिक ढांचा होता है, जो धन के आदान-प्रदान को व्यवस्थित करने के साथ-

साथ इसे नियंत्रित और व्यवस्थित भी करता है इस व्यवस्था के कारण इन कोषों का सही और उत्पादक उपयोग हो पाता है। व्यवस्थाओं के परिप्रेक्ष्य में इस दृष्टिकोण पर नजर डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सहभागिता व्यवस्था का ही एक रूप है। लोक वित्तीय संगठनों को कुशल ढंग से चलाने के लिए वित्तीय सहायता देना वित्तीय प्रशासन का उत्तरदायित्व है। इसका कार्य है लोक संगठनों में समस्त वित्तीय क्रियाओं को नियोजित करना, कार्यक्रम बनाना, संगठन एवं निर्देश देना जिससे लोकनीति का उचित अनुपालन हो सके। इस व्यवस्था के भागीदारों को वित्तीय प्रबंधक समझा जाता है तथा वे वित्तीय प्रकृति के प्रबंधात्मक कार्यों को सम्पादित करते है यह दृष्टिकोण लोक वित्त के विशेषज्ञ सेलिगमैन के दृष्टिकोण को दर्शाता है। सार्वजनिक वित्त के शुद्ध सिद्धान्त की केन्द्रीय धारणा यह है कि सार्वजनिक वित्त को सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय एवं सार्वजनिक ऋण की समस्याओं को वस्तुनिष्ठ ढंग से सम्पादित करना एवं सत्तारूढ राजनैतिक दलों के दृष्टिकोण के सम्बन्ध में बताना चाहिए। वित्तीय प्रशासन के विशेषज्ञ प्रो. गेस्टन इस दृष्टिकोण को मानते है। वे मूल्य की तटस्थता में विश्वास रखते हैं। उदाहरण के लिए ''वित्तीय प्रशासन सरकारी संगठनों का वह भाग है जो लोक निधि का संग्रह, सुरक्षा तथा आवंटन को दर्शाता है तो उसके विचार में यही दृष्टिकोण दृष्टि गोचर प्रतीत होता है।''

2. **आधुनिक दृष्टिकोण-** आधुनिक दृष्टिकोण वित्तीय प्रशासन को सार्वजनिक निधि बढाने तथा व्यय करने के साधन के बजाय लोक संगठनों की सम्पूर्ण प्रबंधकीय प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मानता है। इसके अन्तर्गत लोक प्रशासन में सम्मिलित समस्त व्यक्तियों की समस्त क्रियाएं आती है। इसका कारण है कि लगभग प्रत्येक लोक अधिकारी निर्णय लेता है जिसका प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष परिणाम वित्तीय पहलू से भी सम्बद्ध होता है यह परम्परागत सिद्धान्त के मूल्य तटस्थता के दृष्टिकोण को नकारता है। इसमें सार्वजनिक वित्त के तीन महत्वपूर्ण सिद्धान्तों को शामिल किया गया, जैसे- सामाजिक आर्थिक सिद्धान्त, जिसके अग्रदूत वैगनर, एजवर्थ तथा पिगोड है। केनेसियन परिप्रेक्ष्य के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त तथा आधुनिक सार्वजनिक वित्त विशेषज्ञों के कार्यात्मक दृष्टिकोण। इनके दृष्टिकोण के अनुसार वित्त प्रशासन की निम्नांकित भूमिकाएं हैं-

   - समानता लाने वाली भूमिका- इस भूमिका के अन्तर्गत वित्त प्रशासन धन सम्बन्धी असमानताओं को दूर करने का प्रयास करता है। राजकोषीय नीतियों के द्वारा आय को सम्पन्न वर्ग से निर्धन को हस्तान्तरित करने का प्रयास करता है।
   - प्रकार्यात्मक भूमिका- सामान्य परिस्थितियों में अर्थव्यवस्था स्वयं कार्य नहीं कर सकती है इस भूमिका के अन्तर्गत, वित्त प्रशासन कराधान, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण के द्वारा अर्थव्यवस्था के उचित कार्यान्वयन का प्रयास करता है यह उच्च आर्थिक विकास तथा पूर्ण रोजगार बनाए रखने के लिए नीति उपकरणों को विकसित करता है।
   - कार्यात्मक भूमिका- इस भूमिका के अन्तर्गत वित्त प्रशासन उन नीतियों का अध्ययन करता है जो निवेश के तीव्र प्रवाह को आसान तथा तीव्रता से बढने और राष्ट्रीय आय के विस्तार को बढाने के लिए सही आवंटन करता है।
   - स्थायित्व सम्बन्धी भूमिका- इस भूमिका के अन्तर्गत वित्त प्रशासन का उद्देश्य है राजकोषीय तथा वित्त नीतियों द्वारा मूल्य स्तर एवं मुद्रास्फीति की प्रवृति में स्थायित्व को बनाए रखा जाए।
   - सहभागी भूमिका- इस दृष्टिकोण के अनुसार वित्त प्रशासन समुदाय के सामाजिक कल्याण को बढाने के उद्देश्य से राज्य को लोक तथा निजी उत्पादनकर्ता के रूप में लाने के लिए नीतियों का निर्धारण

तथा कार्यान्वयन करता है यह राज्य में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष भागीदारी द्वारा आर्थिक विकास को बढाने का प्रयास भी करता है

इस प्रकार वित्त प्रशासन साध्य तथा साधन के मामले में विकल्प का ढांचा प्रदान करता है जो राज्य की प्रकृति, चरित्र तथा इसके वैचारिक मूल्यों के आधार को दर्शाता है उदाहरण के लिए समाजवादी देशों में वित्त प्रशासन लोकतांत्रिक देशों से भिन्न होते है। इस प्रकार वित्त प्रशासन की आत्मा भी भिन्न-भिन्न सामाजिक आर्थिक परिस्थितियों में भिन्न-भिन्न होती है।

1.6 वित्तीय प्रशासन का कार्यक्षेत्र

वित्त प्रशासन उन क्रियाओं से निर्मित है, जिनका उद्देश्य सरकारी गतिविधियों को धन उपलब्ध कराना तथा इस धन का वैद्य तथा कुशल उपयोग सुनिश्चित बनाना है गेस्टन गेज की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सरकारी संगठन निम्नांकित चार पहलुओं को संभालते है। यहीं वित्त प्रशासन का निर्माण भी करते हैं।

1. लोक निधियों का संग्रह, रक्षा तथा आवंटन।
2. लोक राजस्वों तथा व्यय का समन्वय।
3. राज्य की तरफ से ऋण संचालन का प्रबन्ध।
4. सरकार के वित्तीय मामले का सामान्य नियंत्रण।

आधुनिक सरकारों में उपरोक्त समस्त पहलुओं को वित्त विभाग तथा इसके सहायक अभिकरण देखते है। यद्यपि वित्त विभाग को आधुनिक सरकार के केन्द्रीय वित्त अभिकरणों के रूप में देखा जाता है तथापि इसे वित्त प्रशासन से नहीं जोड़ा जा सकता है। इसकी भूमिका वित्त प्रशासन की अपेक्षा वित्त प्रबन्ध से सम्बन्धित होती है। वित्त प्रबन्धक के रूप में यह सरकार के आर्थिक निर्णय निर्धारण में सहयोग देने वाले उपकरणों तथा तकनीकों का विवेचन करता है। वास्तव में ये प्रक्रियाएं वित्त प्रशासन का आवश्यक अंग है। वित्त प्रशासन का कार्यक्षेत्र इन प्रक्रियाओं द्वारा सुझाए गए कार्यों से अधिक वृहद है। लोक प्रशासन के कुछ विशेषज्ञों का मानना है कि वित्त प्रशासन विधायी वित्त नियंत्रण में सन्निहित वित्त प्रक्रियाओं तथा संस्थाओं को दर्शाता है। उनका मानना है कि वित्त प्रशासन के कार्यक्षेत्र में अनुमानों की तैयारी, निधियों का विनियोजन, व्यय नियंत्रण, लेखांकन, लेखा परीक्षण, प्रतिवेदन, समीक्षा आदि सम्मिलित है। अतः लोकतांत्रिक संदर्भ में इस दृष्टिकोण को अधिक मान्यता मिल सकती है क्योंकि ये व्यवस्थापिका के प्रति कार्यपालिका के उत्तरदायित्व को बताता है। परन्तु आधुनिक लोकतंत्र के अनुभव से पता चलता है कि कार्यक्रम की वांछनीय मात्रा क्षेत्र तथा निर्देशन के निर्धारण तथा प्रशासकीय अभिकरणों के आवश्यकतानुसार वित्तीय संसाधनों से सम्बन्धित निर्णय में विधायी संलग्नता दिन-प्रतिदिन कम होती जा रही है। यह सर्वविदित तथ्य है कि कार्यपालिका पर प्रभावी नियंत्रण बनाए रखने के लिए व्यवस्थापिका के साधारण सदस्य के पास सारी सूचनाएं नहीं होती है। इस प्रकार इस दृष्टिकोण की अधिक उपयोगिता नहीं है। सरकार के वित्तीय पहलुओं पर विधायी नियंत्रण वित्त प्रशासन के कार्यक्षेत्र को पूरी तरह से नहीं दर्शाता है। दूसरा दृष्टिकोण वित्त प्रशासन के कार्यक्षेत्र को स्पष्ट करने के क्रम में बजट की अनिवार्यता पर बल देता है। उनके विचार में वित्त प्रशासन का कार्यक्षेत्र-बजट की तैयारी, बजट बनाना तथा बजट निष्पादन तक ही सीमित है। यद्यपि बजट वित्त प्रशासन का प्राण है फिर भी कुछ संचालन जो बजट की तैयारी के पहले किया जाता है वह भी बहुत महत्वपूर्ण है। नियोजन प्रक्रिया को वित्त प्रशासन के आवश्यक अंग के रूप में सम्मिलित करने की आवश्यकता है।

अन्तिम विश्लेषण में एक समन्वित दृष्टिकोण अपनाने की आवश्यकता है, जिससे कि उपर्युक्त सभी दृष्टिकोणों को लोक प्रशासन के कार्यक्षेत्र में सम्मिलित किया जा सके। इस प्रकार के दृष्टिकोण के परिणामस्वरूप वित्त प्रशासन के निम्नांकित पहलू घनिष्ठ क्षेत्र के रूप में उभरते हैं-

1. **वित्तीय नियोजन-** संकुचित अर्थ में बजट को नियोजन के रूप में समझा जा सकता है, क्योंकि इसका आधारभूत उद्देश्य है सरकार से उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए, नीतियों के निर्धारण तथा कार्यान्वयन को बढाना। लेकिन वृहद अर्थों में नियोजन सरकारी नीतियों के सम्पूर्ण क्षेत्रों से सम्बन्धित है। यह नीतियों में अर्न्तसम्बन्धों की अवधारणा तथा समय संरचना की मांग करता है। यह नीति को दीर्घकालीन आर्थिक परिणामों के संदर्भ में देखता है। अतः समन्वय, नियोजन तथा बजट बनाने की आवश्यकता है। नियोजन निष्पादक बजट पद्धति इस दिशा में एक प्रयास है। इस स्तर पर वित्त प्रशासन को वित्त के स्त्रोतों तथा रूपों, पूर्वानुमानित व्यय की आवश्यकताओं, वांछनीय निधि विस्तार, निदर्शन आदि को ध्यान में रखना चाहिये।
2. **बजट बनाना-** यह वित्त प्रशासन का एक मुख्य यंत्र है। बजट प्रणाली एक साधन है जिसके माध्यम से वित्त प्रशासन को विशेष रूप से अभिव्यक्ति प्रदान की जाती है। इसलिये एक अच्छे वित्त प्रशासन की प्रणाली की विशेषताओं के सम्बन्ध में जो कुछ कहा गया है वह समूचे रूप से बजट प्रणाली पर भी लागू होता है। वास्तव में किसी देश की अर्थव्यवस्था उसकी सरकार की बजटीय क्रियाओं से बहुत अधिक प्रभावित होती है। सरकारी बजट बनाना इन मुख्य प्रक्रियाओं में से एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा लोक साधनों का नियोजन किया जाता है तथा उन पर नियंत्रण किया जाता है। यह बजट के माध्यम से ही है कि सरकारी कार्यक्रमों को नागरिकों की सेवाओं में बढते क्रम से प्रस्तुत किया जाता है जिससे उनका भौतिक तथा नैतिक स्तर उच्च होता है। सरकार अपना कार्य बजट की सहायता से तथा बजट द्वारा निर्धारित सीमाओं के भीतर रह कर ही करती है। इसमें महत्वपूर्ण पहलुओं, जैसे- राजकोषीय नीति, समानता तथा सामाजिक न्याय जैसे महत्वपूर्ण मुद्दों का निर्धारण तथा परीक्षण किया जाता है। यह बजट व्यवस्था की शुद्धता से सम्बन्धित सिद्धान्तों एवं व्यवहारों का विवेचन करता है। इसका सम्बन्ध बजट की संचालित प्रक्रियाओं से भी है।
3. **बजट अधिनियम तथा कार्यान्वयन-** बजट की तैयारी के बाद अर्थात् वार्षिक राजस्व तथा व्यय के विषय में अनुमान लगाने के उपरान्त इसे कानूनी स्वीकृति प्राप्त करनी होती है। सर्वप्रथम बजट कार्यकारिणी द्वारा स्वीकार किया जाता है जो इसे विधानसभा के समक्ष प्रस्तुत करती है जिससे कि इसे कानूनी दस्तावेज बनाया जा सके। बजट तैयार करने तथा इसके प्रस्तुत करने में कार्यकारिणी का केन्द्रीभूत दायित्व विधानमण्डल द्वारा बजट को अधिकृत करने में सुगमता प्रदान करता है तथा इस कार्य के पुर्नावलोकन तथा नीति सम्बन्धी मनन पर ध्यान केन्द्रित करने के योग्य बनाता है। कार्यकारी सरकार द्वारा तैयार एवं प्रस्तुत किए गए बजट का विधानसभा द्वारा पुनर्निरीक्षण मुख्य अवसर तो प्रदान नहीं करता बल्कि यह एक अति महत्वपूर्ण अवसर होता है जब प्रशासनिक कृत्यों की विशेषता तथा गुणवत्ता का परीक्षण किया जा सकता है। बजट का कार्यान्वयन कार्यकारी सरकार का दायित्व है तथा इस प्रकार कार्यकारी सरकार में शक्तियों का विभाजन बजट के कार्यान्वयन की कार्यप्रणाली को निर्धारित करता है। यह कार्यकारिणी का उत्तरदायित्व है कि वह राजस्व/कर तथा बिना कर आय एकत्रित करने के लिए समुचित तंत्र तथा कार्यप्रणाली के नियमों का निर्माण करें।
4. **संसाधनों का संगठन-** करों का आरोपण, दरों तथा करों का संग्रह आदि को संसाधन संगठन करने के प्रयास से सम्बन्धित माना जाता है। सरकार की बढ़ती हुई वचनबद्धता के कारण बजट सम्बन्धी घाटा सरकारी वित्त की सामान्य विशेषता बन गयी है। इस संदर्भ में घाटे की वित्तीय व्यवस्था की महत्ता बढ गयी है लेकिन यदि घाटे की वित्तीय व्यवस्था का स्वतंत्र रूप में प्रयोग करें तो यह राष्ट्र की अर्थव्यवस्था के लिए खतरनाक समस्या सिद्ध हो सकती है तथा असंयत स्फीति का कारण बन सकती है। सरकार जिन दूसरी चुनौतियों का सामना कर रही है वह है कर की चोरी तथा समानान्तर अर्थ व्यवस्था का विकास।

अतः सार्वजनिक ऋण भी राज्य संसाधन का एक महत्वपूर्ण तत्व है। ऋण उगाही का उपयोग केवल पूंजीगत वित्तीय व्यवस्था के लिए ही करना चाहिए। इस प्रकार आधुनिक वित्तीय प्रशासकों को संसाधन जुटाने के प्रयास के समस्त आयामों से पूर्ण रूप से परिचित होना चाहिए।

5. **कर प्रशासन-** एक समय ऐसा था जब कराधान को एक बुराई समझा जाता था, किन्तु अब यह एक सामाजिक आवश्यकता है। राज्य की प्रकृति तथा गतिविधियों में परिवर्तन के कारण तथा कल्याणकारी राज्य की अवधारणा के उत्पन्न हो जाने के कारण, लोगों को सेवाएं उपलब्ध करवाने के लिए उनकी प्रतिदिन बढ रही मांगो की पूर्ति के लिए तथा आधुनिक राष्ट्र/राज्य की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु कराधान अपरिहार्य हो गया है। तथापि केवल कर लगाना ही यथेष्ट नहीं है वरन् वास्तविक बोझ तो इसके एकत्र करने पर पड़ता है। प्रत्येक समाज में कर चोरी तथा कर न देने की समस्या उत्पन्न हो सकती है। इसके अतिरिक्त अन्य समस्याएं भी उत्पन्न हो सकती है, जैसा कि कर नियमों में जटिलता, लोगों के सहयोग में कमी, आर्थिक-सामाजिक तथा राजनीतिक समस्याएं, कर अधिकारियों का दृष्टिकोण, कराधान प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता इत्यादि। इसके लिए प्रशिक्षित, दक्ष तथा ईमानदार पदाधिकारियों के एक विशाल कर प्रशासन तंत्र की आवश्यकता है। कर प्रशासन उस तंत्र के एक भाग के रूप में कार्य करता है जो कि राजस्व नीति तथा वार्षिक बजटों के कार्यान्वयन की दिशा में कार्य करता है।
6. **निवेश सम्बन्धी निर्णय-** पूंजीगत व्यय के वित्तीय तथा सामाजिक आर्थिक मूल्यांकन को परियोजना मूल्यांकन के नाम से जाना जाता है। सार्वजनिक क्षेत्र में भारी पूंजी लगायी जा रही है। अतः वित्तीय प्रशासकों को परियोजना मूल्यांकन की संकल्पना, तकनीक तथा पद्धति से पूरी तरह अवगत होना आवश्यक है।
7. **लोक लेखों का प्रतिपादन-** वित्तीय प्रशासन का एक महत्वपूर्ण पक्ष सरकारी लेखों को जारी रखना है। विभिन्न प्रकार के संगठन ऐसे है जो सरकारी वित्तीय क्रियाओं को जारी रखने में रूचि रखते है अर्थात् करदाता, विधानसभा तथा निदेशक अधिकारी। करदाता सरकार को उत्तरदायी ठहराने में रूचि रखता है। विधानसभा की आंशिक रूचि उत्तरदायित्व लागू करने में होती है तथा आंशिक रूचि भविष्य की नीति निर्माण के लिए सूचना एकत्रित करने में होती है। निदेशक अधिकारी, अधीक्षण तथा नियंत्रण की आवश्यकता से प्रभावित होते है। इन सब तथ्यों को दृष्टि में रखते हुए सरकार को लेखों की तैयारी करनी होती है तथा उनका प्रतिपादन करना होता है। लेखा विधि सरकारी एजेन्सियों की एक रोजमर्रा क्रिया है किन्तु यह अति महत्वपूर्ण है, जैसा कि संयुक्त राष्ट्र के प्रतिवेदन में कहा गया हैं कि सरकारी लेखे बजट बनाने तथा अपनाने की प्रक्रिया को सरल बनाने में सहायक होने चाहिये। उन्हें प्रोग्राम के नियोजन, प्रशासन तथा नियंत्रण का लाभप्रद उपकरण होना चाहिए तथा साथ ही सरकार के आर्थिक कार्यक्रम के निर्माण करने तथा मूल्यांकन करने के लिए आवश्यक सूचना को व्यक्त करना चाहिए।
8. **अंकेक्षण-** किसी भी वित्तीय प्रशासन का यह एक अभिन्न अंग है। लोक वित्त के संसदीय नियंत्रण का यह एक अपरिहार्य भाग है। यह लेखों के स्वतंत्र परीक्षण से सम्बन्धित है अथवा वित्तीय स्थिति के विवरण की सत्यता तथा किसी संगठन में सम्पूर्ण वित्तीय लेन-देन की जांच से सम्बन्धित है। चार्ल्स वर्थ के अनुसार, ''अंकेक्षण का अर्थ वह प्रक्रिया है, जिससे यह जानकारी प्राप्त की जाती है कि प्रशासन ने धन का उपयोग वैधानिक निर्देशों के अनुसार किया है, जिसके द्वारा धन विनियोजित किया गया था।'' अंकेक्षण के महत्व को निम्नलिखित शब्दों में विस्तृत रूप से कहा गया है- ''अंकेक्षण, न्यायपालिका, कार्यपालिका तथा विधानपालिका के समान लोकतंत्र का एक महत्वपूर्ण घटक है। इसका मूलभूत प्रयोजन इस बात को सुनिश्चित बनाना है कि सरकारी कोष का व्यय करते समय प्रत्येक प्रकार की वित्तीय परम्परा का पालन किया गया है नियम तथा उपबन्ध, जो कि व्यय से सम्बन्धित है उनका ध्यान रखा गया

है, व्यय उसी मद पर किया गया है जिसके लिए संसद ने इसका विनियोजन किया था। अंकेक्षण कार्यकारिणी तथा संसद के मध्य एक महत्वपूर्ण कडी उपलब्ध करता है तथा उसी सीमा तक क्रियाओं की व्याख्या करता है जहां तक कि पूर्वोक्त की निम्न पर वित्तीय वहन शक्ति होती है।'' अंकेक्षण की चार स्थितियां हैं-

- विनियोजित अंकेक्षण (Appropriation Audit)- सरकार लेखों से सम्बन्धित यह प्राथमिक तथा परम्परागत अंकेक्षण का कार्य है। इसका उद्देश्य इस बात की जानकारी प्राप्त करना है कि जो धन सरकार द्वारा व्यय किया गया है क्या वह उन्हीं सीमाओं के भीतर किया गया है जो संसद ने अनुदान करते समय निर्धारित की थी।
- नियामक अंकेक्षण (Regulatory Audit)- यह इस बात से सम्बन्धित है कि सम्पूर्ण नियमों तथा अधिनियमों का पालन किया गया है अथवा नहीं।
- मर्यादा अंकेक्षण (Propriety Audit)- इसे उच्चतर अंकेक्षण भी कहा जाता है। यह व्यय की औपचारिकता से आगे इसकी बुद्धिमता, निष्ठा तथा आर्थिकता का ध्यान रखता है।
- कुशल अंकेक्षण (efficient Audit)- इस प्रकार का अंकेक्षण हाल ही की उपज है तथा इसके महत्व तथा निहितार्थों पर अभी वाद-विवाद, विश्लेषण को परिभाषित किया जा रहा है।

उपर्युक्त वित्तीय प्रशासन के क्षेत्रों के अतिरिक्त एक अन्य महत्वपूर्ण विषय क्षेत्र है, संघ-राज्यीय वित्तीय सम्बन्ध। एक संघ में संघीय सरकार को ऐसे कार्य सौंपे जाते है जो कि सम्पूर्ण देश से सम्बन्धित होते है। प्रायः समस्त संघो में सुरक्षा, विदेशी मामले, संचार रेल विभाग आदि केन्द्रीय विषय होते हैं। वे समस्त कार्य, जो राज्य को प्रभावित करते है तथा वे कार्य जिनमें बड़े स्तर पर अन्तः राज्यीय समन्वय की आवश्यकता है, वे संघीय सरकार के पास होते है। प्रादेशिक अथवा राज्य सरकार को वही मामले सौंपे जाते हैं जो कि स्थानीय अथवा मूलभूत विशेषता के होते है। इसके साथ ही संघ सरकार तथा राज्यों के मध्य साधनों के विभाजन की व्यवस्था भी होनी चाहिए यद्यपि यह एक सरल कार्य नहीं है। राज्यों के कार्य कम होते है तथा कमोवेश स्थानीय प्रकृति के होते है तथापि राज्यों की संघ सरकार पर अधिक से अधिक साधनों के निर्धारण की मांग बढती ही रहती है। इस प्रकार किसी देश के वित्तीय प्रशासन में वित्तीय साधनों का विकास तथा केन्द्र एवं राज्यों में समन्वय एक जटिल क्षेत्र होता है।

1.7 वित्तीय प्रशासन के अवयव

सार्वजनिक वित्त के विशेषज्ञों ने वित्त प्रशासन के तीन अवयवों का उल्लेख किया है वे निम्न प्रकार से हैं- 1. सार्वजनिक राजस्व, 2. सार्वजनिक व्यय और 3. सार्वजनिक ऋण।

वित्त प्रशासन लोक वित्त से सम्बन्धित है तथा राज्य, वित्त के उपर्युक्त तथा कुशल प्रशासन के सिद्धान्तों एवं व्यवहारों को दर्शाता है, अतः वित्त प्रशासन के चिन्तकों ने वित्त प्रशासन के कार्यक्षेत्र में निम्न प्रशासकीय पहलुओं को भी सम्मिलित किया है - 1. मानव तत्व, 2. कार्य तथा संरचना तथा 3. व्यवस्था एवं कार्यविधि।

1. **मानव तत्व-** मानव तत्व में वे लोग शामिल होते हैं जिनकी संलग्नता योगदान, प्रलोभन या प्रेरणा द्वारा निर्धारित होती है। इसका तात्पर्य यह है कि व्यक्ति अपना धन या समर्थन तभी देना चाहता है जब उसे उम्मीद होती है कि उसके त्याग एवं सहयोग का उसे उचित इनाम मिलेगा। कोई भी सार्वजनिक संगठन इस समझ की उपेक्षा आसानी से नहीं कर सकता।
2. **कार्य तथा संरचना-** कार्य तथा सरंचना संगठनात्मक प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं। जैसे- विभागीय प्रक्रियाएं एवं एकीकृत क्रियाएं जिनके स्त्रोतों द्वारा संगठन को उपविभागों के पारस्परिक अर्न्तसम्बन्ध के लिए प्रावधान के साथ निर्माण किया जाता है।

3. **व्यवस्था एवं कार्यविधि-** व्यवस्था एवं कार्यविधि ऐसे उपकरण है जो कार्य तथा संरचना से व्यक्ति को जोड़ते हैं। ये तीनों तत्व संगठनात्मक परिणामों को उत्पन्न करने के लिए एक दूसरे के साथ सम्बन्ध स्थापित करते हैं।

प्रशासन के तत्वों पर कोई भी बहस तब तक पूरी नहीं होगी जब तक कि उस परिवेश की बात न करें जो तत्वों के सार, चरित्र तथा योग्यताओं को प्रभावित करते है। वित्त प्रशासन दो परिवेशों से घिरा हुआ है। प्रत्येक व्यक्ति ऊपरी व्यवस्था से परिचित होता है, जिसे सामाजिक आर्थिक तथा राजनैतिक परिवेश के रूप में जाना जाता है। इसी माहौल में वित्तीय प्रशासन कार्य करता है। एक मध्यवर्ती उपव्यवस्था है जिसके अन्तर्गत वित्त प्रशासन द्वारा अनुसरण किए गए उद्देश्य, वित्त प्रशासन की संस्कृति में प्रदर्शित नियम, मूल्य, विश्वास तथा व्यवहार एवं वित्त प्रशासन द्वारा उपयोग की गयी तकनीक की प्रकृति आदि आते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. वित्तीय प्रशासन किन दो शब्दों से मिलकर बना है?
2. ''एक दक्ष शासन की समस्या में अन्तर्निहित विधिक तत्वों में वित्तीय प्रशासन से अधिक महत्वपूर्ण कोई दूसरा तत्व नहीं है।'' यह कथन किसका है?
3. वित्त प्रशासन की प्रकृति के दो दृष्किोण बताईये।
4. सार्वजनिक वित्त के विशेषज्ञों ने वित्त प्रशासन के कितने अवयवों का उल्लेख किया है?

1.8 सारांश

सभी समाजों में लोक प्रशासकीय व्यवस्था की अपनी वित्तीय प्रशासकीय व्यवस्था है। वर्तमान समाज में वित्त प्रशासन मानव कल्याण के हित के लिए अनेक भूमिकाएं निभाता है। लोक वित्त तथा निजी वित्त में काफी समानता है लेकिन कुछ अन्तर भी है। अपने विकास के दौरान वित्त प्रशासन ने अपनी गतिशीलता सिद्ध कर दी है और समाजार्थिक मांगों की बदलती अपेक्षाओं के अनुसार अपने को बदला है। हाल ही में वित्त प्रशासन ने समाज के साध्य तथा साधनों के मामले में विकल्प प्रदान करने की भूमिका अपने हाथों में ले ली है। जैसा कि हम बता चुके है कि इसका कार्यक्षेत्र दिन-प्रतिदिन बढ रहा है। वर्तमान समाज में यह बहुत से गतिशील पहलुओं जैसे वित्तीय नियोजन, बजट, संसाधन को संगठित करना तथा इसमें निवेश करना, लोक व्यय नियंत्रण आदि से सम्बद्ध है। अतः वित्तीय प्रशासन कुशल तथा प्रवीण होना चाहिए और उसे इस प्रकार कार्य करना चाहिए कि जिससे धन का जरा भी अपव्यय न हो।

1.9 शब्दावली

घाटे की वित्तिय व्यवस्था- यह वित्त के स्त्रो तों को दर्शाता हैं। इसमें करेन्सी नोट छापकर या उद्यम के द्धारा आय की अपेक्षा व्यय की अधिकता जानबूझकर बढ़ायी जाती है।

राजकोषीय नीति- लोक नीति जिसमें कुछ सार्वजनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कराधान, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण का आरोपण किया जाता है।

विश्वव्यापी मंदी- विश्वव्यापी मंदी सन् 1929 में शुरू हुई तथा सन् 1935 तक बनी रही। उस समय की विशेष ता थी अर्थ में कमी, आम बेरोजगारी आदि।

निष्पादक बजट- इसे सामान्यतः कार्यों, कार्यरूपों, निष्पादन इकाई जैसी क्रियाओं, परियोजनाओं आदि के संदर्भ में सार्वजनिक व्ययों को प्रस्तुत करने की व्यवस्था के रूप में समझा जाता है जो मुख्य रूप से सरकारी उत्पाद तथा उसकी लागत को दर्शाता है।

नियोजन कार्यक्रम बजट व्यवस्था- यह कार्यक्रमों से उचित विकल्प का प्रयोग करके बजट में निधियों के उचित आवंटन की एक तकनीक है जो सीमित संसाधन के लिए प्रतिस्पर्धा रहती है यह असंख्य उपलब्ध विकल्पों में से सर्वक्षेष्ठ कार्यक्रम के चुनाव पर जोर देती है जिसे संसाधन की दी हुई मात्रा के अनुसार कार्यान्वित किया जाता है।
शून्य आधार बजट- यह एक संचालित, नियोजित तथा बजट प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक प्रबंधक को अपने सम्पूर्ण प्रस्तावित बजट का विस्तार से स्पष्टीकरण देना होता है। यह प्रत्येक प्रबन्धक से स्पष्टीकरण की मांग करता है कि कोई भी धन क्यों खर्च होना चाहिए। इसके माध्यम से इस तथ्य पर भी ध्यान दिया जाता है कि कार्य को और अच्छे रूप से कैसे सम्पादित किया जाए।

1.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. वित्त और प्रशासन, **2.** डब्लू0 एफ0 विलोबी, **3.** परम्परागत और आधुनिक दृष्टिकोण, **4.** 3 प्रकार के

1.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. बर्कहेड, जेसे, 1956 गवर्मेन्ट बजेटिंग, जॉन विली एण्ड सन्सः न्यूयार्क।
2. ग्रीब्स, हेराल्ड, एम. 1958 फाइनान्सिंग गवर्मेन्ट, फिफ्थ एडिशन, हेनरी कोल्ट एण्ड कम्पनीः न्यूयार्क।
3. लाल, जी. एस., 1976 पब्लिक फाइनान्स एण्ड फाइनान्सियल एडमिनिस्टे^{a}शन इन इन्डिया, कपूरः नई दिल्ली।
4. प्रेमचन्द ए, 1963, कन्ट्रोल ऑफ पब्लिक एक्सपेन्डिचर इन इन्डिया, एलाइड पब्लिशर्सः नई दिल्ली।
5. सुन्दरम् के.पी.एम., 1974. इन्डियन पब्लिक फाईनान्स एण्ड फाइनान्सियल एडमिनिस्टे^{a}शन, सल्तान चन्द एण्ड सन्स: नई दिल्ली।

1.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. लाल, जी. एस., 1976 पब्लिक फाइनान्स एण्ड फाइनान्सियल एडमिनिस्टे^{a}शन इन इन्डिया, कपूरः नई दिल्ली।
2. प्रेमचन्द ए, 1963, कन्ट्रोल ऑफ पब्लिक एक्सपेन्डिचर इन इन्डिया, एलाइड पब्लिशर्सः नई दिल्ली।
3. सुन्दरम् के.पी.एम., 1974. इन्डियन पब्लिक फाईनान्स एण्ड फाइनान्सियल एडमिनिस्टे^{a}शन, सल्तान चन्द एण्ड सन्स: नई दिल्ली।

1.13 निबन्धात्मक प्रश्न

1. वित्तीय प्रशासन के अर्थ की व्याख्या करते सार्वजनिक वित्त तथा निजि वित्त में अन्तर बताईये।
2. वित्तीय प्रशासन का अध्ययन वर्तमान समय में क्यों महत्वपूर्ण हो गया है?
3. वित्त प्रशासन के कार्यक्षेत्र के सम्बन्ध में परम्परागत दृष्टिकोण और व्यापक दृष्टिकोण की व्याख्या कीजिये।

इकाई- 2 वित्तीय प्रशासन के उद्देश्य और सिद्धान्त

इकाई की संरचना

2.0 प्रस्तावना
2.1 उद्देश्य
2.2 वित्त प्रशासन का इतिहास
2.3 वित्तीय प्रशासन: उद्देश्य
2.4 वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्त
2.5 भारत का वित्तीय प्रशासन
    2.5.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य
    2.5.2 नये उभरते रूझान
2.6 सारांश
2.7 शब्दावली
2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

2.0 प्रस्तावना

पिछली इकाई में आपने वित्त प्रशासन की प्रकृति एवं क्षेत्र के विषय में जाना। वित्त के बिना प्रशासन की अपनी कोई भूमिका नहीं हो सकती। 'वित्त' प्रशासन की धमनियों में रक्त की तरह है और वित्त के बिना प्रशासन का शरीर मृतप्राय ही है। वित्तीय प्रशासन के परम्परागत पक्ष को मानने वाले कहते हैं कि वित्तीय प्रशासन उत्पत्ति, विनियोजन तथा वित्तीय संसाधनों की खोज से सम्पादित क्रियाओं का योग है जो लोक संगठनों को जीवित रखने तथा उनके विकास के लिए आवश्यक होता है वे इस बात पर बल देते हैं कि किसी भी लोक प्रशासन में एक प्रशासनिक ढांचा होता है, जो धन के आदान-प्रदान को व्यवस्थित करने के साथ-साथ इसे नियंत्रित और व्यवस्थित भी करता है इस व्यवस्था के कारण इन कोषों का सही और उत्पादक उपयोग हो पाता है। आधुनिक पक्ष के समर्थक, वित्तीय प्रशासन को सार्वजनिक निधि बढाने तथा व्यय करने के साधन के बजाय लोक संगठनों की सम्पूर्ण प्रबंधकीय प्रक्रिया का एक आवश्यक अंग मानते हैं।

शासन या सरकार को अपने कार्यों के सम्पादन के लिए जितनी आवश्यकता प्रशासन की है, उससे कहीं अधिक आवश्यकता वित्त की है।

2.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- वित्त प्रशासन के इतिहास के संबंध में जान पायेंगे।
- वित्तीय प्रशासन के उद्देश्य और सिद्धान्तों की चर्चा कर पायेंगे।
- भारत में वित्तीय प्रशासन के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पायेंगे।

2.2 वित्त प्रशासन का इतिहास

प्राचीन भारत में चार शताब्दी ईसा पूर्व चाणक्य (कौटिल्य) ने सर्वप्रथम लोकोक्ति के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया था। कौटिल्य ने आय तथा व्यय का वर्गीकरण किया था। भूमिकर आय का मुख्य साधन था। कौटिल्य के अनुसार भूमिकर कुल उत्पादन का 1/6 से 1/10 तक रखा जाना चाहिये। प्राचीन भारतीय वित्त प्रशासन में 'घाटे के बजट' का कोई अस्तित्व नहीं था। ब्रिटिश पूर्व भारत में केवल 'मुहम्मद बिन तुगलक' ने 1330 ई. में घाटे की अर्थव्यवस्था को अपनाया था।

मुगलकाल में प्रत्यक्ष करों में भूराजस्व आयकर आदि सम्मिलित थे। अप्रत्यक्ष करों में सीमा शुल्क, बिक्री, चुंगी, आबकारी आदि सम्मिलित थे। गैर-कर आय मुस्लिम वित्तीय प्रशासन की महत्वपूर्ण विशेषता थी। राजस्व प्रशासन में आधारभूत ढांचे का निर्माण शेरशाह सूरी ने किया था। उसके दीवान राजा टोडरमल ने भूराजस्व को निर्धारित तथा एकत्रित करने की नियमावली का निर्माण किया था। यद्यपि मुगलों की भू-राजस्व पद्धति रैयतवाड़ी थी, तथापि मुगलों ने भू-राजस्व के लिए एक मध्यवर्ती सम्बन्ध पद्धति की भी व्यवस्था की थी, जिसको बाद में सन् 1793 में लार्ड कार्नबालिस ने स्थायी बन्दोबस्त में परिवर्तित किया।

1. **ईस्ट इण्डिया कम्पनी के अधीन वित्त-** कम्पनी के वित्तीय प्रशासन की शुरूआत सन् 1765 (बक्सर की लडाई) के पश्चात् हुई। भारत के वित्त पर कम्पनी का पूर्ण स्वामित्व था तथा भारत से प्राप्त धन कम्पनी की व्यापारिक आय मानी जाती थी। ब्रिटिश संसद अत्यधिक भ्रष्टाचार होने पर ही कम्पनी के प्रशासन में हस्तक्षेप करती थी तथा समय-समय पर सुधार अधिनियम पारित करती थी।

   गर्वनर जनरल की अधिकारिता केवल बंगाल तक होती थी। युद्ध के समय गवर्नर जनरल प्रान्तों के उपलब्ध धन का उपयोग कर सकता था अन्यथा प्रान्तीय वित्त पर प्रान्त के गवर्नर का स्वामित्व होता था। सन् 1833 के अधिनियम के द्वारा यह व्यापारिक कम्पनी एक प्रशासकीय तंत्र के रूप में परिवर्तित हो गयी तथा भारतीय वित्त का केन्द्रीकरण कर दिया गया। किसी भी प्रान्तीय सरकार का गवर्नर जनरल की पूर्व स्वीकृति के बिना किसी नये पद का सृजन करने अथवा नये वेतन, भत्ते देने की शक्ति नहीं थी। वित्त सचिव को सन् 1854 में भारत का महालेखाकार बनाया गया।

2. **ब्रिटिश शासन के अधीन वित्त प्रशासन-** राज्य सचिव (सेक्रेटरी ऑफ स्टेट-इन कौंसिल) वित्तीय पद्धति के मुख्य नियंत्रक थे। गवर्नर-जनरल-इन-कौंसिल केवल प्रदत्त वित्तीय अधिकारों का प्रयोग करते थे तथा वित्त विभाग भारतीय वित्त का संरक्षक होता था। मुख्य नियंत्रक के पास लेखा तथा लेखा परीक्षा का दोहरा उत्तरदायित्व था। अंग्रेजों ने भारत में वित्तीय पद्धति को ब्रिटिश वित्तीय पद्धति के अनुसार ढाला। सन् 1877 में लार्ड लिटन ने वित्तीय विकेन्द्रीकरण के सम्बन्ध में दूसरा महत्वपूर्ण कदम उठाया। भू-राजस्व, आबकारी, स्टाम्प, सामान्य प्रशासन, लेखन सामग्री, कानून तथा न्याय एवं कर राजस्व केन्द्र से प्रान्तों को हस्तान्तरित कर दिये गये।

   सन् 1882 में लार्ड रिपन ने आय तथा व्यय की तीन- शाही, विभाजित, प्रान्तीय श्रेणियां बनायी। शाही विकेन्द्रीकरण आयोग ने निम्न मुख्य सिफारिशें दी -

   - गवर्नर जनरल को प्रान्तों को दिये गये राजस्व में हस्तक्षेप नहीं करना चाहिए।
   - प्रान्तों की आवश्यकताओं के अनुसार ही राजस्व का बंटवारा करना चाहिए।
   - अवशिष्ट राजस्व के कुछ मुख्य शीर्षों में से राजस्व निश्चित अंश के रूप में केन्द्र द्वारा लिया जाना चाहिए। उपर्युक्त प्रस्तावों को सन् 1912 में भारत सरकार ने अपना लिया। इसके अनुसार राजस्व का वितरण प्रान्तों में राजस्व के स्थान पर प्रान्तों की आवश्यकताओं पर आधारित किया गया।

सन् 1919 के अधिनियम ने विकेन्द्रीकरण तथा उत्तरदायित्वो को दो भागों में विभक्त किया, जिसमें केन्द्र को 47 विषय तथा प्रान्तों को 52 विषय दिये गये जो विषय स्पष्ट न हो उस पर गवर्नर जनरल इन कौंसिल का निर्णय सर्वोपरि माना गया।

इस व्यवस्था से केन्द्र के वित्त में घाटा अपेक्षित था, जिसे लार्ड मैस्टन अधिनिर्णय के द्वारा पूरा करने की व्यवस्था की गयी। सन् 1936 में सर आटो निम्यर अधिनिर्णय द्वारा केन्द्र तथा प्रान्तों में वित्तीय स्त्रोतों का विभाजन किया गया। भारत सरकार के सन् 1935 के अधिनियम ने भारतीय वित्त प्रशासन के प्रजातंत्रीय मार्ग को प्रशस्त किया।

3. **स्वतंत्रता पश्चात वित्त प्रशासन-** स्वतंत्रता के पश्चात् वित्तीय क्षेत्र में सबसे पहली समस्या देशी रियासतों के वित्तीय एकीकरण की थी। इस समस्या के समाधान के लिए अक्टूबर 1948 को वी.टी. कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। 1 अप्रैल 1950 को सभी देशी रियासतों में वित्तीय एकीकरण की प्रक्रिया सम्पन्न हुई। जम्मू तथा कश्मीर के साथ एकीकरण 14 मई 1954 को हुआ। भारतीय संविधान में कर लगाने, उन्हें उगाने तथा उनसे एकत्रित धन को वितरित करने की उचित व्यवस्था की गयी है। सन् 1968-69 से परम्परागत या रूढिवादी बजट के स्थान पर निष्पादक बजट को भारत सरकार तथा अन्य बहुत से राज्यों ने अपनाया। स्वतंत्रता के पश्चात् सामाजिक आर्थिक लाभ और लागत विश्लेषण के आधार पर निर्णय लेने की व्यवस्था की गयी। वित्तीय सुधारों में एक महत्वपूर्ण कदम के तहत सन् 1976 में भारत सरकार के लेखांकन को लेखा परीक्षण से अलग कर दिया गया।

आधुनिक युग के आरंभिक चरण में बाजार की शक्तियों के निष्पक्ष क्रियाकलाप को सुनिश्चित करने में, सरकारों ने निर्णायक की भूमिका निभाई थी। सरकारों का एकमात्र उद्देश्य था- मूलभूत सामाजिक आर्थिक ढांचे तथा सुविधासम्पन्न हित समूहों की उन शत्रुतापूर्ण ताकतों से सुरक्षा करना जो कि भीतर और बाहर से व्यवस्था को खतरा पैदा कर रही हो। यहां अपने मूल लक्ष्य के रूप में वित्तीय प्रशासन द्वारा सार्वजनिक व्यय पर न्यूनतम ध्यान दिया गया। सरकार के सीमा क्षेत्र में विनियोजनकारी एवं जनकल्याणकारी कार्यो को शामिल किये जाने के साथ ही, वित्तीय प्रशासन की कार्यमूलक भूमिका को, स्त्रोत एकत्रित करने तथा उनके उत्पादन परिनियोजन की दृष्टि से सुस्पष्ट किया गया।

इसका उद्देश्य, सरकार के लक्ष्यों को अधिकतम संभव कार्यकुशल तथा न्यूनतम व्यय के साथ हासिल करना था। यह एक सर्वविदित तथ्य है कि राज्य के लक्ष्यों के बारे में कोई सार्वभौमिक समझौता मौजूद (विद्यमान) नहीं है। उदाहरण के रूप में हिटलर जैसी कोई निरंकुश सरकार बुनियादी मानव आवश्यकताओं पर 'सैन्य-बल' को वरीयता दे सकती है जबकि सामाजिक आर्थिक समता के लिए प्रतिबद्ध कोई कल्याणकारी राज्य, हथियारों की होड (प्रतिस्पर्द्धा) के मुकाबले अपने नागरिकों के जीवन स्तर को ऊंचा उठाने को वरीयता देने की कामना कर सकता है। इसलिये शायद कोई यह सोच सकता है कि कार्यकुशलता तथा मितव्ययिता के अलावा लक्ष्यों का कोई निश्चित विन्यास संभव नहीं हो सकता, जिसे वित्तीय प्रशासन का कोई विद्यार्थी दृष्टिगत कर सके। किन्तु यदि समूचे विश्व के सरकारों के अनुभवों को देखा जाये तो पूरे विश्व में वित्तीय प्रशासन द्वारा अपनाए गए कुछ सामान्य लक्ष्यों की दृष्टि से विचार करना संभव है। इस तरह का प्रयास शायद वित्तीय प्रशासन के किसी विद्यार्थी द्वारा समाधान के संदर्भ में लक्ष्यों का विन्यास प्रस्तुत करने में सहायक न भी हो, किन्तु लक्ष्यों को कैसा होना चाहिए, इस पर उस विद्यार्थी के स्वयं के विचार बनाने में, निश्चित रूप से सहायक होगा।

2.3 वित्तीय प्रशासन: उद्देश्य

वित्तीय प्रशासन शब्द वस्तुतः बहुत ही व्यापक है, जिसमें अनेक क्रियाएं सम्मिलित हैं। उदाहरण के तौर पर विकसित देशों में बाजार की रोनक ने वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र का विस्तार करने का मार्ग प्रशस्त किया है, जो कि

घाटे के बजट, असीमित सार्वजनिक कर्ज तथा घाटे की अर्थव्यवस्था के लक्षणों से पहचानी जाती है। इसी तरह, विकासशील देशों में जहां सरकार ने विकास के लिए सुसाध्यकर्ता (अच्छे कार्यकर्ता) की भूमिका को अपना लिया हैं, वहां राजकोषीय नीतियां तथा प्रशासन, स्थायित्व, विकास, आत्मनिर्भरता, आय तथा धन की व्यक्तियों के बीच असमानता को कम करने तथा संतुलित क्षेत्रीय विकास जैसे अनेक उद्देश्यों के विन्यास को प्रतिबिंबित करते हैं। महत्वपूर्ण बात यह है कि ये देश उसी तरह के कार्य-उपकरणों का भी प्रयोग करते हैं। हालांकि राज्य के मामलों के प्रबन्धन में, राजनैतिक विचारधाराओं अथवा आर्थिक सिद्धान्तों का निर्णायक महत्व होता है फिर भी वित्तीय प्रशासन के कुछ बुनियादी उद्देश्य है जो राजनैतिक आर्थिक आवश्यकताओं से ऊपर रहते हैं। ये निम्नांकित हैं-

1. **घरेलू सार्वजनिक वित्त का प्रबंधन-** व्यक्ति के घरेलू मामलों की ही तरह, सार्वजनिक प्राधिकारी भी मानवीय आवश्यकताओं को संतोषप्रद ढंग से पूरा करने के लिए चिन्तित रहते हैं। उनकी प्रमुख समस्या है कि किस प्रकार निर्धारित उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु सीमित साधनों का श्रेष्ठतम उपयोग सुनिश्चित किया जाए। इसलिए वे वित्तीय प्रबंधक स्त्रोतों के इकट्ठा किये जाने तथा जनता की बढती आंकाक्षाओं के अनुरूप उनके तर्कसंगत परिनियोजन पर अपना ध्यान केन्द्रित करते हैं।
2. **परियोजनाओं तथा कार्यक्रमों का क्रियान्वयन-** वित्तीय प्रशासन में स्वागत योग्य घटना विकास, परियोजना निर्माण, मूल्य निर्धारण तथा क्रियान्वयन के माध्यम से अनुकूलतम सार्वजनिक निवेश सम्बन्धी निर्णयों को सुनिश्चित करने से सम्बन्ध रखता है। केन्द्र बिन्दु व्यय को नियंत्रित करने से बदलकर, निर्धारित समय सीमा तथा व्यय की उच्चतम सीमा के भीतर परियोजनाओं को क्रियान्वित करने पर केन्द्रित हो गया है।
3. **सार्वजनिक मामलों तथा सामाजिक सेवाओं का प्रावधान-** चूंकि सार्वजनिक मामलों तथा सामाजिक सेवाओं से मिलने वाले लाभ सभी को समान रूप से उपलब्ध रहते हैं और इनके लिए सार्वजनिक खजाने में किसी के व्यक्तिगत योगदान का भेदभाव नहीं कया जाता अतः इन मामलों की आपूर्ति के लिए कोई भी व्यक्ति भुगतान करने को प्रभावित नहीं करेगा। सार्वजनिक उद्यान जैसे सार्वजनिक स्थानों तथा लोक स्वास्थ्य सफाई जैसी सामाजिक सेवाएं निजी क्षेत्र के लिए नहीं छोड़ी जा सकती है जो कि जनता की सेवा के बजाय मुनाफा कमाने से ही अनुप्रेरित रहता है। अतः इन सेवाओं के लिए बजटीय सहायता, राजकोषीय नीति निर्धारकों के लिए एक चिन्ता का विषय बन जाती है।
4. **प्रगति, रोजगार तथा मूल्य स्थायित्व-** आधुनिक, सरकारों से यह अपेक्षा की जाती है कि वे सामाजिक रूप से वांछित आर्थिक प्रगति दर, उच्च रोजगार, मूल्यों के स्थायित्व के समुचित स्तर तथा एक सकारात्मक भुगतान संतुलन की स्थिति प्राप्त करने पर ध्यान केन्द्रित करे। इन उद्देश्यों की प्राप्ति स्वचालित ढंग से ही नहीं हो जाती वरन् इसके लिए सार्वजनिक पदाधिकारियों द्वारा नीतिगत पहल करना जरूरी होता है।
5. **पूंजी निर्माण-** किसी राष्ट्र की आर्थिक प्रगति, काफी सीमा तक बढती हुई बचत द्वारा पूंजी निर्माण पर निर्भर करती है। राज्य की उत्पीड़न करने की शक्ति कितनी ही अधिक क्यों न हो, वह इस उद्देश्य को हासिल नहीं कर सकती। इस उद्देश्य को प्राप्त करने हेतु, विवेकपूर्ण करारोपण तथा आर्थिक नीति यंत्रों जैसे प्राप्त वित्तीय एवं राजकोषीय उपाय करने होगें।
6. **कोषों का उत्पादक परियोजन-** अविकसित देशों की एक प्रमुख समस्या है, निवेशकारी कोषों को प्रतिस्पर्धापूर्ण परियोजनाओं एवं कार्यक्रमों के बीच आवंटन करना। उद्यमियों द्वारा राष्ट्रीय हितों के लिए आवश्यक निवेशों की बजाय 'खतरा-रहित' एवं 'तुरन्त फल देने वाले' निवेशों को वरीयता दी जा सकती है। निवेशकारी कोषों के वांछित मदों में प्रवाह को सुनिश्चित करने के लिए, योजना-आयोग सार्वजनिक तथा साथ ही साथ निजी क्षेत्र के लिए विभिन्न प्रकार के निवेशों से सम्बन्धित प्राथमिकताओं के बारे में

दिशा-निर्देश तय करता है। वित्त मंत्रालय सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र, दोनों ही में राष्ट्रीय प्राथमिकताओं पर कायम रहने को सुनिश्चित करने का कार्य करता है।

7. **संसदीय प्रक्रिया के सहज प्रवाह में सहायता-** सम्पूर्ण विश्व में प्रतिनिधिपूर्ण सरकारों का मूल सिद्धान्त, प्रतिनिधि संस्थाओं की सर्वोच्चता तथा सरकार की कार्यपालक शाखा पर उनका नियंत्रण है। इसका सबसे अधिक महत्वपूर्ण आयाम है- सार्वजनिक कोषों के इस्तेमाल पर विधानमण्डल का नियंत्रण। वित्तीय प्रशासन अपनी बजट प्रक्रिया तथा लेखापरीक्षा कार्यों के माध्यम से कार्यपालिका पर विधानमंडलीय इकाई की श्रेष्ठता को संभव एवं सुनिश्चित करता है।
8. **समता तथा समानता की प्राप्ति-** आय तथा सम्पदा का वितरण, उत्पादन के कारकों तथा मूल्य कारक के बाजार क्रियाविधि के द्वारा, वितरण किए जाने पर निर्भर करता है। यह उत्तराधिकार तथा साथ ही व्यक्तिगत धन की क्षमता के द्वारा सम्पत्ति के अधिकारों के प्रसारण पर भी निर्भर करता है। इस तरह का वितरण, समाज द्वारा मानी जाने वाली 'निष्पक्ष' या 'न्यायपूर्ण' वितरण व्यवस्था के अनुरूप शायद न भी रहे। हालांकि समता की प्राप्ति, वर्गीय टकरावों तथा बड़े स्तर पर हिंसा का अवसर प्रदान किये बिना ही एक विकास प्रक्रिया के माध्यम से की जानी चाहिए। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण में एक प्रगतिशील कटौती की जानी चाहिए। साथ ही प्रत्येक व्यक्ति को प्रत्येक क्षेत्र में समान अवसर देकर ही नई असमानताओं को फैलने से रोका जा सकता है। प्रगतिशील करारोपण, अनुदानों, आर्थिक राहतों आदि जैसी अपनी राजकोषीय नीतियों के द्वारा वित्तीय प्रशासन सम्पदा एवं अवसरों में उच्चतर समता कायम करने का वातावरण उत्पन्न कर सकता है। इसके अतिरिक्त पिफनर द्वारा बताये गये वित्तीय प्रशासन के प्रमुख उद्देश्य इस प्रकार हैं-
    - बजट तैयार करना अर्थात सरकार के आय व्यय का अनुमान लगाना।
    - बजट के लिए व्यवस्थापिका की अनुमति प्राप्त करना।
    - बजट अर्थात् आय-व्यय सम्बन्धी क्रियाओं को क्रियान्वित करना।
    - वित्त का राजकोष द्वारा प्रबन्ध अर्थात बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के संबंध में संशोधन के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करना।
    - विधायी उत्तरदायित्व अर्थात् बजट सम्बन्धी समस्त प्रक्रियाओं के सम्बन्ध में संसद के प्रति उत्तरदायित्व का निर्वाह करना।

संक्षेप में वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत राजकीय आय का संचय, संरक्षण और वितरण, आय तथा व्यय का समायोजन, राजकीय ऋणों की व्यवस्था, राज्य के वित्तीय मामलों का सामान्य नियंत्रण आदि का समावेश होता है। इन उद्देश्यों का प्रभाव, वांछित दिशा में सामाजिक आर्थिक रूपान्तरण लाए जाने के लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण है।

2.4 वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्त

20वीं शताब्दी के आरम्भ में एडम स्मिथ जैसे विद्वान, वित्तीय प्रशासन को वित्त विज्ञान का एक अवयव मानते थे। कुछ समकालीन लेखकों के अनुसार वित्तीय प्रशासन एक राजकोषीय विज्ञान है। चूंकि राजकोष सरकारी तंत्र (व्यवस्था) का एक हिस्सा होता है, अतः वित्तीय प्रशासन राज्य की प्रकृति, चरित्र तथा संभावनाओं को प्रतिबिम्बित करता है। यही नहीं, वित्तीय प्रशासन वास्तविक समस्याओं से सम्बन्ध रखता है और इसलिए, इसके उद्देश्य तथा साधन अर्थव्यवस्था की प्रकार पर निर्भर करते है। इस सांस्कृतिक विशिष्टता के कारण इस दावे को स्वीकार करना बहुत कठिन है कि वित्तीय प्रशासन एक विज्ञान है और इसी अहसास के परिणामस्वरूप यह जानना जरूरी है कि किसी निश्चित समय में किसी देश के लिये वित्तीय प्रशासन के तरीके, राष्ट्रीय नीति के लक्ष्यों तथा

विद्यमान सामाजिक-आर्थिक एवं राजनैतिक वास्तविकताओं पर निर्भर रहते हैं। इन सीमाओं के कारण ही हिक्स जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने लोक वित्त को एक कला के रूप में मान्यता दी। इन परिस्थितियों में वित्तीय प्रशासन के सिद्धान्तों की दृष्टि से विचार करना कठिन हो गया। हालांकि, यदि वित्तीय प्रशासन की उत्पति तथा इसके प्रशासनिक रूपरेखा पर, व्यापक राष्ट्रीय तथा अनुप्रस्थ सांस्कृतिक पृष्ठभूमि के द्वारा अध्ययन किया जाये तो प्रयोजनात्मक अवधारणाओं के रूप में कुछ आम दिशा-निर्देशों को प्राप्त करना संभव है। इसी संदर्भ में कुछ महत्वपूर्ण वित्तीय सिद्धान्तों को निम्नांकित रूप में सूचीबद्ध किया जा सकता है-

1. **जनहित, जनता की पसंद एवं लोकनीति की प्राथमिकता का सिद्धान्त-** प्रो. एडम ने अपनी कृति 'वित्त विज्ञान' में कहा है कि वित्त विज्ञान राज्य की आवश्यकताओं तथा उनकी आपूर्ति के साधनों को तय करता है, अतः राजकोषीय नीति को राज्य की सम्पत्ति को क्षति नहीं पहुंचानी चाहिए। उन्होंने इस कथन की राजकोषीय नीति एवं प्रशासन का एक महत्वपूर्ण स्वयंसिद्ध तथ्य माना है। उनके अनुसार 'राज्य की सम्पत्ति उदीयमान निजी उद्योग के तहत ही निर्मित होती है।' किन्तु राज्य की सम्पत्ति की इस अवधारणा में भारी फेरबदल हुए और वर्तमान में जनहित ही है जिसे राज्य की गतिविधि की स्थली तथा साथ ही साथ उसका केन्द्र बिन्दु माना जा सकता है। जनहित की परिभाषा विभिन्न तरीकों से की जा सकती है। जैसे- सामान्य कल्याण, समकालीन एवं अनुवर्ती पीढियों का आम जीवन स्तर, सामाजिक मूल्यों का सामूहिक अहसास, अधिकार एवं सुविधाएं आदि। राजकोषीय नीति व प्रशासन के लिए उन गतिविधियों पर ध्यान केन्द्रित करना अनिवार्य है जो लोकनीतियों में अभिव्यक्त हुए जनहित तथा जनसंतोष को पूरा करने में, एक निश्चित एवं न्यायसंगत योगदान करती है। यह अहसास करना अत्यन्त आवश्यक है कि राजकोषीय नीति से, लोकनीतियों में परिभाषित किए गए आम उद्देश्यों को ही प्राप्त करने में सहायता देने की अपेक्षा की जाती है। जनता की पसंद के बारे में स्पष्टता होनी चाहिए। कुछ लोगों ने जनता की पसंद को गलत ढंग से पहचान करते हुए इसे अधिकतम संख्या अथवा निजी तथा सामूहिक के हितों का समुच्चय माना है। जनता की पंसद वह है जो आम जीवन को समेटकर चलती है तथा जिसका सभी के द्वारा साझा किया जाता है।
2. **राजनैतिक दिशा एवं नियंत्रण का सिद्धान्त-** प्रत्येक समाज का एक राजनैतिक-वैधानिक ढांचा होता है जो सार्वजनिक तथा निजी सभी प्रकार की मानवीय गतिविधि को नियंत्रित करता है। यह ढांचा, सम्बद्ध देश के मूलभूत कानूनों तथा उन विद्यमान रीतियों, रिवाजों व परम्पराओं में स्थापित रहता है, जिनके द्वारा राजनैतिक सिद्धान्तों एवं विचारों को अभिव्यक्ति मिलती है। लोक प्रशासन की एक उपव्यवस्था के तौर पर (रूप में), वित्तीय प्रशासन को समाज की संवैधानिक प्रक्रिया के जरिए (द्वारा) अभिव्यक्त हुए इन राजनैतिक विचारों एवं सिद्धान्तों के अनुरूप होना चाहिए। पुनः उस विशेष समाज के राजनैतिक ढांचे के साथ अपना सामंजस्य कायम करना चाहिए, जिससे वह सम्बद्ध हो। आधुनिक युग में, जनतांत्रिक विचारों एवं सिद्धान्तों ने पूर्वकालीन सम्पूर्ण ढांचो तथा सिद्धान्तों का स्थान ग्रहण कर लिया है। इसलिये, वित्तीय प्रशासन की प्रणाली का गठन एवं संचालन इस तरीके से किया जाना चाहिए जिससे विधानमण्डल द्वारा, विनियोजन अधिनियम वित्त अधिनियम तथा सार्वजनिक एवं वित्तीय दोनों तरह के अन्य नीतिगत प्रावधानों के द्वारा, अभिव्यक्त हुई इच्छा का अनुपालन सुनिश्चित किया जा सके। कार्यपालक सरकार के वित्तीय प्रशासन पर अपने नियंत्रण को सुनिश्चित करने हेतु, विधान मण्डल, एक स्वतंत्र लेखा परीक्षा के माध्यम से, वित्तीय कार्यों की समीक्षा करता है।
3. **अनुरूपता का सिद्धान्त-** इस सिद्धान्त का तात्पर्य यह है कि वित्तीय प्रशासन के उद्देश्यों एवं कार्यों तथा इन उद्देश्यों को हासिल करने के लिए आवश्यक मानव एवं भौतिक संसाधनों के बीच एक अनौपचारिक रिश्ता होना चाहिए। अर्थात् कार्यों की किस्में उन्हें संभालने के लिए आवश्यक कार्मिकों तथा इस उद्देश्य

के लिए जरूरी भौतिक सुविधाओं के बीच एक तर्कसंगत आपसी अंतर्सम्बन्ध रहना चाहिए। इस सिद्धान्त का सारतत्व यह है कि उद्देश्यों तथा कार्यों को कार्मिकों की भर्ती तथा वित्तीय संगठन को समृद्ध करने का आधार प्रदान करना चाहिए।

4. **प्रभावशाली नियंत्रण-** यह आवश्यक है कि वित्त की प्रत्येक अवस्था पर कठोर नियंत्रण रहे। यह नियंत्रण कार्यपालिका और व्यवस्थापिका दोनों की ही ओर से होना चाहिए। यह उचित है कि नियंत्रण यथासंभव सरल हो।
5. **संगठन एवं प्रबन्धन की एकता का सिद्धान्त-** पी.जे.जे. पिन्टो, जो वित्तीय प्रशासन के विषय पर एक सुप्रसिद्ध भारतीय हैं, ने इस सिद्धान्त को महत्व प्रदान किया। उन्होंने केन्द्रीकरण को कार्यकुशलता से जोडा। इसकी व्याख्या करते हुए उन्होंने स्पष्ट किया कि इसे सर्वोच्च नौकरशाही द्वारा प्रत्येक मामूली मुद्दे के केन्द्रीयकरण के अर्थों में नहीं समझा जाना चाहिए। उनके अनुसार इसके मायने यह है कि विभिन्न वित्तीय तथा गैर-वित्तीय निकायों के कार्यों के बीच समन्वय रहे और सरकार के शीर्षस्थ अधिकारियों द्वारा इसका उच्चतम मूल्यांकन किया जाए।

   इस कथन का मतलब केन्द्रीकृत निर्णय प्रक्रिया तथा विकेन्द्रीकृत क्रियान्वयन नहीं है। विकासशील देशों के अनुभव ने केन्द्रीकृत निर्णय प्रक्रिया की अपर्याप्तता को उजागर कर दिया है। अब समय की मांग है कि केन्द्रीकृत दिशा निर्देशन हो तथा विकेन्द्रीकृत निर्णय प्रक्रिया एवं निर्णय क्रियान्वयन किया जाए। प्रशासनिक वित्तीय नियंत्रण की अवधारणा ने परिणामों के प्रबंधन की अवधारणा का मार्ग प्रशस्त किया है। इस परिवर्तित पृष्ठभूमि में, इस सिद्धान्त को, केन्द्रीकृत मार्गदर्शन, जिसके द्वारा अधिकतम उत्पादन तथा साथ ही अधिकतम उपयोगिता को सुनिश्चित करने की दृष्टि से, विकेन्द्रीकृत निर्णय-प्रक्रिया को सुलभ बनाया जा सके, के अर्थों में समझा जाना चाहिए। राष्ट्रीय योजना की अवधारणा एक अच्छा उदाहरण है।
6. **व्यवस्थापिका की इच्छानुसार कार्य निर्वहन-** वित्त मामलों में व्यवस्थापिका की इच्छानुसार काम किया जाना चाहिए, क्योंकि वही जन-इच्छा की प्रतिनिधि होती है अर्थात् व्यवस्थापिका देश की जनता की इच्छाओं, भावनाओं, अपेक्षाओं और आंकाक्षाओं की प्रतीक होती है। अतः कार्यपालिका का यह कर्तव्य है कि वह व्यवस्थापिका द्वारा निर्धारित वित्त की प्राप्ति और व्यय की योजना बनाए। आज की बजट प्रणाली इसी सिद्धान्त का अनुपालन करती है।
7. **स्थायित्व एवं संतुलन का सिद्धान्त-** तकनीकी दक्षता, वित्तीय प्रशासन का प्रमुख लक्षण है और इसलिए अकुशल तथा गैर-प्रशिक्षित कार्मिकों द्वारा इसका संचालन नहीं किया जा सकता। इस लक्ष्य से गंभीर समस्याएं सामने आ जाती है और तब जबकि विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित कार्मिकों का अभाव हो। इसलिए, यह सिद्धान्त वित्तीय संगठनों से, प्रभावोत्पादकता व कार्यकुशलता पर गंभीर प्रभाव पडे बिना विशिष्ट रूप से प्रशिक्षित कार्मिकों की क्षति-पूर्ति करने की क्षमता विकसित करने की मांग करता है। इस उद्देश्य से मानव संसाधनो के विकास के एक श्रेष्ठ कार्यक्रम सहित प्रभावी जन-शक्ति नियोजन की आवश्यकता है।
8. **सरलता एवं लचीलेपन का सिद्धान्त-** किसी भी प्रजातांत्रिक युग में, मतदाता समूची सत्ता के स्त्रोत की तरह कार्य करते हैं। संसद सहित अन्य सभी प्रजातांत्रिक संस्थाएं, मतदाताओं से ही अपना प्राधिकार ग्रहण करती हैं। इसलिए यह अत्यन्त आवश्यक हैं कि वित्तीय-प्रणाली तथा इसके निर्माताओं को इस प्रकार से सरल होना चाहिए (जिससे) जो कि वे साधारण लोगों की समाज में आ सके। पीजेजे पिण्टों के अनुसार, यदि इस सिद्धान्त को विधिवत लागू किया जाय जो इससे लागत में कमी लाई जा सकती है। लचीलेपन के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि वित्तीय संगठन को, काम के प्रवाह, मानव संरचना तथा

भौतिक सुविधाओं के उतार-चढाव के साथ स्वयं का सामंजस्य बैठाने की क्षमता विकसित करनी चाहिए।

9. **आचार, अनुशासन एवं नियमितता का सिद्धान्त-** आचार के सिद्धान्त का अभिप्राय यह है कि सार्वजनिक वित्तीय संगठन के अधिकारियों को सदाचार का व्यवहार करना चाहिये और जनता के सामने उच्च आचार स्तर तथा काम के तरीके की छवि प्रस्तुत करनी चाहिए। जैसे आयकर अधिकारी स्वयं सदाचार का उदाहरण प्रस्तुत करके, कर चोरी रोकने में काफी प्रभावी हो सकते है। अनुशासन के सिद्धान्त से तात्पर्य यह है कि सार्वजनिक वित्तीय संगठन में कार्यरत, प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उद्देश्यों, नियम-कानूनों, नीतियों, प्रक्रियाओं तथा कार्यक्रमों की अनुपालना की जानी चाहिये। दृढ वित्तीय अनुशासन के बिना कोई भी संगठन प्रभावी ढंग से कार्य नहीं कर सकता। कार्यरत प्रशासकों को, ऐसे थोपे गए अनुशासन की आदत पड गई है जिससे वांछित परिणाम नहीं प्राप्त हो सकते। इसके लिए स्वयंसेवी अथवा स्वयं अनुशासन की आवश्यकता है। नियमितता का सिद्धान्त से अभिप्राय यह है कि वित्तीय संगठन सहित कोई भी सार्वजनिक संगठन मध्यांतरों के साथ रूक-रूक कर संचालित होने से गुजारा नहीं चला सकता। अतः यह ध्यान में रखा जाना चाहिए कि प्रशासनिक कार्यभार एक निरंतर प्रक्रिया है।
10. **सार्वजनिक ट्रस्ट एवं जवाबदेही का सिद्धान्त-** वित्तीय प्रशासन द्वारा सार्वजनिक ट्रस्ट के रूप में जनता के धन की वसूली एवं वितरण किया जाता है, किन्तु यह काफी कठिन होता है और निजी हित के लिए इन कोषों का दुरूपयोग किये जाने की संभावना रहती है। इसीलिये वित्तीय प्रशासन को राजनैतिक वैधानिक प्रशासनिक, सांगठनिक, व्यावसायिक नैतिक तथा आंकाक्षागत आदि जैसे अनेक स्तरों पर, कोषों के समुचित उपयोग के लिए सार्वजनिक रूप से उत्तरदायी बनाना होगा।

2.5 भारत का वित्तीय प्रशासन

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य तथा उभरते रूझानों के आधार पर भारत में वित्तीय प्रशासन की प्रणाली का वर्णन इस प्रकार हैं -

2.5.1 ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य

एक प्रचलन के रूप में, वित्तीय प्रशासन भारत के लिए कोई नई बात नहीं है। रामायण में संतुलित बजट तैयार करने के बारे में उल्लेख मिलता हैं। ईसा पूर्व चौथी शताब्दी तक पुराने अतीत, में वित्तीय प्रशासन विकास की उन्नत अवस्था में पहुंच गया था। कौटिल्य का अर्थशास्त्र वित्तीय प्रशासन पर एक शोध-प्रबंध था। इसके अन्तर्गत लोक-वित्त तथा वित्तीय प्रशासन के अनेकों स्वस्थ सिद्धांत मौजूद थे। मौर्यकाल में प्रशासन द्वारा अपने राजकोषीय कार्य इन्हीं सिद्धांतो के अनुरूप संपादित किए जाते थे। भू-राजस्व, राजस्व का प्रमुख स्त्रोत था तथा यह भूमि उपजों पर आधारित था। सोना, पशुओं आदि जैसी वस्तुओं पर भी कर लगाए जाते थे। लोक निर्माण कार्यों से प्राप्त आय गैर कर राजस्व का प्रमुख स्त्रोत था। जनता से उधार लेने तथा घाटे की अर्थव्यवस्था जैसी चीजों के बारे में कोई जानता तक नहीं था। उस समय एक भलीभांति संगठित वित्तीय संरचना मौजूद थी जिसके तहत महासंग्रहकार, महा-खजांची तथा महालेखाकार के कार्यालय शामिल थे। राजकोषीय निर्णय राजसी सनक तथा ठाट-बाट से प्रभावित रहते थे और वित्तीय जवाबदेही की कोई स्वस्थ प्रणाली मौजूद नहीं थी। गुप्तकाल में करीब करीब इससे मिलती जुलती वित्तीय प्रशासन की प्रणाली कायम रहीं। मुगलकाल में एक व्यापक एवं सुव्यवस्थित वित्तीय प्रणाली देखी गई। भू-राजस्व का राजस्व के प्रमुख स्त्रोत के रूप में होना जारी रहा।

अकबर के दरबार में कार्यरत एक कुलीन व्यक्ति, राजा टोडरमल ने इसे सुव्यवस्थित किया तथा एक नियम पुस्तक के रूप में राजस्व प्रशासन के सिद्धांतो का प्रवर्तन किया, जिसे आगे चलकर अंग्रेजों द्वारा अपना लिया गया।

उन्होंने भूमि के मसलों में बिचौलियो के संबंध कायम किए। जजिया, आयकर, संपत्ति कर इत्यादि, अन्य प्रत्यक्ष करों का अंश थे। अप्रत्यक्ष करों में सीमा शुल्क, बिक्री कर, चुंगी तथा उत्पादक शुल्क शामिल थे। सार्वजनिक कोषों के संग्रह, देखभाल तथा संवितरण के लिए सरकारी तथा गैर सरकारी खजानों का एक तंत्र मौजूद था।

यद्यपि, उपरोक्त विरासत ने भारत के राजकोषीय इतिहास पर अपने पद चिन्हों की अमिट छाप छोड़ी है फिर भी आधुनिक वित्तीय प्रणाली की शुरूआत ब्रिटिश शासन के दौरान हुई। इस काल में वित्तीय प्रशासन विकास के अनेक विशिष्ट चरणों से होकर गुजरा। भारत के वित्तीय प्रशासन के इतिहास को मोटे तौर पर निम्नलिखित चार विशिष्ट चरणों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **प्रथम काल (1765 से 1858) संरचना का निर्माण तथा उसका सुदृढीकरण-** 1765 में दीवानी अधिकारों का अधिग्रहण ब्रिटिश भारत के वित्तीय प्रशासन की स्थापना का प्रतीक है। सभी शक्तियां ईस्ट इंडिया कम्पनी को सौंप दी गई और इन्हें कम्पनी द्वारा नियंत्रक बोर्ड के जरिए लागू किया जाता था। भारत से प्राप्त राजस्व को ईस्ट इण्डिया कम्पनी की वाणिज्यिक कमाई माना जाता था। ब्रिटिश सरकार, विभिन्न विनियोजन अधिनियमों में यथाउपबंधित, अप्रत्यक्ष तरीकों के जरिए ही कम्पनी प्रशासन पर प्रभाव डाल सकती थी। सार्वजनिक वित्त का अधीक्षण एवं नियंत्रण, गर्वनर के नेतृत्व में प्रत्येक प्रेसीडेन्सी में, अलग से सौंपा गया था। नियंत्रक बोर्ड से खासतौर पर अनुमति प्राप्त किए बिना भारत का गर्वनर जनरल इन कोषों का इस्तेमाल नहीं कर सकता था, हालांकि युद्ध के दौरान वह इन कोषों का उपयोग कर सकता था। 1833 में, कम्पनी प्रशासन में भारी अव्यवस्था के चलते, ब्रिटिश संसद ने कार्यवाही शुरू की। 1833 के भारत सरकार अधिनियम के तहत, ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने भारत पर स्वयं शासन करने का अधिकार खो दिया। इसके पास रखी संपत्ति को सम्राट के लिए ट्रस्ट के रूप में छोडा गया। अधिनियम ने अधीक्षण नियंत्रणकारी सत्ता भारत के गर्वनर जनरल को सौंप दी। गवर्नरों को भी अपनी सता से हाथ धोना पडा क्योंकि गवर्नर जनरल से मंजूरी प्राप्त किए बिना वे न तो किसी नए पद की स्थापना कर सकते थे न ही कोई अनुदान, वेतन, भत्ता, अथवा उपदान ही दे सकते थे। भारत सरकार के वित्त सचिव को, प्राक्कलन तैयार करने, उपायो तथा साधनों का प्रावधान, ऋणों पर बातचीत, तथा लेखे का पर्यवेक्षण आदि जैसे वित्तीय कार्यों के संचालन एवं समन्वय का दायित्व सौंपा गया। उसे नये व्यय सम्बन्धी तमाम प्रस्तावों की समीक्षा करनी होती थी।

   बंगाल का महालेखाकार, भारत का महालेखाकार बन गया तथा उसे वित्त सचिव के समक्ष वित्तीय विवरणियां तथा लेखे प्रस्तुत करने का दायित्व सौंपा गया। लेखापरीक्षा के लिए कोई प्राधिकारी नहीं रखा गया, क्योंकि यह प्रान्तों के पास बनी रही।

   वित्त तथा लेखे के एक संयोग के जरिए वित्त सचिव के हाथ मजबूत करने की दृष्टि से उसे 1854 में भारत का महालेखाकार बना दिया गया। यह व्यवस्था अधिक दिनों तक नहीं चल पायी। 1857 में, लार्ड कैनिंग द्वारा शुरू किए गए सुधारों के तहत, वित्त सचिव को केवल वित्त का कार्यभार सौंपा गया। भारत के महालेखाकार को जिसने वित्त सचिव के लेखा संबंधी कार्यभार ग्रहण किया था, लेखापरीक्षा का दायित्व सौंपा गया।

   वित्तीय प्रशासन के सुदृढीकरण की प्रक्रिया 1858 में शुरू हुई। 1858 के अधिनियम ने ईस्ट इण्डिया कम्पनी की औपचारिक सत्ता समाप्त कर दी। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय वित्त व्यवस्था का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण अपने हाथों में ले लिया। अधिनियम के तहत, भारत के लिए एक सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स का प्रावधान किया गया, उसकी मदद के लिए काउंसिल ऑफ इण्डिया का गठन किया गया। ब्रिटिश मंत्रिमण्डल में मिनिस्टर ऑफ स्टेटस हुआ करता था और भारतीय वित्तीय एवं प्रशासनिक मामलो के लिए उत्तरदायी होता था। उसकी पूर्वस्वीकृति के बिना भारतीय वित्त में से किसी तरह का विनियोजन नहीं

किया जा सकता था। गवर्नर जनरल को सौंपे हुए वित्तीय प्राधिकार प्राप्त थे। भारत का सैक्रेटरी ऑफ स्टेटस बजट की स्वीकृति आचार संहिताओं तथा कार्यकारी आदेशों में यथा-अभिव्यक्त नियमों तथा कानूनों की एक प्रणाली के द्वारा व्यय का नियंत्रण आदि जैसे उपायों द्वारा भारतीय वित्त का नियंत्रण करता था। उसके अधीनस्थ एक वित्तीय समिति तथा वित्त सचिव रहता था, जो एक सलाहकार के रूप में वित्त विभाग के भारतीय कार्यालय का प्रमुख होता था। काउंसिल ऑफ इण्डिया, जिससे चौकीदार की भूमिका की अपेक्षा की गई थी, अपनी भूमिका निभाने में असफल रही क्योंकि उसके पास एक 'निरंकुश' सेक्रेटरी ऑफ स्टेट्स को नियंत्रित करने का कोई साधन मौजूद न था। समय के अभाव, रूचि के अभाव तथा भारत में राष्ट्रीय आन्दोलन के विकास आदि जैसे अनेक कारणों से भारत के सेक्रेटरी ऑफ स्टेट के ऊपर संसदीय नियंत्रण भी काफी ढीला-ढाला था। सैक्रेटरी ऑफ स्टेट फार इण्डिया वस्तुतः सता का प्रमुख केन्द्र बन गया। किन्तु स्थानीय परिस्थिति से अनभिज्ञता प्रभावी संचार व्यवस्था के अभाव, भौगोलिक कारकों (दूरियों) इत्यादि जैसी सीमाओं के चलते, वह प्रभावी नियंत्रण कायम करने की स्थिति में नहीं था। उसके पास भारत के गवर्नर जनरल के महत्वपूर्ण वित्तीय प्राधिकार सौंपने के अलावा कोई अन्य विकल्प था ही नहीं, गवर्नर जनरल ही भारतीय वित्तीय गतिविधियों का असली कर्ताधर्ता बन गया। भारत में उसे नियंत्रित करने वाली कोई सत्ता मौजूद न थी, क्योंकि विधान परिषद को वित्तीय मामलों की परीक्षा करने का कोई अधिकार नहीं था। प्रान्तों की केन्द्र पर अत्यधिक निर्भरता का युग, जो 1833 में शुरू हुआ था। 1858 के भारत सरकार अधिनियम के तहत भी जारी रहा। भारत के गवर्नर जनरल की तुलना में महालेखाकार की निम्नतर हैसियत जैसे की तैसे रही।

वित्त विभाग की अध्यक्षता तथा निर्देशन वित्त सदस्य को करना होता था। भारतीय वित्त के संदर्भ में वह अनेक कर्तव्यों का निर्वाह करता था। वह वार्षिक वित्तीय विवरण तैयार करता था, वित्त व्यवस्था को स्वस्थ रखना, सुनिश्चित करने के लिए आय-व्यय की प्रगति पर निगरानी रखता था, धन संबंधी व्यवस्था का पर्यवेक्षण एवं प्रशासन करता था, तथा प्रान्तीय वित्त विभागों का पर्यवेक्षण एवं नियंत्रण करता था। वित्त सचिव के नेतृत्व में वित्त विभाग को यह सुनिश्चित करना होता था कि भारत के लिए सैक्रेटरी ऑफ स्ट्रेटस द्वारा लागू प्रतिबंधो पर अमल किया जा रहा है तथा नियम कानूनों का पालन हो रहा है। इसके पास दोहरी शक्ति थी अर्थात् बजटपूर्ण छानबीन तथा व्यय की मूंजरी।

2. **द्वितीय काल (1860 से 1919) प्रणालियों तथा प्रक्रियाओं का विकास-** गवर्नर जनरल को महसूस हुआ कि वित्तीय समस्याओं का अकेले सामना करना असंभव है। 1859 में, उसके अनुरोध पर, कार्यकारिणी परिषद में उसकी मदद के लिए वित्त सदस्य का पद स्थापित किया गया। विल्सन पहला वित्त सदस्य था। उस समय तक बजट निर्माण की प्रणाली नहीं थी क्योंकि कानून में इसका कोई प्रावधान नहीं था। हालांकि कानून उससे यह मांग नहीं करता था फिर भी विल्सन ने 18 फरवरी 1860 को विधान परिषद में पहला बजट प्रस्तुत किया यद्यपि उसके बजट पर परिषद ने बहस नहीं की, किन्तु उसकी प्रस्तुति ने वित्तीय मुद्दे पर खासी दिलचस्पी पैदा की। इसने एक उदाहरण प्रस्तुत कर दिया जिससे जब भी कोई वित्तीय मकसद सामने आता तो परिषद में बजट पेश होता और उस पर विस्तृत चर्चा होती। 1861-62 से वार्षिक बजट प्रणाली की स्थापना हुई। 1892 के परिषद अधिनियम ने गवर्नर जनरल आफ इण्डिया इन काउंसिल को विधान परिषद में बजट पर बहस को अधिकृत करते हुए नियम बनाने के लिए अधिकृत किया जिनके तहत बजट प्रस्तावों को उलट देने का अधिकार नहीं दिया गया। लेकिन सदस्यों को कोई प्रस्ताव पेश करने की स्वतंत्रता नहीं थी। सार्वजनिक कोष पर लोकप्रिय नियंत्रण कायम करने के लिए सदन के भीतर तथा बाहर लगातार आन्दोलन जारी रहा। 1895 तथा 1896 के अपने वार्षिक अधिवेशनों में कांग्रेस द्वारा संपूर्ण बजट व्यवस्था की मांग करते हुए प्रस्ताव पारित किए गए। 1909 का अधिनियम,

बजटीय विकास की दिशा में एक महत्वपूर्ण कदम था, किन्तु इससे सीमित लाभ ही मिल सके क्योंकि ये प्रस्ताव सरकार के लिए बाध्यकारी नहीं थे। 1919 के अधिनियम ने बजट की विधानमंडलों द्वारा स्वीकृति की आधुनिक प्रणाली की शुरूआत की। विधानमंडलों को मंजूरी देने अथवा मंजूरी देने से इंकार करने अथवा उल्लिखित धनराशि में कटौती करने के लिए अधिकृत किया गया। किन्तु इस प्रणाली में दो खामियां थी। पहली यह कि सरकार लोकप्रिय जनमत को ठुकरा सकती थी और दूसरी यह कि बजट के आधे से भी अधिक मामलों पर मतदान नहीं कराया जा सकता था। 1935 के अधिनियम ने भी इस प्रणाली में कोई उल्लेखनीय परिवर्तन नहीं किया।

3. **तृतीय काल (1919 से 1947) लोकतांत्रिकरण तथा विकेन्द्रीकरण-** 1909 तक केन्द्रीय विधानमंडल शक्तिशाली नौकरशाही तले दबा हुआ था। 1909 के मिण्टो-मार्ले सुधारों ने केन्द्रीय विधानमण्डल में निर्वाचित तत्वों के सीमित प्रवेश का इरादा बनाया। किन्तु 1919 के अधिनियम के तहत, प्रान्तीय विधानमंडलों में गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत हो गया तथा केन्द्रीय विधानमंडल का विस्तार किया गया और उसे अधिक लोकप्रिय प्रतिनिधित्वपूर्ण बनाया गया। इस अधिनियम ने प्रांतीय सरकारों में अधिकतम लोकप्रिय प्रतिनिधित्व का प्रावधान किया। इसने प्रान्तीय सरकारों में दोहरी शासन व्यवस्था की परिकल्पना भी की जिसके तहत प्रान्तीय स्वायतत्ता की प्रक्रिया 1937 में पूरी हुई जबकि 1935 के भारत सरकार अधिनियम के तहत लोकप्रिय सरकारों का गठन हुआ, केन्द्र में दोहरी शासन प्रणाली 1935 के अधिनियमों के तहत शुरू की गई जिसके अनुसार वायसराय की कार्यकारी परिषद के लोकप्रिय ढंग से निर्वाचित सदस्यों के मात्र 20 प्रतिशत व्यय रखे जाने का प्रावधान किया गया। लेकिन गवर्नर जनरल द्वारा उपभोग की जा रही विशेष शक्तियों ने लोकप्रिय भागीदारी को धक्का पहुंचाया।

4. **चतुर्थ काल (1950 से आज तक) विकासात्मक रूझान-** स्वतंत्रता ने वित्तीय प्रशासन की राजनैतिक पृष्ठभूमि में मौलिक परिवर्तन ला दिया। कार्यपालिका द्वारा विधायिका के प्रति जवाबदेही के सिद्धान्त को औपचारिक मान्यता प्रदान की गई। बजटीय तथा अन्य प्रणालियों एवं प्रक्रियाओं को इस सिद्धांत का पालन तथा क्रियान्वयन करने के अनुरूप ढाला गया, विधानमंडलीय समितियां सार्वजनिक कोषों के स्वरूप, विवरण, वैधानिक तथा निरतंरता में सक्रिय रूचि लेने लगे। नियंत्रक एवं महालेखापरीक्षक एक संवैधानिक प्राधिकारी बन गया, जिस पर विधानमंडलीय समितियों को सहायता देने की भी जिम्मेदारी थी। वित्तीय प्रशासन ने धीरे-धीरे अपना केन्द्र बिन्दु स्थायित्व से हटाकर कल्याण, विकास तथा समता पर केन्द्रित किया। 1974 में नियोजन तथा बजट प्रक्रिया को मिलाकर निष्पादन बजट प्रणाली शुरू की गई। जिसने वित्तीय प्रक्रिया को परिणाम उन्मुखी बना दिया। वित्तीय नियंत्रण की प्रणाली को मूलतः पुनर्गठित किया गया जिससे कि इस योजना को क्रियान्वयन का एक औजार बनाया जा सके। परिणामस्वरूप 1955, 1958, 1962, 1968 तथा 1975 की योजनाओं जैसी अनेक प्रतिनिधित्व की योजनाओं के द्वारा व्यय करने वाले विभागों को महत्वपूर्ण शक्तियां सौंपी गई। वित्तीय नियंत्रण का दायित्व भी दृढता के साथ करने वाले विभागों पर निश्चित किया गया। इसे दो साधनों से प्राप्त किया जाना था। पहली, एकीकृत वित्तीय सलाह की योजना थी तथा दूसरी थी लेखापरीक्षा तथा खातों को पृथक किया जाना।

   विकासात्मक व्यय की बढती वित्तीय आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु, बजट स्त्रोत जुटाने का एक और औजार बन गया। परिणामस्वरूप, कर संरचना को तर्कसंगत बनाने के लिए अनेक कदम उठाये गये। काल्डोर के कर-प्रस्ताव, वांचू समिति रिपोर्ट, झा समिति रिपोर्ट आदि, इन कदमों के उदाहरण है। घाटे की अर्थव्यवस्था एक नियमित लक्षण बन गई क्योंकि सरकार को विकास की गति में तेजी लाने के लिए दबाव का सामना करना पड रहा था।

बैंकिग प्रणाली का राष्ट्रीयकरण, राष्ट्रीय कोषों के विकासात्मक गतिविधियों की ओर प्रवाह का एक औजार माना गया था। विकास एवं समता के ध्येयों को आगे बढाने में सार्वजनिक क्षेत्र ने उल्लेखनीय महत्व प्राप्त कर लिया। कुछ अवांछित परिणाम भी सामने आए। तेजी से बढती मुद्रास्फीति, भुगतान संतुलन का सिकुड़ना, सार्वजनिक क्षेत्रों से नकारात्मक परिणामों में वृद्धि सार्वजनिक बचतों में कमी तथा स्त्रोत आधार का सिकुड़ना इत्यादि का वित्तीय प्रशासन पर अंततः इस तरह बुरा प्रभाव हुआ कि सरकार को इन प्रवृतियों को सुधारने के लिए कदम उठाने पड़े ।

निष्कर्ष के रूप में प्रथम काल के दौरान मूलतः वित्तीय संगठन के निर्माण पर बल दिया गया जिसका उद्देश्य सैक्रेटरी ऑफ स्टेट्स तथा गवर्नर जनरल के रूप में नियंत्रण तथा निर्देशन के केन्द्रों का निर्माण करना था। द्वितीय काल को एक स्वस्थ बजट प्रणाली की उत्पति तथा उसके प्रयोग के प्रयास के लक्षणों से पहचाना जा सकता है। तृतीय काल में स्वतंत्रता आन्दोलन की प्रतिक्रियाएं देखने को मिली और अनेक परिणाम के रूप में धीरे-धीरे लोकप्रिय तत्वों को शामिल करने के प्रयास हुए। इससे सता का विकेन्द्रीकरण तथा संघीय संरचना का निर्माण भी देखा गया। अंतिम चरण जनता तथा उसकी भलाई एवं विकास की तरफ झुकाव के लक्षण से पहचाना जा सकता है।

2.5.2 नये उभरते रूझान

नये उभरते प्रतिमानों को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. **राजकोषीय घाटे का विनियोजन एवं नियंत्रण-** भारत में विकासात्मक प्रयासों की खास विशेषता यह रही हैं कि यहां उपलब्ध स्त्रोतों से कहीं अधिक निवेश का प्रयास होता रहा है। इस अंतर को अनुकूल भुगतान संतुलन तथा विदेशी धन-प्रेषणों द्वारा दूर किया जाना चाहिए था। किन्तु भारतीय नीति-निर्धारकों ने मुद्रा प्रसार की असीमित खुराकों पर साख कायम करके इस अंतर को मिटाने की कोशिश की। घाटे की वित्त व्यवस्था को करारोपण समेत स्त्रोत जुटाने के विकल्प के रूप में इस्तेमाल किया गया। घाटे की वित्त व्यवस्था की वार्षिक औसत दर में वर्ष दर वर्ष वृद्धि होती गई। यह धारणयोग्य सुरक्षित सीमा से कहीं आगे निकल गई जो कि कथित तौर पर उपभोक्ता मामलों की आपूर्ति की वृद्धि दर, अर्थव्यवस्था के मुद्रीकरण के स्तर तथा उत्पादन एवं वितरण पर नियंत्रण की सीमा, द्वारा निर्धारित होती है। इस ताबड़तोड़ घाटे की वित्त व्यवस्था के परिणाम के तौर पर साठ के दशक के मध्य से ही मुद्रास्फीति की ऊंची दर, अर्थव्यवस्था का प्रमुख लक्षण बन गई है। इसने भुगतान संतुलन की समस्या पैदा कर दी है। जुलाई 1991 में, यह परिस्थिति एक आर्थिक संकट में बदल गई।

   इस संकट को हल करने के लिए सरकार को अनेक उपाय करने पड़े। प्रमुख लक्ष्य था राजकोषीय घाटे पर नियंत्रण करना।

2. **गैर-विकासात्मक व्यय में कटौती-** भारतीय स्त्रोत का एक बड़ा हिस्सा गैर-विकासात्मक व्ययों में व्यर्थ चला जाता है जो कि एक गैर-उत्पादक प्रवाह है। गैर-विकासात्मक व्यय में भारी वृद्धि हुई है। इस व्यय का एक बड़ा हिस्सा फिजूलखर्ची, अक्षमता तथा निष्फल लोक-नीतियों एवं गतिविधियों से जुडा हुआ है। लोक-नीति ने व्यय को कम करने पर अपना ध्यान केन्द्रित किया है। बचतों का अधिकांश भाग, आर्थिक राहतों, रक्षा-व्यय, सार्वजनिक उद्यमों के स्त्रोतों के अंतरण, चालू एवं पूंजी व्यय, में कटौतियां करके, प्राप्त किया जाना है। सरकार ने घोषणा की है कि वित्त-वर्ष की बकाया अवधि के दौरान, अनुपूरक विनियोजनों के जरिए, व्यय में कोई वृद्धि नहीं की जाएगी, जब तक कि इस तरह के प्रस्तावों के साथ समान रूप से कहीं अन्यत्र बचत के सुझाव न दिए गए हो।

3. **शून्य-आधारित परिप्रेक्ष्य का विकास-** भारत में बजटीय निर्णयों का प्रमुख लक्षण वृद्धिकारी दृष्टिकोण रहा है। हालांकि समूचे स्तर पर शून्य आधारित बजट प्रणाली की स्थापना का प्रयास नहीं किया गया हैं, पिछले करीब 5 वर्षों के दौरान विकसित हुई व्यय-नीति ने, इस नई बजटीय अवधारणा के मूलभूत आधार-वाक्य पर ध्यान केन्द्रित किया। यह मांग की गई है कि सरकारी व्यय के किसी भी क्षेत्र को छानबीन से परे नहीं रखा जाना चाहिए।
4. **आकस्मिकता दृष्टिकोण का प्रयोग-** आकस्मिकता दृष्टिकोण सार्वजनिक संगठन की सभी उप-प्रणालियों, जिनमें पर्यावरण की उच्चतर-प्रणाली भी शामिल हैं, के विश्लेषण एवं समझ पर बल देता है जिससे कि लोक-नीतियों तथा प्रशासनिक कार्यवाहियों को विशिष्ट परिस्थितियों तथा पृष्ठभूमियों की मांगों के अनुरूप ढाला तथा समन्वित किया जा सके। यह किसी लोक-प्रशासक को एक संपूर्ण समस्या का व्यावहारिक हल ढूंढने में सक्षम बनाता है। हाल के आर्थिक संकट का सामना करने हेतु सरकार के दृष्टिकोण में इस आधुनिकतम सिद्धान्त के मूल तत्व प्रतिबिंबित हुए है। उदाहरण के रूप में यद्यपि घाटे के वित्त व्यवस्था की तरफ सरकार के पास राजनैतिक सत्ता तथा बुनियादी रूझान मौजूद हैं, किन्तु वह इसके विपरीत फैसले लेने के लिए बाध्य है। ऐसा परिस्थितियों के दबाव के कारण हुआ। इसी तरह, आत्म-निर्भरता तथा सामाजिक बराबरी की अवधारणाएं अब सरकार की मुख्य चिन्ताएं नहीं रही हैं, जैसा कि विदेशी भागीदारी जिसमें अप्रवासी भारतीय पर विशेष बल दिया गया है, कि तरफ खुले-दरवाजे वाली नीति से स्पष्ट हो जाता हैं। इसी तरह के अन्य लोक नीतिगत निर्णय भी लिए गए हैं जो अर्थव्यवस्था को बाजार-क्रियाविधि की तरफ मोडने के प्रयास है।
5. **सार्वजनिक क्षेत्र पर जोर कम किया जाना-** भारत में, सार्वजनिक उद्यमों के लिए तर्क का आधार इस उक्ति पर आधारित रहा है, कि राष्ट्रीय लक्ष्यों के प्राप्ति के लिए राज्य का स्वामित्व जरूरी है। इस मूल्यगत निर्णय के फलस्वरूप बड़े पैमाने पर राष्ट्रीयकरण किया गया था। सार्वजनिक उद्यमों की बडी संख्या में लगातार बढते घाटों, राजकोषीय घाटे में कमी लाने हेतु स्त्रोतों की आवश्यकता, सार्वजनिक उद्यमों के निजीकरण की तरफ विश्वव्यापी रूझान, इन सभी ने मिलकर सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति सरकार की नीति में परिवर्तन ला दिया। सरकार की नई उद्योग नीति ने इस विचारधारा का अंत कर दिया। सार्वजनिक क्षेत्र में निजी क्षेत्र की समता-भागीदारी को बढावा देने की सरकार की मुहिम, इस नये दृष्टिकोण को प्रदर्शित करने वाला उल्लेखनीय नीतिगत उपाय है।
6. **सार्वजनिक मामलों तथा सेवाओं की गैर-नौकरशाही आपूर्ति-** सरकार सार्वजनिक मामलों तथा सेवाओं को प्रतिस्पर्धापूर्ण ढंग से प्रदान करने की दृष्टि से विचार कर रही है ताकि सार्वजनिक इजारेदारी के गड्ढे में गिरने से बचा जा सके। उदाहरण के बतौर, सरकार ऊर्जा उत्पादन एवं वितरण, इलेक्ट्रोनिक प्रचार माध्यम तथा दूर-संचार, सडक निर्माण इत्यादि के क्षेत्र में निजी-क्षेत्र को शामिल करने के बारे में गंभीरता से विचार कर रही है।
7. **विकास योजनाओं के लिए वित्तीय सहायता हेतु विकेन्द्रीकृत दायित्व पर बल-** योजना बनाने तथा साथ ही योजना के लिए वित्त जुटाने का दायित्व संघीय सरकार पर रहा है। राज्य सरकारे अपने बजटीय प्रावधानों द्वारा समर्थित योजनाओं की बजाय, केन्द्र द्वारा प्रसारित योजनाओं को ही लागू कर सकी है। राज्यों में इस तरह की प्रवृति के चलते स्त्रोत जुटाने के काम के प्रति उदासीनता का भाव रहा है। यह लक्षण, राज्य सरकारों द्वारा लोकप्रिय उपायों पर बढते हुए जोर से स्पष्ट हो जाता हैं।
8. **नियंत्रणहीनता तथा उदारीकरण की ओर-** संघीय सरकार बाजार-क्रियाविधि को पूरी स्वतंत्रता प्रदान करने का प्रयास कर रही है जिससे उद्यमशील व्यापारी व्यक्तियों की उत्पादन क्षमता को अधिकाधिक बढाया जा सके और इस तरह मुक्त बाजार-अर्थव्यवस्था की तरफ बढ रही है। निजी क्षेत्र तथा विदेशी

प्रत्यक्ष निवेश की उचित आवश्यकताओं के अनुरूप उद्योग-नीति में अनुकूल संशोधन कर लिए गए है। व्यापार नीति तथा वाणिज्य नीति में भी इसी तरह के परिवर्तन किए गए है।

लोगों में यह आशंका बढ रही हैं कि आय तथा संपत्ति की असमानताएं बढकर भारी आघात पहुंचा सकती है और समाज के गरीब तथा कमजोर तबके भारी उपेक्षा का शिकार होकर उन्हीं के हाल पर छोड दिए जा सकते है। इस दुर्भाग्यपूर्ण रूझान की क्षतिपूर्ति काफी हद तक सामाजिक सेवाओं तथा ग्रामीण विकास कार्यक्रमों पर व्यय में बढोतरी के जरिए की जा सकती है। इसके प्रमाण मिल रहे हैं कि सरकार, सार्वजनिक वितरण प्रणाली को मजबूत बनाने तथा अन्य तरीकों से, इस तरह की नीतिगत पहल कर रही है जिनसे यह सुनिश्चित हो जाये कि प्रगति को समता की कुर्बानी देकर, हासिल न किया गया हो।

निष्कर्षतः इन नये रूझानों का आशय बाजार की शक्तियों को नौकरशाही नियंत्रण से मुक्त करना है। ये रूझान कम विकसित देशों की जरूरतों के काफी अनुकूल पाए गए है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत में अंग्रेजों से पूर्व किस शासक ने घाटे की अर्थव्यवस्था को अपनाया?
2. किस ब्रिटिश गवर्नर द्वारा आय तथा व्यय की तीन श्रेणियां बनाई गई?
3. लेखांकन को लेखा परीक्षण से कब अलग किया गया?
4. वित्तीय प्रशासनको वित्त विज्ञान का एक अवयव किसने माना?
5. 'वित्त विज्ञान' किसकी रचना है?
6. 'संगठन एवं प्रबन्धन की एकता का सिद्धान्त' किस भारतीय विद्वान ने दिया?
7. किस ब्रिटिश गवर्नर द्वारा वित्त सचिव को केवल वित्त का कार्यभार सौंपा गया?
8. भारत में वित्तीय प्रशासन के सुदृढीकरण की प्रक्रिया कब प्रारम्भ हुई?
9. नियोजन तथा बजट प्रक्रिया को मिलाकर 'निष्पादन बजट प्रणाली'कब शुरू की गयी?

2.6 सारांश

न्यूनतम सार्वजनिक व्यय सरकार का मुख्य उद्देश्य रहता था। धीरे-धीरे वित्तीय प्रशासन की कार्यमूलक भूमिका में परिवर्तन आया। इसे स्त्रोतों के एकत्रीकरण तथा उनके उत्पादक विनियोजन की दृष्टि से देखा जाने लगा। यद्यपि, वित्तीय प्रशासन से किसी निर्दिष्ट समय की लोकनीतियों में स्पष्ट किए गए आम उद्देश्यों को पूरा करने में, सहायता करने की अपेक्षा की जाती है फिर भी कुछ ऐसे मूलभूत उद्देश्य होते हैं, जिन्हें लेकर वित्तीय प्रशासक चलते हैं, जैसा कि विकसित तथा विकासशील देशों के अनुभव से स्पष्ट है। सांस्कृतिक विशिष्टता के कारण, वित्तीय प्रशासन के सार्वभौमिक सिद्धान्त तय कर पाना संभव नहीं है। हालांकि, अन्योन्य-राष्ट्रीय तथा अन्योन्य-सांस्कृतिक पृष्ठभूमियों के हमारे, अनुभव के आधार पर, मोटे तौर पर दिशा-निर्देशों के रूप में हम कुछ सिद्धान्त निश्चित कर सकते है। इनके अंतर्गत, लोक नीति तथा राजनैतिक दिशा व नियंत्रण की सर्वोच्चता, संगठन तथा प्रबंधन की एकता, उद्देश्यों, कार्यों तथा स्त्रोतों के बीच अनुरूपता, स्थायित्व, सरलता, संतुलन तथा लचीलापन, इत्यादि शामिल है। भारत में वित्तीय प्रशासन ई.पू. चौथी सदी तक एक विकसित अवस्था तक पहुंच गया था। भारत के राजकोषीय इतिहास में इतना कुछ है कि हम उस पर सहज ही गर्व कर सकते है। वित्तीय प्रशासन की आधुनिक प्रणाली को स्थापित करने की शुरूआत ब्रिटिशकाल के दौरान हुई। 1765 से 1858 के बीच के काल में वित्तीय प्रशासन की एक स्वस्थ संरचना निर्मित करने के अनेक उपाय किए गए। वित्तीय बजट प्रस्तुत करने वाला पहला व्यक्ति विल्सन था, जिसे आगे चलकर परिष्कृत किया गया। 1919 तक हमारे पास खासी विकसित वित्त-व्यवस्था तथा प्रक्रियाएं विकसित हो गई थी। देश के वित्तीय इतिहास में लोकतांत्रिकरण तथा विकासात्मक रूझान मील का पत्थर बन गए।

भुगतान संतुलन की प्रतिकूल स्थिति तथा तेजी से बढती मुद्रा-स्फीति के चलते सरकार को 1919 में अत्यंत मूलभूत कदम उठाने पडे। इनके अंतर्गत, राजकोषीय घाटे पर नियंत्रण, नौकरशाही नियंत्रण में कटौती, स्त्रोत जुटाने के जटिल विकल्प, सार्वजनिक क्षेत्र पर जोर में कमी, तथा परिचायक नियेाजन, आदि शामिल है। इस बात की संभावना हैं तथा आशा है कि बाजार-अर्थव्यवस्था की दिशा में चलने तथा विश्व-अर्थव्यवस्था के साथ एकता स्थापित करने से, शायद आर्थिक समृद्धि के एक युग का सूत्रपात हो सकता है। हालांकि, गंभीर आशंकाएं भी मौजूद है। मूल्यों को पीछे लाने में सरकार की अक्षमता ऐसी ही चिन्ता का विषय है।

2.7 शब्दावली

भुगतान संतुलन- यह एक प्रकार का आय-विवरण है जिसमें किसी देश के व्यक्तियों, फर्मो, सरकारी इकाइयों तथा अन्य सभी देशों के व्यक्तियों, फर्मो तथा सरकारी इकाइयों के बीच हुए समस्त लेन देन का विवरण दर्ज किया जाता है। यह देशवासियों तथा शेष विश्व के बीच हुए लेनदेन का रिकॉर्ड प्रदर्शित करता है जिसमें भुगतानों को देश की मुद्रा में अभिव्यक्त किया जाता है।

दीवानी अधिकार- 1765 में ईस्ट इंडिया कम्पनी द्वारा बंगाल तथा उड़ीसा में टैक्स वसूलने के लिए सुरक्षित अधिकार।

दोहरी शासन प्रणाली- यह मोटेव्यू चेम्सफोर्ड अधिनियम, 1919 के तहत् प्रान्तों के स्तर पर शुरू की गई द्विस्तरीय सरकार है इसके तहत समूचे प्रशासन को 'आरक्षित विषयों' (पाषदों द्वारा नियंत्रित) तथा अनारक्षित विषयों (मंत्रियों द्वारा) में विभाजित कर दिया गया था।

उत्पादन के कारक- किसी वस्तु का उत्पादन करने के लिए आवश्यक स्त्रोत अर्थात भूमि, श्रम तथा पूंजी।

मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था- एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसका नियोजन नियंत्रण सरकार द्वार नहीं किया जाता । यह एक प्रतिस्पर्धायुक्त अर्थव्यवस्था है। उत्पादन के कारकों का निजी स्वामित्व रहता है तथा निजी उघमों की पहल कदमी से उत्पादन होता है।

एकीकृत वित्तीय सलाह- यह प्रणाली 1975-76 में भारतीय वित्त व्यवस्था में लागू की गई थी जिसमें सम्बद्ध प्रशासनिक मंत्रालय में कार्यरत वित्तीय सलाहकार को प्रशासनिक मंत्रालय के साथ-साथ वित्त मंत्रालय के प्रति भी उत्तरदायी बनाया गया था। इसके पीछे उद्देश्य यह था कि वित्तीय सलाहकार को प्रशासनिक मंत्रालय से जुड़कर बड़े स्तर पर विकासात्मक गतिविधियों में भाग लेने तथा साथ ही वित्त मंत्रालय आम दिशा- निर्देशों के तहत् कार्य करने में सक्षम बनाया जा सके।

2.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. मुहम्मद बिन तुगलग, **2.** लार्ड रिपन, **3.** सन् 1976, **4.** प्रो0 एडम स्मिथ, **5.** प्रो0 एडम स्मिथ, **6.** पी0 जे0जे0 पिन्टो, **7.** लार्ड कैनिंग, **8.** सन् 1858, **9.** सन् 1974

2.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. एडमस, एच.सी. वित्त का विज्ञान, हैनरी होल्ट एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क।
2. भार्गव, आर.एन. भारतीय लोक वित्त, बी.डी. भार्गव एण्ड संसः चंदौसी।
3. लाल जी. एस. भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच. पी. कपूर: नई दिल्ली।
4. पिन्टो, जे.जे. भारत का वित्तीय प्रशासन व्यवस्था, न्यू बुक कम्पनीः बम्बई।
5. भावराज एम. जे. भारत का वित्तीय प्रशासन, सुल्तान चन्द एण्ड संसः नई दिल्ली।

2.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भार्गव, आर.एन. भारतीय लोक वित्त, बी.डी. भार्गव एण्ड संसः चंदौसी।
2. लाल जी. एस. भारत में लोक वित्त तथा वित्तीय प्रशासन, एच. पी. कपूर: नई दिल्ली।
3. पिन्टो, जे.जे. भारत का वित्तीय प्रशासन व्यवस्था, न्यू बुक कम्पनीः बम्बई।

2.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. विकासशील देशों की राजकोषीय नीतियों में प्रति बिम्बत होने वाले लक्ष्य क्या हैं?
2. वित्तीय प्रशासन की वे कौनसी मूलभूत चितांए हैं, जो राजनैतिक, आर्थिक अनिवार्यताओं से भी उपर रहती है?
3. वित्तीय प्रशासन के प्रमुख सिद्वान्त क्या है?
4. 1950 के पश्चात् किस प्रकार वित्तीय प्रशासन ने एक नया मोड़ लिया? वर्णन कीजिये।
5. भारत के वित्तीय प्रशासन में उभरते रूझानों की व्याख्या कीजिये।

इकाई- 3 मिश्रित अर्थव्यवस्था

इकाई की संरचना

3.0 प्रस्तावना
3.1 उद्देश्य
3.2 मिश्रित अर्थव्यवस्था: अवधारणा तथा प्रमुख लक्षण
    3.2.1 पूंजीवाद
    3.2.3 समाजवाद
    3.3.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण
3.3 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की उत्पति
    3.3.1 1956 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव
    3.3.2 1977 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव
    3.3.3 1980 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव
    3.3.4 1991 की नई औद्योगिक नीति प्रस्ताव
3.4 भारत में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र
    3.4.1 निजी क्षेत्र
    3.4.2 सार्वजनिक क्षेत्र
3.5 मिश्रित अर्थव्यवस्था: आधुनिक रूझान तथा मूल्यांकन
3.6 सारांश
3.7 शब्दावली
3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

3.0 प्रस्तावना

देश की स्वतंत्रता के समय देश का अद्योगिक आधार बहुत दुर्बल था। जनसंख्या के बढते हुए दबाव की पृष्ठभूमि में आर्थिक स्थायित्व के लम्बे समय तथा उसके पश्चात् द्वितीय विश्वयुद्ध ने भारतीय अर्थव्यवस्था को और भी दुर्बल बना दिया। देश के विभाजन ने लाखों लोगों को बेघर कर दिया और आर्थिक जीवन को अव्यवस्थित कर दिया। फलतः सन् 1951 से राष्ट्रीय स्तर पर आयोजन का मार्ग अपनाया गया जिसमें आर्थिक और सामाजिक जीवन के सभी पहलू सम्मिलित थे। भारत का विकास सम्बन्धी अनुभव जटिल रूप से, भारत द्वारा अपनी नियोजन प्रक्रिया की शुरूआत के समय से ही मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपनाने के निर्णय के साथ जुडा हुआ है। भारत के लिए क्या मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा का चुनाव करना सही था, इस प्रश्न पर सामाजिक वैज्ञानिकों के बीच सहमति न तो पहले कभी थी और न ही आज है। एक तरफ भारी उद्योगों की तरफ झुकाव, अपर्याप्त स्त्रोत आवंटन, विश्व पृष्ठभूमि में भारतीय अर्थव्यवस्था की गैर स्पर्धापूर्ण प्रकृति आदि के कारणों से मिश्रित अर्थव्यवस्था अपनाये जाने के इस निर्णय को खोजा गया है। दूसरी तरफ, वामपंथी अर्थशास्त्री, मिश्रित अर्थव्यवस्था के ढांचे को अपनाये जाने को 'राज्य के साथ सीधे गठबंधन सहित पूंजी के शासन को न्याय संगत बनाने की युक्ति से थोडा ही अधिक कुछ' के रूप में देखते आए है। ऐसा प्रतीत होता है कि वे से एक स्वयंसिद्ध तथ्य मानते है कि मिश्रित अर्थव्यवस्था,

निहित स्वार्थों के पक्ष में काफी हद तक झुके हुए एक समझौते से अधिक कुछ भी नहीं है। साथ ही जिस तरह से भारतीय संस्कृति का उद्भव हुआ है, उसमें केन्द्रीय स्तर पर नियोजित अर्थव्यवस्था, जिसमें राज्य सामाजिक एवं आर्थिक परिवर्तन का वाहक बन सके, भी देश के लिए उतना ही असंभव मॉडल है। इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था का अनुसरण ही एकमात्र व्यवहारिक कारक रहा है।

हालांकि 50 के दशक में जो कुछ उपयोगी था वह 2019 में भी उपयोगी बना रहे, यह आवश्यक नहीं है। विश्व का राजनैतिक आर्थिक नक्शा बदल चुका है, और उसे पहचानना भी कठिन है। सार्वजनिक क्षेत्र के खराब प्रदर्शन को देखते ही यह प्रतीत होता है कि परिव्ययी एवं आक्रमणशील राज्य ने भी अपनी प्रासंगिकता खो दी है। इस इकाई में हम इसी मुद्दे पर चर्चा करेंगे।

3.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- मिश्रित अर्थव्यवस्था, पूंजीवाद तथा समाजवाद की मूल अवधारणाओं तथा मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षणों के संबंध में जान पायेंगे।
- विभिन्न अद्योगिक नीतिगत प्रस्तावों की जांच करने के क्रम में भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की उत्पत्ति के बारे में समझ पायेंगे।
- भारतीय अर्थव्यवस्था में निजी क्षेत्र तथा सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिकाओं की व्याख्या कर पायेंगे।
- भारत में हाल ही में प्रारंभ किए गए नीतिगत परिवर्तनों पर चर्चा तथा उनके महत्व का मूल्यांकन करने में सक्षमता पर समझ बढा पायेंगे।

3.2 मिश्रित अर्थव्यवस्था: अवधारणा तथा प्रमुख लक्षण

मिश्रित अर्थव्यवस्था एक ऐसी अर्थव्यवस्था है जो अलग-अलग बाजार एवं आर्थिक योजनाओं का मिश्रण हैं जिसमें निजी क्षेत्र और राज्य, अर्थव्यवस्था का निर्देशन करते है, या फिर एक ऐसी अर्थव्यवस्था जिसमें सार्वजनिक स्वामित्व तथा निजी स्वामित्व का मिश्रण हो, या जिसमें आर्थिक हस्तक्षेपवाद का मिश्रण, मुक्त बाजारों के सहित हो। अधिकांश मिश्रित अर्थव्यवस्था बाजार अर्थव्यवस्था है जो प्रबल विनियामक निरीक्षण एवं सार्वजनिक वस्तुओं के सरकारी प्रावधान के आधार पर चलते है। सामान्य रूप से मिश्रित अर्थव्यवस्था उत्पादन के साधनों के निजी स्वामित्व की विशेषता है। आर्थिक समन्वय के लिए बाजारों का प्रभुत्व, लाभ प्राप्ति करने वाले उद्यम एवं पूंजी का संचय, आर्थिक गतिविधियों के सबसे महत्वपूर्ण संचालक शक्ति है। लेकिन एक मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था के विपरीत, सरकार समाज कल्याण को बढावा देने की हस्तक्षेप करने में एक भूमिका निभा रहा है, के साथ-साथ आर्थिक विवशता और वित्तीय संकट और बेरोजगारी की ओर पूंजीवाद की प्रवृति प्रतिक्रिया करने के लिए डिजाईन किया गया राजकोषीय और मौद्रिक नीतियों के माध्यम से अर्थव्यवस्था पर अप्रत्यक्ष व्यापक आर्थिक प्रभाव भी कर रहा है अर्थात मिश्रित अर्थव्यवस्था का अभिप्राय है सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के बीच अन्तर तथा सद्भाव कायम करना। इसके तहत बाजार क्रियाविधि को स्वतंत्र संचालन की इजाजत (स्वीकृति) नहीं दी जाती, तथा सरकार निजी क्षेत्र में हस्तक्षेप अथवा नियंत्रण इस तरह से जारी रखती है जिससे दोनों क्षेत्र एक दूसरे को सुदृढ बनाने लगे। मिश्रित अर्थव्यवस्था दो बिल्कुल विरोधी विचारधाराओं में समझौते का परिणाम है- इनमें से एक विचारधारा अहस्तक्षेपवादी पूंजीवाद के सिद्धान्त का समर्थन करती है और दूसरी इस बात में प्रबल विश्वास रखती है कि समग्र अर्थव्यवस्था के उत्पादन के साधनों का समाजीकरण होना चाहिए और इनका नियंत्रण राज्य द्वारा किया जाना चाहिए। एक मिश्रित अर्थव्यवस्था व्यक्तिगत पहलकदमी तथा सामाजिक ध्येयों के बीच यथासंभव

संतुलन का प्रतिनिधित्व करती है। नियेाजन तथा बाजार क्रियाविधि को इस तरह से संभावित किया जाता है कि उनमें से प्रत्येक का इस्तेमाल (प्रयोग) अर्थव्यवस्था के लिए सबसे अधिक उपयोगी लक्ष्यों को प्राप्त करने में किया जा सके। दोनों ही क्षेत्रों की राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं के प्रति वचनबद्वता रहती है।

कुछ लोग क्षेत्रों के स्वामित्व का उपयोग उनके वर्गीकरण के लिए करते है। सहकारी संगठनों से मिलकर बनी कोई प्रणाली, सहकारी राष्ट्रकुल कहलाएगी। संयुक्त क्षेत्र संगठनों की एक प्रणाली एक अन्य प्रकार की मिश्रित अर्थव्यवस्था प्रदान करती है। कोई प्रणाली, जिसमें सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र दोनों मौजूद हो, पारम्परिक तरह की मिश्रित अर्थव्यवस्था कहलाती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था में निजी उद्यम और इसके परिणामस्वरूप निजी हित एवं लाभ प्रेरणा पर बल को उचित समझा जाता है।

यह मिश्रित अर्थव्यवस्था तदर्थ अथवा एक व्यवस्थित प्रकार की हो सकती है जो कि अर्थव्यवस्था के मूलभूत क्षेत्रों में सार्वजनिक क्षेत्र की पैठ की सीमा पर निर्भर करता है। एक अन्य सोच यह हो सकती है कि दोनों को किस हद तक सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था के नीतिगत लक्ष्यों के साथ एकबद्ध तथा सदभावपूर्ण बनाया गया है। यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था होगी जो सार्वजनिक वितरण प्रणाली, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों तथा साथ ही साथ बाजार अर्थव्यवस्था पर आधारित उत्पादन प्राथमिकताओं के एक संयोग के जरिए (द्वारा) कमजोर वर्गो के कल्याणकारी लक्ष्यों के प्रति संवेदनशील रहेगी। यह एक ऐसी अर्थव्यवस्था भी हो सकती है जो कि समता, रोजगार, आत्मनिर्भरता आदि के सामाजिक लक्ष्यों पर बल देती हो। हर तरह की मिश्रित अर्थव्यवस्थाओं में नियोजन तथा बाजार अर्थव्यवस्था के मिश्रण का स्तर भिन्न-भिन्न रहेगा।

यू.के, अमेरिका और यूरोप के सभी स्वतंत्र देशों और आस्ट्रेलिया का महान आर्थिक विकास, निजी उद्यम द्वारा किया गया। यही कारण है कि अठारहवीं और उन्नसवीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों की कृतियों में मिश्रित अर्थव्यवस्था की धारणा का कोई जिक्र नहीं था, क्योंकि उन दिनों आर्थिक स्वतंत्रता और आर्थिक मामलों में राज्य द्वारा अहस्तक्षेप (Non-Inteference) मूल मूल सिद्धान्त माने जाते थे। कई बार यह माना जाता है कि प्रत्येक अर्थव्यवस्था एक मिश्रित अर्थव्यवस्था होती है और मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा न तो सुस्पष्ट है और न ही उपयुक्त है। हालांकि यह माना जाना चाहिए कि नियोजित अर्थव्यवस्था तथा बाजार अर्थव्यवस्था की अवधारणाएं अपनी निश्चित विचारधारात्मक एवं कार्यमूलक रूपरेखाएं रखती है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा इन दोनों अतिवादी स्थितियों के बीच की स्थिति का प्रतिनिधित्व करती है। यह अवधारणा लचीली है और आर्थिक, राजनैतिक तथा सामाजिक मुद्दो को तय करने के इसके अपने साधन एवं तरीके है। मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा की स्पष्ट समझ हासिल करने के लिए पूंजीवाद एवं समाजवाद की विशेषताओं पर चर्चा करनी होगी।

3.2.1 पूंजीवाद

पूंजीवाद को निजी पहलकदमी पर जोर देने वाली एक ऐसी आर्थिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया गया है जिसमें बाजार अर्थव्यवस्था केन्द्रीय भूमिका निभाती है, मुनाफा (लाभ) कमाना उद्देश्य होता है तथा उत्पादन के साधनों पर निजी व्यक्तियों तथा निगमों का स्वामित्व रहता है। पूंजीवाद के तहत खेत, कारखाने, परिवहन आदि उत्पादन के साधनों का स्वामित्व एवं नियंत्रण निजी व्यक्तियों तथा उद्यमों के हाथों में केन्द्रित रहता है। निजी लाभ कमाने के उद्देश्य से वे लोग जो उत्पादन के इन साधनों के मालिक होते है, इनका मन चाहा उपयोग कर सकते है। सरकार जनता की आर्थिक गतिविधियों में न्यूनतम भागीदारी करते है। सरकार, केवल रक्षा, विदेशी मामलों मुद्रा तथा सिक्कों जैसे मामले तथा सड़कों, पुलों आदि के निर्माण जैसे कुछ महत्वपूर्ण नागरिक कार्यों को देखती है, जिससे इस तरह के कार्यों को निजी व्यक्ति लाभ का सौदा न बना ले। एडम स्मिथ का यह मत था कि व्यक्तियों तथा समाज के हितों के बीच तालमेल रहना चाहिए। इस तरह आर्थिक गतिविधियों में सरकार की कोई भूमिका

नहीं है। दरअसल इस प्रकार की गतिविधियों को हाथ में लेने के लिए राज्य जन्मजात रूप से अक्षम था। राज्य उपक्रम का मतलब है समाज के स्त्रोतों का दुरूपयोग। चीजों को स्वयं अपने हिसाब से निश्चित होने की इजाजत दी जानी चाहिए तथा इसी के चलते, जनता की आर्थिक गतिविधियों का दिशा-निर्देशन करने के लिए नियोजन अथवा किसी पूर्व निर्धारित रूपरेखा की कोई आवश्यकता नहीं थी।

पूंजीवाद के अनिवार्य तत्वों का अध्ययन करते हैं-

- **निजी सम्पत्ति का अधिकार-** विभिन्न उत्पादन के साधन व्यक्तियों की निजी सम्पत्ति होते है निजी व्यक्तियों द्वारा उन्हें इच्छानुसार रखा अथवा बेचा जा सकता है। इस अधिकार में ही, पुत्र-पुत्रियों अथवा अन्य को कानूनी उत्तराधिकारी होने का अधिकार भी निहित है।
- **उद्यमशीलता की स्वतंत्रता-** व्यक्ति द्वारा ऐसे किसी भी व्यापार अथवा उपक्रम को प्रारंभ करने के अधिकार पर कोई पाबन्दी नहीं है जिसके लिए उसके पास समुचित साधन उपलब्ध हो।
- **लाभ कमाने की उत्सुकता-** मुनाफा (लाभ) कमाने की ललक पूंजीवादी व्यवस्था की आत्मा है। यह लाभ ही है न कि कोई परोपकारी भावना, जो कि किसी उद्यमी को किसी आर्थिक गतिविधि में निवेश करने के लिए प्रेरित करती है।
- **प्रतिस्पर्धा-** प्रतिस्पर्धा उत्पादकों, विक्रेताओं, खरीददारों, रोजगार की तलाश करने वालों, रोजगार देने वाले स्वामियों, निवेशकर्ताओं आदि सभी के बीच जारी रहती है। लागत नियंत्रण, मूल्य कटौती, विज्ञान इत्यादि द्वारा इसे प्राप्त किया जा सकता है।
- **उपभोक्ता की भूमिका-** किसी मुक्त बाजार अर्थव्यवस्था में उपभोक्ताओं की इच्छाएं तथा प्राथमिकताएं आर्थिक गतिविधि को निर्देशित करती है। व्यवस्था में उपभोक्ता की निर्णायक भूमिका हो जाती है।
- **मूल्य व्यवस्था-** यह मूल्य क्रियाविधि ही है जो पूंजीवादी अर्थव्यवस्था को स्वचालित, ढंग से बिना किसी केन्द्रीय निर्देशन अथवा उत्पादन उपभोग पर नियंत्रण अथवा वितरण सम्बन्धी निर्णयों के संचालित रहने को संभव बनाती है।
- **आय की असमानताएं-** व्यक्तियों के बीच सम्पत्ति का असमान वितरण आय के असमान वितरण की तरफ ले जाता है अमीर तथा गरीब की आमदनी के बीच एक चौड़ी खाई बनती चली जाती है।

चूंकि बुनियादी आर्थिक निर्णय लेने तथा विभिन्न प्रस्पिर्धापूर्ण उद्योगों के बीच उत्पादन स्त्रोतों का आवंटन करने के लिए, कोई केन्द्रीय नियोजन करने वाली सत्ता मौजूद नहीं होती, बाजार अर्थव्यवस्था मूल्य-क्रियाविधि का प्रयोग करती है जो अर्थव्यवस्था के संचालन में निर्णायक भूमिका अदा करती है। किसी भी असंतुलन का, ''मूल्य-क्रियाविधि तथा मांग पूर्ति'' अन्योन्यक्रिया के द्वारा स्वचालित ढंग से समाधन तथा सुधार कर लिया जाता है। उच्चतर क्षतिपूर्ति के माध्यम से उचित कार्यकुशलता तथा कठिन परिश्रम के लिए समुचित पुरस्कार दिए जाते है। बचत करने तथा निवेश करके वर्तमान एवं भावी पीढियों को उच्चतर आय उपलब्ध कराने के लिए भी प्रोत्साहन पुरस्कारों का प्रावधान रहता है। बाजार क्रियाविधि उद्यमियों को, उच्चतर मुनाफे हेतु जोखिम उठाने, तथा तकनीकी प्रगति को ऊपर उठाने वाली नवीनता लाने के लिए भी सक्षम बनाती है। पूंजीवाद कठोर नहीं बल्कि एक विकासमान तथा गतिशील अवधारणा है। इसने सफलतापूर्वक अनेक संकटो का सामना किया हैं और अपेक्षाकृत मजबूत होकर उनसे बाहर निकला है।

पूंजीवाद का एक बदसूरत व खौफनाक चेहरा भी है। यह समाज को, एक तरफ ऐसे लोगों जो कि अश्लीलता की हद तक अमीर होते है और आडम्बरपूर्ण उपभोग करने में लिप्त रहते है, तथा दूसरी तरफ ऐसे लोगों में जो इस धरती पर सबसे अधिक भाग्यहीन और दयनीय होते है जिन्हें दो समय का खाना भी नसीब नहीं होता, विभाजित कर देता

है। आय की असमानताओं के द्वारा जो लगातार बढती चली जाती है, प्रोत्साहन पुरस्कारों की व्यवस्था भी व्यर्थ हो जाती है। उपभोक्ता की प्रभुसत्ता एक भ्रम है। वास्तविकता यह है कि बड़े-बड़े निगम उस बाजार को नियंत्रित करते है जो उन्हीं के हितों की सेवा करता है और यहां तक कि 'उपभोक्ता को भी वे अपनी आवश्यकता के अनुरूप ढाल लेते है।' पूंजीवाद द्वारा समाज पर थोपे गये बोझ की सामाजिक कीमत मुद्रास्फीति, बेरोजगारी तथा अत्यधिक उतार-चढाव की शक्ल में चुकानी पड़ती है। प्रो. गैलब्रैथ पूंजीवाद की निरर्थकता का सारांश इस तरह बताते है कि, ''बहुत कुछ ऐसा है जिसे बाजार उपयोगी ढंग से प्रोत्साहित एवं पूरा कर सकता है, चूंकि यह किसी व्यक्ति को अंतरिक्ष में नहीं पहुंचा सकता, इसी तरह वहां जहां पहले इस्पात बनाने की मामूली क्षमता रही हो या क्षमता हो ही नहीं, यह तत्काल इस्पात का कारखाना पैदा नहीं कर सकता। ना ही यह तुरन्त (तत्काल) कोई एकीकृत अद्योगिक उद्यम निर्मित कर सकता है। महत्वपूर्ण बात यह है कि कोई भी इस बात से आश्वस्त नहीं रह सकता कि यह उन देशों में ऐसा करेगा जहां विकास पिछडा हुआ है और जहां न केवल विकास की आवश्यकता है अपितु एक अतिआवश्यक मांग भी है कि वैसा तुरन्त होना चाहिए। बाजार पर विश्वास करना, इस अप्रत्याशित जोखिम को उठाना है कि कुछ भी नहीं हो पाएगा अथवा बहुत थोड़ा ही कुछ होगा।''

3.2.2 समाजवाद

समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन है जिसमें उत्पादन के भौतिक साधनों पर सम्पूर्ण समाज का स्वामित्व रहता है, एक सामान्य आर्थिक योजना के तहत इस तरह के समाजवादी नियोजित उत्पादन के परिणामों का समाज के सभी सदस्य समान अधिकारों के आधार पर लाभ प्राप्त करने के योग्य (पात्र) होते हैं। इसके विपरीत, लोकतांत्रिक, समाजवाद कम से कम सामरिक महत्व रखने वाले उत्पादन के भौतिक साधनों पर समाज के स्वामित्व, जबकि साथ ही साथ उपभोग तथा व्यवसाय, दोनों के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता दिए जाने की विलक्षणता से पहचाना जाता है।

समाजवाद के लक्षण/विशेषताऐं

- समाजवादी समाज का सर्वप्रथम उद्देश्य निर्धनता समाप्त करना और राष्ट्रीय न्यूनतम की व्यवस्था करना।
- समाजवादी अर्थव्यवस्था का लक्ष्य आय और सम्पत्ति की असमानताएं कम करना।
- समाजवादी अर्थव्यवस्था का एक उद्देश्य सबको समान अवसर प्रदान करना।
- सार्वजनिक और सहकारी क्षेत्र के विस्तार में आस्था किन्तु समग्र राष्ट्रीयकरण में आस्था न होना।
- समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक शक्ति के संकेन्द्रण और एकाधिकारी प्रवृतियों को पनपने से रोकने का प्रयास किया जाना।
- समाजवादी अर्थव्यवस्था में आर्थिक निर्णय करने की मूल कसौटी निजी लाभ नहीं अपितु सामाजिक लाभ होती है।
- वैयक्तिक और सामाजिक जीवन की सम्पन्नता के लिए लोकतांत्रिक मूल्यों में आस्था।

लोकतांत्रिक समाजवाद, जो कि समाजवाद का अपेक्षाकृत नरम स्वरूप है, पूंजीवाद के साथ, निजी क्षेत्र के अस्तित्व, आय की असमानता, उपभोक्ताओं तथा उत्पादकों की स्वतंत्रता तथा मूल्य क्रियाविधि का अस्तित्व आदि समानताएं रखता है। समाजवाद, पूर्णरोजगार, उच्च प्रगतिदर श्रम की प्रतिष्ठा तथा श्रमिकों के शोषण की अनुपस्थिति, अपेक्षाकृत समान आधार पर आय तथा धन का वितरण तथा पूंजीवादी उत्पादन व्यवस्था के साथ जुडी हानियों से मुक्ति आदि सुनिश्चित करता है।

इन गुणों के विपरीत, यह व्यवस्था कार्यकुशलता तथा उद्यमशीलता में गिरावट का मार्ग प्रशस्त करती है, तथा कठिन परिश्रम तथा पहलकदमी के लिए प्रोत्साहन पुरस्कार का अभाव होता है। इसमें अत्यधिक विचाराधारात्मक दृढ़ता होती है जो कि परिणामों के परवाह किए बिना आर्थिक निर्णय प्रक्रिया में व्याप्त रहती है। सत्ता का राज्य के हाथों में केन्द्रीकरण हो जाता है जो कि निवेश उत्पादन, वितरण तथा उपभोग से सम्बन्धित सभी निर्णय करता है। यह नौकरशाही, लालफीताशाही तथा प्रशासन की एक अत्यन्त बोझिल एवं महंगी प्रणाली के तरफ ले जाता है जो जनता का कोई भला नहीं कर सकती। स्त्रोतों का आवंटन मनमाने ढंग से किया जाता है क्योंकि इसके लिए कोई तर्काधार अथवा व्यवहारिक मूल्य प्रणाली नहीं होती जो कि प्रायः आवंटन निर्णयों का मार्गदर्शन करती है। प्रतिस्पर्द्धा के अभाव के चलते उत्पादन अकुशल तथा महंगा होता है और प्रायः विशेष रूप से उपभोक्ता वस्तुओं की कमी रहती है।

3.2.3 मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण

पूंजीवाद तथा समाजवाद की दो अतिवादी अवधारणाओं की व्याख्या कर लेने के बाद, मिश्रित अर्थव्यवस्था को कार्यमूलक आधारों पर परिभाषित करना संभव है। एक मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण निम्न हैं-

1. बाजार अर्थव्यवस्था तथा नियोजन क्रियाविधि के बीच एक संतुलन।
2. सार्वजनिक क्षेत्र तथा निजी क्षेत्र के बीच सुस्पष्ट विभाजन रेखा जिससे कि मूलभूत क्षेत्र तथा सामरिक क्षेत्र र्निअपवाद रूप से सार्वजनिक क्षेत्र में ही रहे।
3. निजी क्षेत्र में, जबकि लाभ कमाने की प्रकृति निर्णय प्रक्रिया को प्रभावित करती है, सार्वजनिक क्षेत्र में निवेश के लिए आर्थिक स्थिरता मानदण्ड, सामाजिक लागत लाभ विश्लेषण पर आधारित रहता है।
4. सार्वजनिक क्षेत्र, निजी क्षेत्र, संयुक्त क्षेत्र तथा सहकारी क्षेत्र के बीच उत्पादन के साधनों के स्वामित्व का इस तरह से निर्णय किया जाता है कि व्यक्तिगत तथा सामाजिक प्रोत्साहनों एवं विभागीय तथा आम हितों के बीच एक संतुलन बना रहे।
5. इसमें व्यवसाय सम्बन्धी स्वतंत्रता तथा उपभोक्ता की पसंद की स्वतंत्रता होती है।
6. आर्थिक सत्ता के अनुचित केन्द्रीकरण तथा इजारेदारी व नियंत्रित व्यापार प्रचलनों की रोकथाम के लिए सरकार हस्तक्षेप करती है।
7. सरकार सार्वजनिक वितरण प्रणाली, गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों इत्यादि द्वारा समाज के कमजोर वर्गों के उपभोग के स्तरों तथा लक्ष्यों का ध्यान रखने का प्रयास करती है।
8. समता, रोजगार, संतुलित क्षेत्रीय विकास, परिवार कल्याण के सामाजिक लक्ष्यों पर बल दिया जाता है।
9. समाजवाद की सैद्धान्तिक कठोरताओं से बचा जाता है और प्रायः आर्थिक प्रगति को बढाने के लिए निर्णय प्रक्रियाओं में एक व्यावहारिक दृष्टिकोण अपनाया जाता है।
10. मिश्रित अर्थव्यवस्था केवल एक आर्थिक अवधारणा नहीं है अपितु व्यक्तियों के अधिकारों का सार्वजनिक कानून और व्यवस्था तथा नैतिकता की आवश्यकताओं के अनुरूप सम्मान तथा संरक्षण किया जाता है।
11. निजी व सार्वजनिक क्षेत्रों का सह-अस्तित्व।
12. प्रशासित मूल्य।
13. आर्थिक नियोजन।

प्रत्येक देश को केवल इसलिए मिश्रित अर्थव्यवस्था की संज्ञा दे देना गलत है कि उस व्यवस्था में पूंजीवाद तथा समाजवाद के कुछ लक्षण विद्यमान है। इस परीक्षा के आधार पर, संयुक्त राज्य अमेरिका पूंजीवादी देश है तथा पूर्व सोवियत संघ व चीन को समाजवादी देशों के रूप में वर्गीकृत किया जा सकता है। केवल मिश्रित अर्थव्यवस्था के

कुछ लक्षणों का उपस्थित रहना पर्याप्त नहीं है। ये उनकी प्रमुख विशेषताएं नहीं है। भारत, फ्रांस, आस्ट्रिया, स्वीडन, नार्वे तथा इजराईल आदि देशों में मिश्रित अर्थव्यवस्थाएं है। किसी भी मिश्रित अर्थव्यवस्था में संरचनागत लक्षण होने चाहिए तथा उसे सामाजिक जनवादी विचारधारा का अनुसरण करना चाहिये। विकेन्द्रीकृत समाजवादी बाजार पर अधिक बल देने वाले देश, आवंटन सम्बन्धी पहलू को देखते हुए मिश्रित अर्थव्यवस्था की तरफ लगभग अग्रसर हुए है अथवा उसकी दिशा में बढ रहे है। सम्पत्ति व आय के समतावादी वितरण पर अधिक जोर देने वाले पूंजीवादी देश (जापान, ताईवान, सिंगापुर तथा दक्षिण कोरिया) दूसरी ओर से मिश्रित अर्थव्यवस्था की तरफ बढ रहे है।

इस तरह, यद्यपि मिश्रित अर्थव्यवस्था पूंजीवाद तथा समाजवाद का एक मिश्रित रूप है, फिर भी इसकी अपनी पृथक पहचान है। शुद्ध पंजीवाद तथा शुद्ध समाजवाद की अतिवादी आर्थिक प्रणालियों के दुर्गुणों से मिश्रित अर्थव्यवस्था में बचा जाता है। यह एक बीच का रास्ता प्रस्तुत करती है।

3.3 भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की उत्पति

स्वतंत्र प्राप्ति के पूर्व भारत में पूंजीवादी अर्थव्यवस्था थी, क्योंकि देश में ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीतियां पूर्णरूपेण लागू थी। ब्रिटिश सरकार की व्यापारिक नीतियों पूर्णरूपेण पूंजीवादी थी व इसमें व्यापारिक गतिविधियों (पूंजी का) का वर्चस्व था। साथ ही ब्रिटेन ने जब-जब अपनी आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियों में परिवर्तन किया तब-तब भारत को भी अपनी आर्थिक एवं व्यापारिक नीतियों में उसी के अनुरूप परिवर्तन करने के लिए विवश होना पडा, परन्तु स्वतत्रंता प्राप्ति के पश्चात देश की अर्थव्यवस्था को तीव्र गति से विकसित करने की अत्यधिक आवश्यकता थी। अतः देश में सर्वप्रथम 6 अप्रैल 1948 को प्रथम अद्योगिक नीति के लागू होने से ही मिश्रित अर्थव्यवस्था की शुरूआत हुई। मिश्रित अर्थव्यवस्था के माध्यम से जहां एक ओर व्यक्तिगत स्वतंत्रता को स्थान मिलता है, वहीं दूसरी ओर सरकारी नियंत्रण भी बना रहता है। भारत, मिश्रित अर्थव्यवस्था के लक्ष्य को अपनाकर समस्त नियोजन प्रक्रिया सम्पन्न कर रहा है। हमारे देश की पंचवर्षीय योजनाएं देश में मिश्रित अर्थव्यवस्था का उल्लेखनीय उदाहरण है। इन योजनाओं में सार्वजनिक एवं निजी दोनों क्षेत्रों को पर्याप्त स्थान दिया गया है। देश में जहां एक ओर सरकार सार्वजनिक क्षेत्र का विस्तार कर रही है, वहीं दूसरी ओर निजी क्षेत्र में व्यक्तिगत स्वतंत्रता व विकास को पर्याप्त स्थान दिया जा रहा है। प्रथम पंचवर्षीय योजना के समय से ही भारतीय नीति निर्धारकों ने तय किया कि राज्य को न केवल अधिरचनागत सुविधाएं तथा सामाजिक ऊपरी व्ययों को उपलब्ध कराने का दायित्व ग्रहण करना चाहिए बल्कि प्रत्यक्ष उन्नति के कार्यों को भी अपने हाथ में लेना चाहिए। इस बात का मान्यता दी गई कि सरकार को अद्योगिक क्षेत्र में हस्तक्षेप करना चाहिए और तदनुसार मूलभूत एवं सामरिक उद्योगों को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए निर्धारित किया गया। इस तथ्य को भी स्वीकार किया गया कि देश के आर्थिक विकास का कार्यभार इतना अधिक व्यापक है कि अधिकतम प्रगति के लिए निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र, दोनों ही की पहलकदमी को इसमें जोड़ना होगा। मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा का विकास किया गया जिससे निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र दोनों ही प्रगति की प्रक्रिया में योगदान कर सके। यह विचार किया गया कि कृषि, संगठित उद्योगों, लघु उद्योग इकाइयों, व्यापार तथा निर्माण के क्षेत्रों में व्यक्तिगत उद्यमशीलता तथा पहलकदमी परिवर्तन का सबसे अच्छा उत्प्रेरक रहेगी। 1956 के अद्योगिक नीति प्रस्ताव की घोषणा के साथ ही, मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा को एक निश्चित स्वरूप एवं नीतिगत दिशा प्रदान की गई।

3.3.1 1956 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव

भारत की प्रथम अद्योगिक नीति 1948 के पश्चात् देश में अनेक महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए जिनके कारण एक नयी अद्योगिक नीति की आवश्यकता महसूस होने लगी। नवीन अद्योगिक नीति की आवश्यकता के सम्बन्ध में

तत्कालीन प्रधानमंत्री पं. जवाहर लाल नेहरू ने संसद में कहा था कि 'प्रथम अद्योगिक नीति की घोषणा के बाद इन आठ वर्षों में भारत में काफी अद्योगिक विकास तथा परिवर्तन हुए है।' भारत का नया संविधान बना, जिसके अन्तर्गत मौलिक अधिकार और राज्य के प्रति निर्देशक सिद्धान्त घोषित किये गये है। प्रथम योजना पूर्ण हो चुकी है और सामाजिक तथा आर्थिक नीति का प्रमुख उद्देश्य समाजवादी समाज की स्थापना करना मान लिया गया हैं, अतः आवश्यकता इस बात की है कि इन सभी बातों तथा आदर्शों के प्रति इंगित करते हुए एक नई अद्योगिक नीति की घोषणा की जाए।

अतः भारत की नवीन अद्योगिक नीति की घोषणा 30 अप्रैल 1956 को संसद द्वारा एक नया अद्योगिक नीति प्रस्ताव स्वीकृत किया गया। इस नीति में उद्योगों को तीन वर्गों में विभाजित किया गया-

1. वे उद्योग जिनके निर्माण का पूर्ण उत्तरदायित्व राज्य पर होगा।
2. वे उद्योग जिनकी नवीन इकाइयों की स्थापना साधारणतः सरकार करेगी, लेकिन निजी क्षेत्र से यह आशा की जायेगी कि वह इस प्रकार के उद्योगों के विकास में सहयोग दें।
3. शेष सभी उद्योग जिनकी स्थापना और विकास सामान्यतः निजी क्षेत्र के अधीन होगा। इस नीति में उद्योगों का वर्गीकरण तीन अनुसूचियों में किया गया है -

    - अनुसूची 'क'- इनमें 17 उद्योगों को सम्मिलित किया गया है, जिसके भावी विकास का सम्पूर्ण दायित्व सरकार पर होगा। इस अनुसूची में सम्मिलित किये गये उद्योग इस प्रकार हैं- अस्त्र-शस्त्र और सैन्य सामग्री, अणुशक्ति, लौह एवं इस्पात, भारी मशीनें, बिजली का सामान कोयला, खनिज तेल, लौह धातु तथा तांबा, मैगनीज, हीरे व सोने की खानें, सीसा एवं जस्ता आदि खनिज पदार्थ, विमान निर्माण, वायु परिवहन, रेल परिवहन, टेलीफोन तार और रेडियो उपकरण, विद्युत शक्ति का जनन और उसका वितरण। उपरोक्त समस्त उद्योग पूर्णतया सरकार के अधिकार क्षेत्र में रहेंगे।
    - अनुसूची 'ख'- इस वर्ग में वे उद्योग रखे गये है जिनके विकास में सरकार उतरोत्तर अधिक भाग लेगी। अतः सरकार इनकी नई इकाइयों की स्थापना स्वयं करेगी लेकिन निजी क्षेत्र से भी आशा की गई कि वह भी इसमें सहयोग देगा। इस वर्ग में 12 उद्योग शामिल किये गये- अन्य खनिज, एल्युमिनियम एवं अन्य अलौह धातुएं, मशीन औजार, लौह मिश्रित धातु, औजारी इस्पात, रसायन उद्योग, औषधियां, उर्वरक कृत्रिम रबर, कोयले से बनने वाले कार्बनिक रसायन, रासायनिक घोल, सडक परिवहन एवं समुद्री परिवहन। इस वर्ग को मिश्रित क्षेत्र की संज्ञा दी जा सकती है।
    - अनुसूची 'ग'- इस वर्ग में शेष समस्त उद्योगों को रखा गया है तथा जिनके विकास व स्थापना का कार्य निजी और सहकारी क्षेत्र पर छोड दिया गया, परन्तु इनके सम्बन्ध में सरकारी नियंत्रण एवं नियमन की व्यवस्था की गई। इस वर्ग को निजी क्षेत्र की संज्ञा दी जा सकती है। इन उद्योगों पर अद्योगिक उदविकास एवं विनियमन अधिनियम 1951 तथा अन्य सम्बन्धित कानून लागू रहेगें।

इन बातों के अलावा प्रस्ताव में जोर देकर कहा गया था कि निजी उद्योगों के साथ निष्पक्ष तथा भेदभाव रहित व्यवहार किया जायेगा तथा परिवहन सुविधाओं के विकास तथा वित्तीय सहायता उपलब्ध कराकर उनके विकास को प्रोत्साहन दिया जायेगा। प्रस्ताव में स्वीकार किया कि निजी क्षेत्र स्वयं देश का तीव्र अद्योगिक रण नहीं कर सकता। इसलिये, इसने सार्वजनिक क्षेत्र के उद्योगों को आगे बढाने का निर्णायक तथा विस्तारित मौका प्रदान

किया। साथ ही देश के अद्योगिक ढांचे में निजी क्षेत्र को एक महत्वपूर्ण स्थान सुनिश्चित किया गया। प्रस्ताव ने ग्रामीण, कुटीर तथा लघु उद्योगों की महत्वपूर्ण भूमिका को भी स्वीकार किया।

3.3.2 1977 का औद्योगिक नीति प्रस्ताव

23 दिसम्बर 1977 के नए उद्योग नीति प्रस्ताव ने 1956 के प्रस्ताव की इस आधार पर कड़ी आलोचना की, कि ''बेरोजगारी में वृद्धि हो गयी, ग्राम तथा नगर में असमानता की खाई चौडी हो गई और वास्तविक निवेश की दर अवरूद्ध हो गयी, अद्योगिक उत्पादन की दर औसत 3.4 प्रतिशत प्रतिवर्ष से बढ नहीं पायी। अद्योगिक रूग्णता का आयात विस्तृत हो गया और मुख्य उद्योगों पर बहुत ही बुरा असर पड़ा। अद्योगिक लागतों एवं कीमतों के ढांचे में भी विकृति आयी और बड़े नगरों से दूर अद्योगिक नीति क्रिया का प्रसार बहुत ही धीमा रहा।'' आलोचना के अन्य बिन्दु थे कि अन्तर्राष्ट्रीय शक्तिशाली अद्योगिक समूहों ने संरक्षित भारतीय बाजार में घुसपैठ कर ली है तथा बड़े अद्योगिक घरानों की इजारेदारी में वृद्धि हुई है। नई नीति ने लघु उद्योगों, कुटीर एवं घरेलू उद्योगों के तीव्र विकास पर बल दिया। कुटीर उद्योगों के संरक्षण तथा सहायता हेतु कानून बनाने की भी घोषणा की गई। आर्थिक सत्ता के केन्द्रीकरण को रोकने हेतु इस नीति में बड़े अद्योगिक घरानों को नए उद्योगों की स्थापना तथा पुराने उद्योगों के विस्तार के क्रम में प्रतिबन्धित किया गया था। भारतीय उद्योगों के विकास के लिए यथासंभव भारतीय तकनीक प्रयुक्त की जाएगी तथा जिस क्षेत्र में भारतीय तकनीक उपलब्ध न होगी उसी में विदेशी तकनीक को ग्रहण किया जायेगा। गांवों तथा लघु उद्योगों को उच्चतर महत्व प्रदान करने तथा साथ ही साथ बड़े अद्योगिक घरानों में असुरक्षा की भावना पैदा करने के अलावा, नई नीति की कोई खास उपलब्धियां नहीं हो सकी।

3.3.3 1980 की औद्योगिक नीति प्रस्ताव

1980 की अद्योगिक नीति के प्रस्ताव में यह कहा गया कि, ''1956 की अद्योगिक नीतिगत उद्घोषणा हमारे देश में मूल्यों को प्रतिबिम्बित करती है तथा सकारात्मक लचीलेपन के गुणों को उसने निष्कर्ष के रूप में प्रदर्शित किया है। इस प्रस्ताव की दृष्टि से, देश में आर्थिक अधिरचना की मीनारों को खड़ा करने का कार्यभार सार्वजनिक क्षेत्र को, उसकी बेहतर विश्वसनीयता के कारण, सौंपा गया, क्योंकि आर्थिक विकास के लिए परियोजनाओं में अत्यधिक निवेशों की आवश्यकता थी और उनके निर्माण कार्यों की अवधि भी लम्बी थी। इसलिए 1956 का प्रस्ताव इस वक्तव्य का आधार प्रदान करता है। नीति के तहत स्थापित उत्पादन क्षमता का अधिकतम उपयोग करना, उत्पादन तथा उत्पादकता में वृद्धि करना, अद्योगिक दृष्टि से पिछड़े क्षेत्रों को प्राथमिकता देकर क्षेत्रीय असंतुलनों को दूर करना, सार्वजनिक क्षेत्र के प्रति विश्वास जागृत करना, आर्थिक संघवाद को प्रोत्साहित करना तथा सभी के सहयोग से स्वावलम्बी, गतिशील, बहुआयामी तथा आधुनिक अर्थव्यवस्था का विकास करना, आदि को वरीयता दी गई।

3.3.4 1991 की नई औद्योगिक नीति

24 जुलाई 1991 को एक नई अद्योगिक नीति की घोषणा इसलिए की गई, क्योंकि उस समय देश घोर आर्थिक संकट के दौर से गुजर रहा था और सरकार के पास बहुत सारे विकल्प नहीं थे। बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय परिदृश्य तथा राष्ट्रीय आवश्यकताओं के अनुरूप एक ऐसी व्यावहारिक आर्थिक नीति का निर्माण तथा क्रियान्वयन करना था जो अर्थव्यवस्था को एक सार्थक दिशा दे सके। अद्योगिक उदारीकरण की दिशा में बनी यह नीति खुली, उदार तथा क्रान्तिकारी नीति कहलाई। इस नीति में अर्थव्यवस्था में खुलापन लाने, विदेशी सहयोग तथा भागीदारी को बढावा देने, सार्वजनिक क्षेत्र को प्रतिस्पर्द्धा के योग्य बनाने, पिछड़े क्षेत्रों का अद्योगिक विकास करने निजी क्षेत्र को अद्योगिक स्वतंत्रता प्रदान करने, आदि को वरीयता दी गई।

3.4 भारत में निजी एवं सार्वजनिक क्षेत्र

आईये भारत में निजी क्षेत्र और सार्वजनिक क्षेत्र की विस्तार से चर्चा करते हैं-

3.4.1 निजी क्षेत्र

आजादी से पहले रेल और डाक-तार आदि कुछ सरकार के विभागीय प्रतिष्ठानों को छोड़ कर अद्योगिक क्षेत्र में और साथ ही पूरी अर्थव्यवस्था पर निजी क्षेत्र का ही वर्चस्व था। तत्कालीन ब्रिटिश सरकार का तो मानो निजी क्षेत्र के साथ गठबन्धन ही हो गया था। आजादी के मिलने और देश में राष्ट्रीय सरकार की स्थापना हो जाने पर यह स्थिति बदल गयी। सरकार ने मिश्रित अर्थव्यवस्था को अपना उद्देश्य बनाया। भारत द्वारा अपनाई गई मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा में निजी क्षेत्र के तत्काल राष्ट्रीयकरण के विचार को खारिज करना, अन्तर्निहित है। पुनः इसमें, एक नियंत्रित निजी क्षेत्र तथा तेजी से विस्तृत होता सार्वजनिक क्षेत्र, एक नियंत्रित निजी क्षेत्र तथा तेजी से विस्तृत होता सार्वजनिक क्षेत्र, विशेष रूप से इस्पात, इंजीनियरिंग, खाद्य ऊर्जा तथा परिवहन जैसे मूलभूत तथा भारी उद्योगों का विचार निहित है। निजी क्षेत्र, कृषि तथा उससे जुडी गतिविधियों, खुदरा तथा अधिकांश थोक व्यापार में, कुटीर, ग्रामीण तथा लघु उद्योगों तथा कपडा, जूट सीमेन्ट, चीनी, रेडियो रिसीवर जैसे अधिकांश उपभोक्ता मामलों तथा अन्य ढेर सारे उपभोक्ता मामलों के उद्योगों में प्रमुखता रखता है। इंजीनियंरिग, रसायन, इलेक्ट्रानिकी, आदि जैसे अनेक पूंजीगत उद्योग भी निजी क्षेत्र में है। सार्वजनिक क्षेत्र के विस्तार-विकास के बावजूद आर्थिक जीवन पर अभी निजी क्षेत्र का ही प्रभुत्व है। लगभग 80 (अस्सी) प्रतिशत आर्थिक कार्यकलाप इसी क्षेत्र के अन्तर्गत आते है। अद्योगिक क्षेत्र में भी जहां इन दोनों के सापेक्ष योगदान के बारे में बड़ा विवाद रहा है, निजी क्षेत्र अपना अधिक महत्व बनाए हुए है।

भारत में निजी क्षेत्र को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- संगठित क्षेत्र और असंगठित क्षेत्र।

संगठित क्षेत्र का आधुनिकीकरण हो चुका है, वह उत्पादन के पूंजी सघन उपाय अपनाता है और पूंजी बाजारों एवं बैकों तक उसकी आसान पहुंच है। यह संचार के आधुनिक तरीकों का उपयोग करता है तथा अपनी आवश्यकता के अनुसार मांग की जोड़-तोड़ करने के लिए सभी तरीके अपनाता है। इस क्षेत्र की सभी गतिविधियों का उद्देश्य लाभ कमाना है। इस क्षेत्र के लिए नियोजन का प्रमुख तरीका अर्थव्यवस्था को इस तरह संगठित करना है, ताकि उत्पादकों का पर्याप्त सुविधाएं व निवेश प्राप्त हो सके तथा वे नियेाजित उत्पादन लक्ष्यों को प्राप्त करने हेतु अपनी गतिविधियों को अत्यन्त लाभकारी बना सके। अपेक्षाकृत अधिक जोखिम वाले तथा लम्बी अवधि में निर्मित होने वाली परियोजनाओं तथा अधिरचनाओं को सार्वजनिक क्षेत्र के लिए छोड़ दिया गया है।

तीव्र गति से अद्योगिक रण करने की अपनी इच्छा के चलते भारत ऐसे अनेक उद्योगों का विकास करना चाहता था, जो विदेशों से प्रतिस्पर्द्धा का सामना नहीं कर सकते। विदेशी मुद्रा की कमी तथा उसे संचित करने की आवश्यकता के चलते आयातों पर नियंत्रण करना पड़ा। तुलनात्मक लाभ की परवाह किये बिना आयात-प्रतिस्थापन को बढावा दिया गया। अपने उत्पादन के लिए आयात की आवश्यकता वाले उद्योगों को इसी शर्त पर मंजूरी दी गई कि वे यथाशीघ्र आयातित वस्तुओं का घरेलू उत्पादन शुरू कर देगें और इस संदर्भ में लागतों पर शायद ही कोई विचार किया गया हो। प्रो. डी.टी. लक्कडवाला के अनुसार, ‘‘कभी-कभी आवश्यकता से अधिक लाईसेन्स दे दिये जाते थे, किन्तु ऐसी स्थिति में जब यह मालूम पड़ता था कि अधिक उत्पादन हो गया है तो नए लाईसेंस जारी करना तब तक के लिए रोक दिया जाता था जब तक कि मांग, आपूर्ति से आगे न निकल जावें। उत्पादन के लिए आयात की पूर्ण आवश्यकताओं, तकनीक का आयात, विदेशी पूंजी तथा गठबन्धन आदि सभी मुश्किल से ही स्वीकृत किये जाते थे, ताकि संगठित क्षेत्र में हो रहा उत्पादन ऊंचा मुनाफा देता रहे। लाभ, यद्यपि प्रायः लेखा बहियों में प्रदर्शित आंकडों से कहीं ऊंचे होते थे। मूल्य एवं वितरण नियंत्रणों ने प्रायः केवल उत्पादन

तथा लाभ को भूमिगत करने तथा अपेक्षाकृत कम नियंत्रण वाले प्रवाहों में उत्पादन को स्थानान्तरित करने में ही योगदान दिया। सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था भ्रष्टाचार तथा कालेधन में जकड़नी शुरू हो गई तथा नौकरशाही व राजनैतिक तंत्र बड़े प्रतिभूति समूह बन गए।''

असंगठित निजी क्षेत्र विशाल क्षेत्र में फैला हुआ है और उस पर नीतिगत हस्तक्षेपों को लागू करना मुश्किल रहा है। दूसरी बात यह भी है कि जागरूकता, शिक्षा व प्रशिक्षण की कमी तथा उत्प्रेरक संस्थाओं के अभाव के कारण, यह क्षेत्र बराबर असंगठित क्षेत्र से प्रतियोगिता करता है और उसका अनुपूरक बन जाता है। इन अंतर्सम्बन्धों को व्यवस्थित करना कठिन रहा है। असंगठित क्षेत्र प्रायः एक निम्न तकनीक निम्न वेतन क्षेत्र रहा है तथा प्रायः व्यापार, ऋण इत्यादि के मामले में इसका शोषण होता रहा है। इस क्षेत्र को उपयोगी बनाने के लिए मूलभूत नीतिगत बदलाव की आवश्यकता है।

3.4.2 सार्वजनिक क्षेत्र

सभी तरह के उद्योगों का द्रुतगति से विकास करने और निजी क्षेत्र द्वारा मिश्रित अर्थव्यवस्था में उद्योग स्थापित किये जाने तथा उनका संचालन संभव बनाने के लिए यह आवश्यक था कि देश में समुचित आधारिक संरचना की व्यवस्था कर ली जाए। विकसित देशों में रेले, सडकें, बन्दरगाह, जल, शिक्षा-प्रशिक्षण की सुविधाएं उद्योगपतियों को स्वतः प्राप्त होती है। ये सुविधाएं भी ऐसे उद्यम है जिन्हें साधारणतः निजी क्षेत्र अपने हाथ में नहीं ले सकता। इनमें से अनेक तो लोक-कल्याण से जुडी सेवाएं है और उन्हें सामाजिक कारणों से निजी क्षेत्र की दया पर छोडा नहीं जा सकता। स्वतंत्रता से पूर्व, भारत में सार्वजनिक क्षेत्र जैसी कोई चीज व्यवहारतः विद्यमान नहीं थी। रेलवे डाकतार, टेलीग्राफ, गोला बारूद, कारखाने तथा अन्य कुछ चुनिंदा उद्योग ही सार्वजनिक क्षेत्र के तहत आते थे। यहां तक कि सार्वजनिक क्षेत्र की धारणा तथा कार्य की योजना भी अद्योगिक नीति 1948 और 1956 के प्रस्तावों में सम्मिलित की गई। इसी प्रकार संविधान में सम्मिलित राज्य नीति के निर्देशालय नियम भी चाहते हैं कि राज्य सुनिश्चित करे कि समाज के भौतिक साधनों के स्वामित्व एवं नियंत्रण को इस प्रकार वितरित किया जाये कि वह साझे भले में सहायक हो ताकि आर्थिक व्यवस्था का परिणाम धन का केन्द्रीकरण न हो तथा उत्पादन के साधन साझे निर्धारक हो। केवल यह विचार कि उत्पादन को निजी पूंजीवादियों के हाथों से स्थानान्तरित करके सार्वजनिक स्वामित्व में लाना चाहिये, कम से कम उतना पुराना है जितना कि मार्क्सवादी सिद्धान्त। सार्वजनिक क्षेत्र को सौंपे गये प्रमुख लक्षण निम्न हैं-

1. अद्योगिक संरचना में अंतर को समाप्त करके तीव्र आर्थिक विकास का संवर्धन करना।
2. अर्थव्यवस्था की वृद्धि के लिए संरचनात्मक सुविधाओं को बढाना।
3. देश के विकास के लिए युक्ति अनुसार महत्वपूर्ण आर्थिक गतिविधियां आरम्भ करना, ताकि निजी क्षेत्र के लिए छोड दिये जाने पर राष्ट्रीय भावना का लक्ष्य न बिगड़ जाये।
4. संतुलित क्षेत्रीय विकास का संवर्धन करना तथा प्राकृतिक साधनों एवं अन्य संरचना को कम विकसित क्षेत्रों में प्रयोग करना।
5. एकाधिकार को रोकना तथा शक्ति का कुछ हाथों में केन्द्रीकरण समाप्त करना।
6. समृद्ध एवं निर्धन के बीच का अन्तराल समाप्त करना तथा आय और सम्पत्ति में असमानताओं को कम करना।
7. भारी निवेश द्वारा विभिन्न क्षेत्रों में रोजगार के साधन उत्पन्न करना और बढाना।
8. सार्वजनिक वित्त संस्थाओं द्वारा सामाजिक नियंत्रण तथा नियमन का अभ्यास करना।
9. विभिन्न तकनीकों में आत्मनिर्भरता प्राप्त करना।
10. विदेश सहायता तथा विदेशी तकनीक पर निर्भरता को समाप्त करना।

11. वितरण प्रणाली, दुर्लभ आयात की गई वस्तुओं के निर्धारण को नियंत्रित करना।

12. निर्यात का संवर्धन और आयात को घटाना ताकि भुगतानों के सन्तुलन पर से दबाव कम हो।

सार्वजनिक क्षेत्र का प्रमुख योगदान, नए परिष्कृत उद्योगों का विकास, तथा मौजूदा सेवाओं को जनकल्याण की तरफ और अधिक प्रवृत करना रहा है। नई दक्षताएं निर्मित की गई तथा उद्योगों में व्यावसायिक प्रबन्धक जो कि अब तक केवल बहुराष्ट्रीय निगमों तक सीमित था, व्यापक स्तरों तक फैल गया। तीसरी योजना के समय से सार्वजनिक क्षेत्र में किए जाने वाले निवेश कुल योजना निवेशों के लगभग आधे से भी अधिक रखे गए। सामान्य सरकारी गतिविधियों तथा विभागीय उपक्रमों के अलावा, इस्पात, हैवी इलैक्ट्रीकल्स, गैर इलैक्ट्रीकल्स मशीनों मशीनी यंत्रों, इत्यादि जैसे मूलभूत तथा भारी उद्योग भी सार्वजनिक क्षेत्र में लगाए गए। ये ऐसे उद्योग थे जो लम्बे समय के बाद फलदायी होने थे तथा जोखिम भरे थे। यह सोचा गया कि आमतौर पर निजी क्षेत्र उनकी तरफ आकर्षित नहीं होगा और यदि यह तैयार हो गया तो ऐसी शर्तें रखेगा जो राष्ट्र को मंजूर नहीं हो सकती। बैंक, बीमा, तेल, कोयला तथा ऊर्जा के अपवादों को छोडकर निजी क्षेत्र की विद्यमान इकाइयों को छुआ भी नहीं गया। बड़े पैमाने पर रोजगार प्रदान नहीं कर रही बीमार अद्योगिक इकाइयों का राष्ट्रीयकरण भी किया गया। सार्वजनिक क्षेत्र के उपक्रमों का वित्तीय प्रदर्शन काफी निराशाजनक रहा है।

सार्वजनिक क्षेत्र के प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार कारकों में से कुछ निम्न प्रकार हैं-

- शहरी परिवहन, कोयला खाद आदि उद्योगों के संदर्भ में सरकार की न्यायपूर्ण मूल्य नीति, उत्पादन लागत तक की गैर-वसूली के लिए पूरी तरह जिम्मेदार है। संबद्ध सार्वजनिक उपक्रमों को सक्षम नहीं माना जा सकता यद्यपि वे मुनाफा नहीं दे पाए है।
- उपक्रमों की बड़ी संख्या की प्रकृति ही ऐसी है कि उनका निर्माण पूरा होने की अवधि काफी लम्बी होती है। और इस दीर्घ अवधि तथा हस्तक्षेपकारी मुद्रास्फीति की वजह से उनकी लागत कहीं अधिक बढ जाती है।
- राजनैतिक निर्णयों के कारण अत्यधिक कार्मिकों की भर्ती किया जाना।
- क्षमता को पूरी तरह उपयोग न किया जाना।
- निवेश-निर्णयों, विक्रय मूल्यों के निर्धारण, वेतन तथा आय नीतियां, स्थान का निर्णय तथा कार्मिक-नीति के मामलों में अत्यधिक सरकारी नियंत्रण।

सार्वजनिक क्षेत्र की विफलता की जड में उपक्रमों पर थोपे गए राजनैतिक तथा नौकरशाही नियंत्रण है। जब तक सभी मामलों में सार्वजनिक क्षेत्र के व्यावसायिक प्रबंधन को वास्तविक स्वायत्तता नहीं प्रदान की जाती, (व्यापारी-निर्णय में स्वायतत्ता) तब तक सार्वजनिक क्षेत्र का शायद ही कोई भविष्य हो सके।

3.5 मिश्रित अर्थव्यवस्था- आधुनिक रूझान तथा मूल्यांकन

भारत में अद्योगिक गतिविधि में तेज गति से विस्तार होता देखा गया, जिसका श्रेय मुख्यतः अद्योगिक तथा व्यापार नीतियों में किए गए सुधारों को ही दिया जा सकता है। नई नीति के प्रावधान इस प्रकार हैं-

1. उन 18 उद्योगों को छोड़कर जिनमें सामरिक अथवा पर्यावरण संबंधी चिन्ताएं सर्वोपरि हैं अथवा जिनमें उद्योगों द्वारा अत्यंत उच्च स्तरीय आयातित अवयव के साथ माल का उत्पादन किया जाता है, अन्य सभी परियोजनाओं को लाईसेंस से मुक्त कर दिया गया। इसके साथ ही 80 प्रतिशत उद्योगों को लाईसेंस की प्रणाली से बाहर निकाल लिया गया।

2. बड़ी कम्पनियों द्वारा क्षमता बढाने अथवा विविधता लाने के लिए पूर्व स्वीकृति प्राप्त करने की आवश्यकता को समाप्त करने हेतु एम.आर.टी.पी. अधिनियम में संशोधन किया गया। इससे भारतीय फर्मो को पर्याप्त शक्ति मिलेगी ताकि वे विश्व बाजार में प्रभावी प्रतियोगिता करने में सक्षम हो सकें।
3. सभी नयी परियोजाओं के लिए चरणबद्ध उत्पादन कार्यक्रम की अनिवार्यता को समाप्त कर दिया गया।
4. सार्वजनिक क्षेत्र के लिए आरक्षित क्षेत्रों को कम कर दिया गया, तथा मूलभूत एवं बुनियादी उद्योगों में निजी क्षेत्र की उच्चतर भागीदारी की अनुमति दी गई। पूर्व में सार्वजनिक क्षेत्र द्वारा निवेश के लिए आरक्षित 17 क्षेत्रों के स्थान पर अब केवल 8 क्षेत्र ही इसके लिए आरक्षित रखे गए है। ये आठ क्षेत्र मुख्यतः सामरिक तथा सुरक्षा से संबद्ध क्षेत्र है।
5. 10 लाख से अधिक आबादी वाले 23 शहरों को छोड़कर अन्य सभी स्थानों के लिए सरकारी स्वीकृति से छूट दे दी गई है।
6. एक राष्ट्रीय नवीनीकरण कोष की स्थापना यह सुनिश्चित करने के लिए की गई है कि तकनीकी बदलाव तथा उद्योगों के आधुनिकीकरण की कीमत मजदूरों को बलि से न चुकानी पड़े। इसका उपयोग, बीमार तथा अस्थिर उद्योगों में मजदूरों की सुरक्षा कवच तथा उनके पुनः प्रशिक्षण एवं पुनः तैनाती के लिए वित्तीय सहायता देने में किया जायेगा।

उद्योग नीतियों में सुधार के साथ-साथ प्रत्यक्ष विदेशी निवेश के प्रवाह को सुलभ बनाने के लिए कदम उठाए गए। ऋण पैदा न करने वाले ये प्रवाह, निर्धारित ऋण ब्याज पर निर्भरता को कम करेंगे तथा साथ ही नई तकनीकी, विपणन दक्षता तथा आधुनिक प्रबंधन के प्रचलन भी देश में लेकर आएंगे। इस संदर्भ में निम्नलिखित उपाय किए गए-

- प्राथमिकता वाले उद्योगों की एक बडी संख्या में, विदेशी इक्विटी होल्डिंगों की सीमा 40 प्रतिशत से बढाकर 51 प्रतिशत कर दी गई।
- गैर-प्राथमिकता उद्योगों के लिए आवश्यक स्वीकृति को तेजी से प्राप्त करने हेतु विशाल अंतर्राष्ट्रीय फर्मों से समझौता वार्ता करने के लिए विदेशी निवेश प्रोत्साहन बोर्ड गठित किया गया।
- कुछ सीमाओं तक रायल्टी का भुगतान करके प्राथमिकता उद्योगों के लिए तकनीक का आयात करने की मंजूरी अपने आप मिल जाती है।
- शेष विश्व के साथ अर्थव्यवस्था को प्रतियोगितापूर्ण बनाने की दृष्टि से रूपये को आंशिक तौर पर परिवर्तनीय मुद्रा बना दिया गया। यह हमारे निर्यातों में बढोतरी करेगा और प्रभावी आयात-प्रतिस्थापन को भी प्रोत्साहन देगा।
- पूंजी शेयरों पर सरकारी नियंत्रण का प्रचलन, साथ ही प्रीमियम के निर्धारण सहित शेयरों का मूल्य तय करने का सरकारी नियंत्रण समाप्त कर दिया गया।
- आयात शुल्क को काफी हद तक कम करके तर्क संगत बना दिया ताकि यह सुनिश्चित किया जा सके कि ऊंचे करों की दीवारे उच्च लागत वाले गैर-प्रतियोगी भारतीय उद्योगों को चिरस्थाई न बना डाले।

इस तरह नियंत्रण ढीला किया जाना सरकारी विनियोजनकारी निकायों की भूमिका को घटा देगा। परियोजनाओं के क्रियान्वयन में होने वाले विलम्ब में काफी कमी आएगी। बढती प्रतिस्पर्धा उद्यमों पर अपनी लागत कम करने तथा गुणवत्ता में सुधार लाने के लिए भारी दबाव का रास्ता तैयार करेगी। बुनियादी चरण में सार्वजनिक क्षेत्र की स्थापना, अर्थव्यवस्था में निर्णायक ऊंचाईयों तक पहुंचने तथा तकनीकी प्रगति की तरफ बढने की दृष्टि से की गई थी। भारतीय अद्योगिक संरचना को विविधतापूर्ण बनाने में सार्वजनिक क्षेत्र में उल्लेखनीय योगदान किया है।

किन्तु आन्तरिक स्त्रोतों का निर्माण पुनः विस्तार करने की दृष्टि से इसका योगदान उम्मीदों से काफी पीछे रह गया है और ऐसा कर पाने में इसकी असफलता आर्थिक प्रगति के लिए एक प्रमुख बाधा बन गई है। यह अनिवार्य है कि सार्वजनिक क्षेत्र उन लक्ष्यों को हासिल करे जो कि मूलतः उसके लिए तय किये गये थे। इसके लिए लगातार उत्पादकता एवं मुनाफे में बढोतरी की जरूरत होगी।

यदि मिश्रित अर्थव्यवस्था को एक ऐसे रास्ते के रूप में देखा जाय, जो कि पूंजीवाद तथा समाजवाद दोनों की बुराईयों से बचकर चलता है तो मिश्रित अर्थव्यवस्था ने उचित ढंग से देश की सेवा की है और भविष्य में भी शायद ऐसा ही करती रहेगी। उदारीकरण अथवा नियंत्रण में ढील दिए जाने के बावजूद, हम बाजार अर्थव्यवस्था की स्थिति की तरफ नहीं बढ रहे है। हुआ केवल इतना है कि हमने उस जटिल विनियनकारी ढांचे पर सवालिया निशान लगाना तथा उसे ध्वस्त करना तक शुरू कर दिया है जिसका प्रशासन एक अत्यधिक बोझ से लदी नौकरशाही द्वारा किया जा रहा था जो कि स्वयं को विकासमान प्रशासन के कार्यभारों की तरफ उन्मुख करने में विफल रही। नियंत्रण तथा विनियमन क्रियाविधियां कभी भी विकास रणनीति का अन्तरंग हिस्सा नहीं बनी क्योंकि वे स्वयं भी युद्ध अर्थव्यवस्था की बड़े पैमाने पर विरासत ही है, जिन्हें ब्रिटिश सरकार ने केवल सैन्य उपयोग के लिए खरीद को अधिकतम बढाने के लिए देश पर लाद दिया था। इन नियंत्रणों को हटाए जाने से अर्थव्यवस्था और अधिक स्पंदनशील एवं गतिशील ही बनेगी और वह भी उस सामाजिक-आर्थिक परिप्रेक्ष्य को भूले बिना, जो कि उसने अपने लिए निर्धारित किया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. भारत ने आयोजन मार्ग कब अपनाया?
2. मिश्रित अर्थव्यवस्था क्या है?
3. पूंजीवाद का मुख्य उद्देश्य क्या है?
4. भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की शुरूआत कब हुई?
5. सन् 1991 में नई अद्योगिक नीति की घोषणा क्यों करनी पड़ी?

3.6 सारांश

मिश्रित अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक तथा निजी क्षेत्र के बीच विभाजन रेखा तथा सौहार्द कायम करना अन्तर्निहित है। इसमें बाजार क्रियाविधि का मुक्त क्रियाविधि का मुक्त क्रियाकलाप वर्जित है तथा सरकार निजी क्षेत्र में इस तरह से हस्तक्षेप अथवा विनियमन करती है जिससे कि दोनों क्षेत्र एक दूसरे को सुदृढ बनाते रहे। दोनों ही क्षेत्रों पर राष्ट्रीय लक्ष्यों तथा प्राथमिकताओं के प्रति वचनबद्धता रहती है। यह पूंजीवाद तथा समाजवाद की दो अतिवादी प्रणालियों के बीच का एक रास्ता है।

पूंजीवादी को एक ऐसी आर्थिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया गया है जो एक बाजार अर्थव्यवस्था के लिए व्यक्तिगत पहलकदमी मुनाफे की हवस तथा निजी व्यक्तियों तथा निगमों द्वारा उत्पादन के साधनों के स्वामित्व पर बल देती है। दूसरी तरफ, समाजवाद, समाज का एक ऐसा आर्थिक संगठन है जिसमें एक सामान्य योजना के तहत उत्पादन के भौतिक साधन समूचे समुदाय की मिल्कियत सम्पत्ति रहते है, समाज के सभी सदस्य, समान अधिकारों के आधार पर इस तरह के समाजवादी नियोजित उत्पादन के फलों का लाभ उठाने के पात्र होते है।

भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था की अवधारणा की उत्पत्ति इस तरह से हुई ताकि निजी व सार्वजनिक क्षेत्र, दोनों ही आर्थिक विकास की प्रक्रिया में योगदान कर सकें। 1956 के उद्योग नीति प्रस्ताव ने, उन क्षेत्रों का स्पष्ट सीमा निर्धारण करके, जिनमें प्रत्येक क्षेत्र को कार्य करना था, इसे एक निश्चित स्वरूप प्रदान किया। नीति के दो औजार थे- अद्योगिक (विकास एवं विनियमन) अधिनियम, 1951 तथा कम्पनी अधिनियम, 1956। इन दोनों अधिनियमों

ने, लाईसेंस प्रक्रिया के जरिए सरकार को भारत में प्रमुख उद्योगों के स्थान, उत्पादन तथा विस्तारण को विनियमित करने की शक्तियों से शक्ति सम्पन्न किया। 1977 तथा 1980 के उद्योग नीति प्रस्तावों ने पुनः भारत में मिश्रित अर्थव्यवस्था के कार्यमूलक ढांचे को परिष्कृत किया। भारत में निजी क्षेत्र राष्ट्रीय आय में लगभग 80 प्रतिशत योगदान करता है जबकि सार्वजनिक क्षेत्र शेष 20 प्रतिशत का योगदान करता है। संगठित निजी क्षेत्र का आधुनिकीकरण हो चुका है, वह पूंजी सघन है तथा वित्तीय सेवाओं तक उसकी पहुंच है। हालांकि कई सालों से निजी क्षेत्र एक उच्च-लागत क्षेत्र बना हुआ है और इसीलिए अंतर्राष्ट्रीय क्षेत्र के साथ गैर-प्रतिस्पर्धापूर्ण है। सार्वजनिक क्षेत्र को अर्थव्यवस्था के शीर्षस्थ स्तर पर निर्णायक नियंत्रण कायम करना था। इसके लक्ष्यों में देश की तीव्र आर्थिक प्रगति एवं अद्योगिक रण में सहायता करना, पुनः निवेश हेतु स्त्रोतों का निर्माण करना, रोजगार के अवसर पैदा करना तथा अपेक्षाकृत अधिक समतापूर्ण आय के वितरण द्वारा सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहित करना आदि शामिल थे। सार्वजनिक क्षेत्र का प्रदर्शन, यद्यपि, काफी निराशाजनक रहा है। इसके जिम्मेदार अनेक कारणों में कुछ है- राजनैतिक दखलअंदाजी, न्यायपूर्ण मूल्यनीति, अत्यधिक श्रमशक्ति तथा क्षमता का कम उपयोग।

3.7 शब्दावली

पूंजीवाद- पूंजीवाद को एक ऐसी आर्थिक प्रणाली के रूप में परिभाषित किया गया है कि व्यक्तिगत पहल कदमी बाजार अर्थव्यवस्था को केन्द्रीय मुनाफा कमाने की प्रवृति तथा उत्पादन के साधनों पर निजी व्यक्तियों तथा निगमों के स्वामित्व पर बल देती है।

ईक्विटी- यह किसी संगठन के लिए वित्त जुटाने का एकरूप है, जिसके तहत पूँजी स्टॉक को शेयरों के रूप में रखा जाता है।

औद्योगिक अधिनियम, 1951- अधिनियम का मुख्य उद्देश्य भारतीय उद्योगों को इस ढंग से विकास तथा विनियमन करना है, जो कि नियोजन, समाजवादी समाज तथा अन्य सामाजिक आर्थिक निर्णय के अनुकूल हो।

बाजार अर्थव्यवस्था- एक ऐसी आर्थिक प्रणाली जिसके अन्तर्गत क्या उत्पादन किया जाय, कितना उत्पादन किया जाय तथा किसके लिए किया जाय आदि प्रश्नों को माँग तथा आपूर्ति क्रिया कलाप के जरिए एक मुक्त बाजार द्वारा तय किया जाता है।

3.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. सन् 1951, **2.** अलग-अलग बाजार और आर्थिक योजनाओं का मिश्रण, **3.** लाभ कमाना, **4.** सन् 1948 में प्रथम अद्योगिक नीति लागू होने पर, **5.** देश को आर्थिक संकट से बाहर निकालने के लिए

3.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. झा, एल.के. 1980, के दशक के लिए आर्थिक रणनीतिया, एलाइडः नई दिल्ली।
2. जोशी, एम.वी. 1984, मिश्रित अर्थव्यवस्था, हिमालयः मुम्बई।
3. वाइलस, पी.जे.डी., 2015, आर्थिक संस्थाओं की तुलना, वासिल ब्लैक वैलः आक्सफोर्ड।

3.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. झा, एल.के. 1980, के दशक के लिए आर्थिक रणनीतिया, एलाइडः नई दिल्ली।
2. जोशी, एम.वी. 1984, मिश्रित अर्थव्यवस्था, हिमालयः मुम्बई।

3.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. मिश्रित अर्थव्यवस्था के प्रमुख लक्षण क्या हैं?
2. अद्योगिक नीति प्रस्तावों पर चर्चा कीजिए।
3. भारत में सार्वजनिक क्षेत्र के लक्ष्य क्या हैं? सार्वजनिक क्षेत्र के खराब प्रदर्शन के लिए जिम्मेदार कारको की व्याख्या कीजिये।

इकाई- 4 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध

इकाई की संरचना

4.0 प्रस्तावना
4.1 उद्देश्य
4.2 संविधान के तहत कार्यों तथा स्त्रोतों का विभाजन
4.3 वित्त आयोग
    4.3.1 संघ तथा राज्यों के बीच स्त्रोतों का हस्तान्तरण
4.4 योजना आयोग
4.5 भारत का केन्द्रवाद: अशोक चन्द्रा विचार
4.6 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धः एक आलोचनात्मक मूल्यांकन
4.7 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों में सुधार हेतु सुझाव
4.8 निष्कर्ष
4.9 सारांश
4.10 शब्दावली
4.11 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
4.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.13 निबन्धात्मक प्रश्न

4.0 प्रस्तावना

भारतीय इतिहास का मूल पाठ यह है कि इस विशाल देश में केवल वही शासन व्यवस्था अथवा प्रणाली बाहरी आक्रमण तथा भीतरी तोड़-फोड़ से इसकी एकता, अखण्डता तथा संप्रभुता को कायम एवं सुरक्षित रख सकती है, जो सर्वोपरि शक्तियों से सम्पन्न एक मजबूत केन्द्र सुनिश्चित करे और उसके साथ-साथ इसकी अनेकताओं के साथ भी समन्वय कर सके। भारतीय संवैधानिक इतिहास का एक अन्य लक्षण जो कि आधार स्तंभ की तरह खड़ा हुआ है, सिद्ध करता है कि, ''देश की विविधता तथा इसके आकार को देखते हुए कोई अत्यधिक केन्द्रीकृत प्रशासन असगंत होगा। इससे प्रशासनिक अक्षमता तथा स्थानीय असंतोष पैदा हो जाएगा।''

भारत में केन्द्र तथा राज्य सरकारों के बीच वित्तीय सम्बन्धों की स्थिति, गंभीर विवाद का विषय बन गई है। राज्यों द्वारा कई बार केन्द्र पर उनकी बढ़ती वित्तीय निर्भरता पर चिन्ता प्रकट की गई है। दूसरी तरफ केन्द्र को राज्यों में, जिम्मेदारी की भावना की कमी तथा वित्तीय अनुशासन एवं स्त्रोत जुटाने के मूल सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षा भाव के दोष दिखाई पड़ते हैं। इस तरह केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध प्रायः तनावों एवं कटुता से भरे रहे हैं। पुराने अथवा नये संघो को, संघीय सरकार तथा इकाई सरकारों के बीच कार्यों एवं स्त्रोतों के स्पष्ट विभाजन, के लक्षण से पहचाना जाता है। भारतीय संविधान के निर्माता, उन टकरावों तथा समस्याओं के प्रति काफी जागरूक थे, जिनका सामना पुराने संघों को वित्तीय सम्बन्धों के क्षेत्र में करना पड़ा था। उन्हें, भारत सरकार अधिनियम, 1935 में उपबन्धित पहले से विद्यमान वित्तीय प्रणाली का एक अतिरिक्त लाभ भी मिला। संविधान में परिकल्पना की गई कि वित्त आयोग की सिफारिश पर राजकोषीय स्त्रोतों का राज्यों को हस्तान्तरण कर दिया जाएगा। हालांकि वित्त आयोग की भूमिका, मुख्यत-राजस्व हस्तांतरणों को प्रवाहत करने तक ही सीमित हो गई। नियोजित विकास के लिए पूंजी स्त्रोतों का हस्तान्तरण अब योजना आयोग की सिफारिशों पर किया जाता है। राष्ट्रीय विकास परिषद जिसके सदस्यों में अन्य लोगों के अलावा सभी राज्यों के मुख्यमंत्री भी शामिल रहते हैं, राष्ट्रीय योजनाओं की समीक्षा

करती हैं, राष्ट्रीय विकास नीति के प्रश्न पर विचार करती है तथा राष्ट्रीय योजनाओं के लिए निर्धारित किये गये लक्ष्यों व उद्देश्यों के क्रियान्वयन के उपाय सुझाती हैं। इन संस्थाओं से एक केन्द्रीकृत ढांचे के भीतर रहते हुए अत्यन्त प्रभावी भूमिका अदा करने की अपेक्षा की जाती हैं। देखा जाये तो संघात्मक शासन व्यवस्था में केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच विधायी और प्रशासनिक शक्तियों का ही विभाजन नहीं होता, अपितु वित्तीय स्त्रोतों का भी बंटवारा होता है। वित्तीय स्त्रोतों के विभाजन को लेकर राज्यों के बीच मतभेद और तनाव उत्पन्न हो जाना स्वभाविक हैं। यह समस्या उतनी ही पुरानी है जितनी कि संघात्मक शासन प्रणाली। इस इकाई में हम केन्द्र व राज्यों के बीच कार्यों तथा स्त्रोतों के बीच विभाजन, वित्त आयोग तथा योजना आयोग पर चर्चा एवं वित्तीय सम्बन्धों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करेंगे।

4.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- संघ तथा राज्यों के बीच कार्यों, स्त्रोतों तथा अन्य वित्तीय शक्तियों के विभाजन सम्बन्धी, संवैधानिक प्रावधानों के संबंध में जान पायेंगे।
- वित्त आयोग के कार्यों, संरचना और केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों के संदर्भ में इसके द्वारा निभाई गई भूमिका से अवगत हो पायेंगे।
- योजना आयोग की संरचना, सामान्य कार्यों तथा संघ से राज्यों को स्त्रोतों के अंतरण में उसकी भूमिका की जानकारी ले पायेंगे।
- वर्षों में विकसित हुए केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों का आलोचनात्मक मूल्यांकन करने में सक्षम होंगे।

4.2 संविधान के तहत कार्यों तथा स्त्रोतों का विभाजन

संविधान में वर्णित उत्तरदायित्वों का निर्वाह, केन्द्र तथा राज्य तभी भली-भाँति कर सकते हैं, जब उन्हें तुलनात्मक रूप से पर्याप्त वित्तीय साधन सुलभ हो। किन्तु संघीय समस्याओं मे से वित्तीय सम्बन्धों की समस्या सर्वाधिक कठिन समस्या हैं। परिणामस्वरूप उत्तरदायित्वों के अनुपात में केन्द्र तथा राज्यों को समुचित वित्तीय साधन उपलब्ध करवा सकने के संवैधानिक प्रयासों की प्रक्रिया स्वभावतः जटिल रहती है। हमारे संविधान के अन्य पक्षों की भांति ही केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों का स्वरूप भी भारत सरकार अधिनियम, 1935 से प्रभावित है। इस संदर्भ में हमारे संविधान की यह विशेषता रही है कि वित्तीय साधनों को पूर्णतः विभक्त कर देने की अपेक्षा, संघ की दोनों इकाईयाँ केन्द्र तथा राज्यों के मध्य यथा आवश्यकता तथा यथा सम्भव समान रूप से विभाजित करने का प्रयास किया गया हैं। यही नहीं, इस दिशा में, एक सीमा तक स्वतन्त्र भारत के संविधान निर्माताओं ने 1935 अधिनियम की न्यूनताओं- प्रांतीय सरकारों के हिस्से में अति अल्प राजस्व सुलभता को दूर करने के प्रयास किया है। किसी भी संघात्मक संविधान में केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों की इतनी विस्तृत व्याख्या नहीं मिलती। इसके अतिरिक्त, संघीय व्यवस्थाओं में, वित्तीय साधनों के वितरण की कठिन समस्याओं को लेकर होने वाले विवादों के संदर्भ में वित्त आयोग जैसी संस्था का संवैधानिक प्रावधान भी हमारे संविधान की एक उल्लेखनीय व्यवस्था है।

वित्तीय साधनों के विभाजन की हमारी संवैधानिक व्यवस्था को पांच भागों में विभक्त कर देखा जा सकता है-

1. आय के वे स्त्रोत जिनके संदर्भ में करारोपण कर शक्ति, कर एकत्रण का दायित्व, तथा प्राप्त आय के प्रयोग का सम्पूर्ण अधिकार केन्द्र को प्राप्त होता है।
2. आय के वे स्त्रोत जिनके संदर्भ में करारोपण की शक्ति, तथा कर-एकत्रण का दायित्व तो केन्द्र का होता है, किन्तु प्राप्त राजस्व के उपयोग में राज्य भी भागीदार होते है।

3. आय के वे स्त्रोत जिनके संदर्भ में करारोपण की शक्ति, तथा कर एकत्रण का दायित्व तो केन्द्र का होता है, किन्तु प्राप्त सम्पूर्ण आय के अधिकारी राज्य ही होते हैं।
4. आय के वे स्त्रोत जिनके करारोपण की शक्तियां ही केन्द्र के पास होती हैं। कर एकत्रण का दायित्व तथा एकत्रित धनराशि के उपयोग के अधिकार राज्यों के पास होते हैं।
5. आय के वे स्त्रोत जिनके संदर्भ में करारोपण की शक्तियां, कर एकत्रित करने का दायित्व तथा प्राप्त राशि के उपयोग के सम्पूर्ण अधिकार राज्यों को प्राप्त हैं।

करों के साझे के प्रावधानों के अतिरिक्त, संविधान की धारा-275, सामान्य उद्देश्य तथा विशिष्ट अनुदानों, दोनों का प्रावधान करती है। हालांकि किसी राज्य को अनुदान सहायता की आवश्यकता है तथा किस सीमा तक आवश्यक ता है, इस बात का निर्णय संसद पर छोड दिया गया है और यह वित्त आयोग की सिफारिश के आधार पर किया जाता है।

केन्द्र तथा राज्य सरकारों की कर्ज लेने की शक्तियां संविधान की धारा-292 तथा 293 द्वारा विनियमित होती है। भारत के समेकित कोष की जमानत पर केन्द्र सरकार देश के भीतर अथवा बाहर से कर्ज ले सकती हैं किन्तु यदि संसद द्वारा इसकी कोई सीमा निर्धारित की गई हो, तो यह उसके अनुसार ही किया जा सकेगा। राज्य सरकारें केवल भारत की सीमाओं के भीतर ही केन्द्र सरकार की स्वीकृति से कर्ज ले सकती हैं। केन्द्र सरकार संसद द्वारा बनाए गए कानून की शर्तों के अनुरूप राज्य सरकारों को कर्ज दे सकती हैं।

यदि भारत का राष्ट्रपति इस बात से आश्वस्त हो कि ऐसी परिस्थिति पैदा हो गई है जिसमें भारत अथवा उसके किसी हिस्से में वित्तीय स्थिरता अथवा प्रतिष्ठा को खतरा पैदा हो गया है, तो संविधान की धारा- 360 के तहत, राष्ट्रपति वित्तीय आपातकाल की घोषणा कर सकता है। इन असामान्य एवं आपात परिस्थितियों में, राज्य सरकारों में राजस्व वसूली तथा वितरण केन्द्र सरकार अथवा राज्य सरकारों द्वारा, संसद के निर्णय के अनुसार किया जाता है।

केन्द्र तथा राज्य के बीच वित्तीय शक्तियों तथा संसाधनों का आवंटन निश्चय ही सबसे महत्वपूर्ण तथा अभी भी सबसे कठिन कार्यभार है। फैडरेशनों का राजस्व निस्संदेह बढ़ता रहा है। संयुक्त राज्य अमेरिका जैसे कुछ फैडरेशनों में, जहां फैडरेशन तथा राज्यों को समवर्ती करारोपण शक्तियां प्राप्त है, अनेको न्यायिक विवाद पैदा होते रहे हैं। कनाडा तथा आस्ट्रेलिया की संघीय व्यवस्थाओं में वित्तीय सम्बन्ध अनिश्चय तथा शंका के कारण बने हैं। इसका मूल कारण वहाँ, आय के एक ही स्त्रोत पर दोनों इकाईयाँ केन्द्र तथा राज्य द्वारा करारोपण का संवैधानिक अधिकार रहा हैं। इस संदर्भ में, वित्तीय साधनों की विभाजन समस्या का अमेरिकी स्वरूप भी इन्हीं कारणों से समस्याग्रस्त रहा है।

इसलिये वित्तीय सम्बन्धों का दूसरा स्वरूप साधनों के विभाजन की विधि को भारतीय संविधान ने अपनाया। किन्तु इसकी भी अपनी पृथक कठिनाइयाँ हैं। भारत में केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय स्त्रोतों के आवंटन के बारे में प्रायः यह आलोचना की जाती है कि राजस्व के अधिकांश स्त्रोत केन्द्र को सौंपे गए हैं। जबकि राज्य, जिन पर महत्वपूर्ण विकासात्मक तथा कल्याणकारी कार्यों का दायित्व है, उन्हें गैर-लचीले तथा अपर्याप्त राजस्व स्त्रोत सौंपे गये हैं। केन्द्र-राज्य वित्त सम्बन्धों का यह पक्ष जहां सामयिक एवं सांदर्भिक लोचशीलता लाने का माध्यम है वहीं जटिलता का कारण भी हैं। प्राप्त आय के विभाजन की समस्या के हल का दायित्व एक सेसंवैधानिक संस्था वित्त आयोग पर हैं।

4.3 वित्त आयोग

वित्त आयोग तथा योजना आयोग दो ऐसे महत्वपूर्ण निकाय हैं, जिनके माध्यम से केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय हस्तान्तरण प्रभावी बनाए जाते हैं। केन्द्र तथा राज्यों के बीच स्त्रोतों के आवंटन में, राजस्व के लचीले स्त्रोत

केन्द्र को सौंपे गए हैं। यह तथ्य कि, संविधान आयकर प्राप्तियों की बाध्यकारी साझेदारी तथा संघीय उत्पादन कर की अनुज्ञात्मक साझेदारी का प्रावधान करता हैं, स्वयं ही राज्यों के राजस्व स्त्रोतों की अपर्याप्तता की ध्वनित स्वीकृति है। हालांकि, संविधान राज्य के हिस्से को स्पष्ट रूप से निर्धारित नहीं करता। इसीलिए, सविधान द्वारा इस मकसद (उद्देश्य) के लिए सांविधिक रूप से वित्त आयोग के गठन का प्रावधान किया गया हैं। निम्न सदंर्भों में वित्त आयोग राष्ट्रपति को अपनी सिफारिशे प्रस्तुत करता है-

1. संघ तथा राज्यों के बीच साझा किये जाने वाले करों की कुल प्राप्तियों का वितरण तथा इस तरह की प्राप्तियों के हिस्सों का राज्यों के बीच आवंटन।
2. वे सिद्धांत जो कि संघीय अनुदान सहायता के राजस्व का राज्यों को भुगतान करने का आधार प्रदान करता है।
3. संघ तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों से जुड़ा कोई भी अन्य मामला।

वित्त आयोग एक अर्ध-न्यायिक निकाय है तथा यह केन्द्र तथा राज्यों से स्वतंत्र रूप में काम करता है। प्रत्येक वित्त आयोग के निश्चित संदर्भ शर्तों को केन्द्रीय वित्त मंत्रालय तैयार करता है। इस मामले में राज्य सरकारों से सलाह नहीं ली जाती। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे समय पर विभिन्न राज्यों के बीच, जो कि भिन्न-भिन्न विचारों वाले विभिन्नराजनैतिक दलो द्वारा शासित रहते है, किसी सर्वसम्मत दृष्टिकोण तक पहुंचने में आने वाली व्यावहारिक समस्याओं ने शायद राज्य सरकारों से सलाह-मशविरा करने के काम को निरूत्साहित किया है।

कुछ प्रमुख फैडरेशनों में, संघीय तथा राज्य सरकारों के बीच राजस्व का बटंवारा करने की स्पष्ट रूप से निर्धारित तथा संवैधानिक रूप से मान्यता प्राप्त संस्थागत क्रियाविधि के अभाव में, अनेकों तरह के समन्वय करने पड़ते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, आस्ट्रेलिया तथा कनाडा जैसे फैडरेशनों में समवर्ती करारोपण शक्तियों के कारण ''किस स्तर द्वारा किस प्रकार के करों का उपयोग, किस सीमा तक किया जाना है, इसका निर्णय, संवैधानिक प्रावधानों से अधिक, संविधि अथवा समझोते में शामिल शर्तों तथा वार्ताओं द्वारा किया गया है।'' संयुक्त राज्य अमेरिका में, कम से कम, जो कर-प्रणाली कई वर्षों के दौरान विकसित हुई है, गैर-सामंजस्यपूर्ण रूप से ही व्याख्यायित की जाती है। अन्य फैडरेशनों में भी इसी तरह की अथवा इससे भी भयानक समस्याएं विद्यमान हैं।

दूसरी तरफ, भारत में वित्त आयोग, अपनी संवैधानिक प्रतिष्ठा के कारण, एक बेमिसाल व्यवस्था बन गई है। इस प्रतिष्ठा तथा एक विशेषज्ञ निकाय होने के कारण, स्त्रोतों का हस्तान्तरण अर्थात करों का साझा तथा अनुदान राहते, राजनैतिक सौदेबाजी के सीमा क्षेत्र से हटा दी गई हैं। यधपि आयोग एक सलाहकार निकाय ही हैं, किन्तु इसकी सिफारिशों तथा उनके अनुसार की गई कार्यवाहियों को संसद के समक्ष प्रस्तुत करना होता हैं।

वित्त आयोग की स्थापना का प्रावधान हमारी संघीय व्यवस्था की मौलिक उपलब्धि है। संविधान के अनुच्छेद-280 तथा 281 में इसका विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया हैं। एम.वी. पायली के शब्दों में, इन उपबन्धों के अनुसार राष्ट्रपति संविधान लागू होनें के दो वर्षों के अन्दर और उसके प्रति पांच वर्ष पश्चात् अथवा जब वह आवश्यक समझे वित्त आयोग की स्थापना कर सकता हैं। संविधान के अनुसार वित्त आयोग का गठन योग्य सदस्यों को लेकर किया जाना चाहिए। 1951 के वित्त अधिनियम के अनुसार, ''अध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिए जिसे सार्वजनिक मामलों का अनुभव हो। चार सदस्यों को उच्च न्यायालय का न्यायाधीश नियुक्त किए जाने के लिए आवश्यक योग्यताओं से सम्पन्न होना चाहिए अथवा अर्थशास्त्र, वित्तीय मामलों अथवा सरकार के वित्त तथा लेखे का विशिष्ट ज्ञान होना चाहिए। इसे प्रदान किया गया संवैधानिक स्तर तथा अर्ध न्यायिक विशेषज्ञ निकाय के तौर पर इसके संचालन के कारण वित्त आयोग को संघ तथा राज्यों का उच्च सम्मान प्राप्त हुआ है।

भारत में, अब तक चौदह वित्त आयोगों का गठन किया जा चुका है और उन्होंने केन्द्र से राज्यों को राजकोषीय हस्तान्तरणों के संदर्भ में एक समान दृष्टिकोण अपनाया हैं। अपनी सिफारिशें तैयार करने में वित्त आयोगों द्वारा

कुछ सामान्य सिद्धांतों अथवा निर्णयों को ध्यान में रखा गया हैं। पहले वित्त आयोग द्वारा निम्न कुछ सिद्धांत निर्धारित किये गए-

- केन्द्र के अतिरिक्त स्त्रोंतो का हस्तान्तरण इस प्रकार से होना चाहिए ताकि केन्द्र उसे आसानी से वहन कर सके और उसके स्त्रोतों पर इसका अनुचित दबाव न पड़े। इस सन्दर्भ में देश की सुरक्षा का अर्थव्यवस्था के स्थायित्व को बनाये रखने जैसे महत्वपूर्ण मामलों में उसकी जिम्मेदारियों का भी ध्यान रखा जाना चाहिए।
- राज्यों के बीच स्त्रोतों के वितरण तथा अनुदान - राहतों का निर्णय करने का सिद्धांत, सभी पर एक समान ढ़ग से लागू किया जाना चाहिए।
- वितरण की योजना को राज्यों के बीच असमानताओं को कम करने के प्रयत्न करने चाहिए।

वित्त आयोग ने पुनः नोट किया: ''अनुदान राहतों की किसी व्यवस्था का उद्देश्य राज्यों द्वारा स्वंय अपने बजटों को संतुलित रखने के दायित्व को कम करना नहीं हैं अपितु वित्तीय सहायता प्रदान करने का तरीका ऐसा होना चाहिए ताकि इस भ्रम से बचा जा सके कि राज्यों को साल-दर-साल उनके बजट को संतुलन करने में मदद करने का दायित्व स्वयं केन्द्र सरकार ने ले लिया हैं।''

14वें वित्त आयोग की रिपोर्ट में कर हस्तान्तरण सम्बन्धी सिफारिश में कहा गया कि राज्यों की कर राजस्व से होने वाली शुद्ध आय में करीब 42 फीसदी की हिस्सेदारी होनी चाहिए। 13वें वित्त आयोग द्वारा करीब 32 प्रतिशत हिस्सेदारी की सिफारिश की गई थी। यह कर हस्तान्तरण में होने वाला अब तक का सबसे बड़ा बदलाव हैं। जिससे राज्यों की राजकोषीय स्वायत्ता को संरक्षित रखा जा सके और वित्त आयोग की रिपोर्ट पर विचार करने के बाद राष्ट्रपति द्वारा यथा प्रस्तावित तरीके से आय पर लगे करों के मामले में केन्द्र तथा राज्यों के बीच राजकोषीय दायित्वों को आगे बढ़ाया जा सके।

4.3.1 संघ तथा राज्यों के बीच स्त्रोतों का हस्तान्तरण

संघ तथा राज्यों के बीच स्त्रोतों का हस्तान्तरण को निम्नांकित बिन्दुओं के माध्यम से समझते हैं-

1. **आयकर का साझा-** संविधान की धारा 270 (I), संघ तथा राज्यों के बीच आय पर लगे करों के वितरण का प्रावधान करती है। यह वित्त आयोग की सिफारिशों पर विचार करने के उपरान्त राष्ट्रपति द्वारा यथा प्रस्तावित तरीके से किया जाता हैं।

   पहले वित्त आयोग ने संचित कोष में से राज्यों का हिस्सा 55 प्रतिशत निर्धारित किया था जो कि इससे पूर्व 50 प्रतिशत था। आगे चलकर, इसे दूसरे, तीसरे तथा चौथे वित्त आयोग ने बढ़ाकर क्रमश: 60 प्रतिशत, 66 प्रतिशत तथा 75 प्रतिशत कर दिया छठे तथा सातवें वित्त आयोग ने पुनः बढ़ाकर क्रमश: 80 प्रतिशत तथा 85 प्रतिशत तक कर दिया। आठवें तथा नौवें वित्त आयोग ने उसे इसी स्तर पर बरकरार रखा। किन्तु दसवें वित्त आयोग ने अपनी रिपोर्ट में 1995-2000 की अवधि के लिए आयकर से शुद्ध प्राप्ति के 77.5 प्रतिशत को राज्यों को हस्तान्तरित करने की सिफारिश की।
2. **उत्पादन शुल्क का साझा-** यह एक अन्य कर हैं जिसकी प्राप्तियों का, संघ राज्यों के साथ साझा करता हैं। संविधान की धारा- 272 के तहत, दवाओं तथा प्रसाधन प्रदार्थों जिनका उल्लेख संघ सूची में किया गया है, को छोड़कर संघीय उत्पादन शुल्क केन्द्र द्वारा लगाए तथा वसूल किये जाते हैं, किन्तु यदि संसद कानून बनाकर इसका प्रावधान करे तो केन्द्र तथा राज्यों के बीच इनका साझा किया जा सकता हैं। राज्यों का हिस्सा लगातार बढ़ता रहा हैं। इस वृद्धि के मुख्यतः निम्न कारण हैं- कर के दायरे में लाई गई वस्तुओं की संख्या में वृद्धि। दरों में वृद्धि। मूल्यों में वृद्धि। तथा कर योग्य वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि।

3. **अनुदान राहत-** संविधान की धारा- 280 के तहत, भारत के समेकित कोष में से राज्यों के राजस्व की अनुदान.राहतों के भुगतान के विषय में, सिफारिश करने का अधिकार वित्त आयोग को दिया गया है। राज्यों को उनके वित्तीय अंश दे देने के बाद भी संभव है, उन्हें साधन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध न हुए हो। इस कमी को पूरा करने हेतु संवैधानिक व्यवस्था है कि संसद उन राज्यों को अनुदान सहायता सुलभ करावे जिन्हें वह सहायता की आवश्यकता में अनुभव करती हो। धारा- 275 उन राज्यों को इस तरह के कोषों का भुगतान करने का प्रावधान करती हैं, जिन्हें सहायता की सख्त आवश्यकता हो। किन्तु अनुदान राहतों के सिलसिले में पैदा होने वाले विवादों का कारण यह है कि 'आवश्यकता ' शब्द की संविधान में स्पष्ट व्याख्या नहीं की गई हैं। पहले वित्त आयोग ने अनुदान राहतों के लिए छः सिद्धांतों को सूचीबद्ध किया था जिनका बाद के वित्त आयोग द्वरा भिन्न-भिन्न स्तरों पर बल देते हुए अनुसरण किया गया। ये सिद्धांत हैं- बजटीय आवश्यकताएं, कर प्रयास, व्ययों में किफायत, सामाजिक सेवाओं का स्तर, विशेष बाध्यता तथा राष्ट्रीय महत्व का आम मकसद।

पहले वित्त आयोग ने जूट पैदा करने वाले राज्यों के लिए विशिष्ट अनुदानों तथा 8 राज्यों को प्राथमिक शिक्षा को प्रोत्साहन देने के लिए विशेष अनुदानों की सिफारिश की।

तीसरे वित्त आयोग ने योजना परिव्ययों को भी शामिल करके अनुदान राहतों के क्षेत्र को व्यापक बनाने का प्रयास किया।उसका विचार यह था कि अनुदान राहतों का कुल प्रभाव एक ऐसे क्रम में होना चाहिए जो कि राज्यों को हस्तान्तरणों से प्राप्त अतिरिक्त राशि सहित, उनकी योजनाओं की राजस्व आवश्यकताओं के 75 प्रतिशत को पूरा करता हो। इसके ठीक विपरीत चौथे वित्त आयोग ने स्वयं को गैर-नियोजित व्यय तक सीमित रखा और इस तरह केवल गैर-नियोजित अनुदानों को ही पूरा करने के लिए धारा- 275 के क्षेत्र को सीमित कर दिया। पांचवे आयोग द्वारा भी इसी तरह के विचार व्यक्य किये गए। छठे वित्त आयोग ने, सामान्य प्रशासन, न्यायिक प्रशासन, जेल, पुलिस तथा प्राथमिक शिक्षा, चिकित्सा एवं जन-स्वास्थ्य, अनुसूचित जातियों, जनजातियों तथा अन्य पिछड़े वर्गों का कल्याण आदि कुछ समाज सेवाओं जैसी प्रशासनिक सेवाओं की पहचान करते हुए उन्हें निर्णायक महत्व का माना। इसने सिफारिश की कि वे राज्य जिनका इन मदों पद प्रति व्यक्ति व्यय अन्य राज्यों के औसत से कम हो, उन्हें इस फैसले के अन्तिम वर्ष तक, उस औसत तक पहुंचने में सक्षम बनाया जाना चाहिए। सम्पूर्ण योजना राजस्व के अन्तर की मात्रा का निधरिण करने के लिए इन अतिरिक्त प्रावधानों का ध्यान रखा गया।

सातवें वित्त आयोग का विचार यह था कि अनुदान राहतें सहायता का केवल अवशिष्ट माध्यम ही रहनी चाहिए और इनका उपयोग मात्र अपूर्ण राजस्व असमानताओं को पूरा करने के लिए किया जाना चाहिए। आठवां वित्त आयोग, सातवें आयोग के विचार से आमतौर पर सहमत था। इसलिए आगामी वित्त आयोगों द्वारा अनुदान राहतों की सिफारिश करने में, अवशिष्ट वित्तीय सहायता वाले दृष्टिकोण का अनुसरण किया गया। नौवें वित्त आयोग के दृष्टिकोण तथा कार्यप्रणाली को रेखांकित करने वाले मूल उद्देश्य निम्न प्रकार थे- केन्द्र तथा राज्यों के राजस्व घाटों को इस तरह से कम करना ताकि 31 मार्च, 1995 तक घाटा कम होकर शून्य तक अथवा अपेक्षाकृत छोटी संख्या तक पहुंच जाएं। राजकोषीय स्त्रोतों के वितरण में ऊर्ध्व तथा क्षितिज दोनों तरह की क्षमता, तथा स्त्रोतों के उपयोग में राजकोषीय अनुशासन तथा कार्यकुशलता को प्रोत्साहन।

दसवें वित्त आयोग ने इस आधार पर सिफारिश की कि- केन्द्रीय करों से कुल राजस्व प्राप्ति का भाग 26 प्रतिशत होना चाहिए तथा अतिरिक्त उत्पाद शुल्क को बुनियादी उत्पाद शुल्क के साथ जोड़कर, केन्द्र की कुल कर प्राप्तियों का 3 प्रतिशत राज्यों को सौंप देना चाहिए। ग्यारहवें वित्त आयोग ने कुछ ऐसी

सिफारिश की है जो बजट घाटे का कम करती है। जैसे- कर आधार का विस्तार, खर्चों पर नियन्त्रण, सेवाओं पर कर लगाना, लागत आधारित उपयोग शुल्क, खदानों की रायल्टी में निरन्तर बदलाव, सरकारी विभागों एवं सरकारी उद्यमों के खर्चों को कम करना आदि। पिछले वित्त आयोगों की भांति, 12 वें वित्त आयोग ने गैर-योजना राजस्व घाटे सम्बन्धी अनुदान संविधान के अनुच्छेद- 275 के आधीन 15 राज्यों को वितरित करने की सिफारिश की जिनका कुल गैर-योजना राजस्व .घाटा 2005-10 की अवधि के लिए 56,856 करोड़ रू0 आंका गया।

वित्त आयोगों ने संघीय वित्त के क्षेत्र में अपनी सीमाओं के बावजूद बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाई हैं। इन सीमाओं में से कुछ निम्न प्रकार हैं- संवैधानिक सीमाएं क्योंकि इसे एक निर्धारित रूपरेखा के तहत् कार्य करना होता था। संघ द्वारा वित्त आयोग पर लादी गई बाधाएं जो कि कुछ संदर्भ शर्तों का प्रावधान करके पेश कर दी जाती है। वित्त आयोग की महत्पूर्ण सिफारिशों का संघीय सरकार द्वारा क्रियान्वित न किया जाना। वित्त आयोग द्वारा अपनाई जाने वाली कार्य प्रणाली से उत्पन्न होने वाली समस्याएं। कुछ राज्यों द्वारा वित्त आयोग के कामकाज में सुधार के लिए सुझाव दिए गये हैं। सरकारिया आयोग द्वारा निम्न प्रकार से उनका सारांश प्रस्तुत किया गया है-

- वित्त आयोगों के कार्यों का विस्तार किया जाना चाहिए। इसे योजना तथा अन्य हस्तान्तरणों पर निर्णय करने तथा/अथवा संघ एवं राज्य सरकारों के वित्तीय निष्पादन की वार्षिक तौर पर बोधगम्य समीक्षा को भी अपने हाथ में लेना चाहिए।
- बढ़ती जिम्मेदारियों को देखते हुए वित्त आयोग को एक स्थाई निकाय बनाया जाना चाहिए।
- वित्त आयोग तथा योजना आयोग के बीच तालमेल में सुधार करना चाहिए ताकि राज्यों को केन्द्रीय सहायता के प्रवाह के विषय में एक समन्वित दृष्टिकोण अपनाना संभव हो सके।
- इसे एक स्थाई सुव्यवस्थित सचिवालय उपलब्ध कराया जाना चाहिए, जो कि अध्ययन कार्य तथा अनुवर्ती वित्त आयोगों की सुविधा के लिए कार्यमूलक निरन्तरता को जारी रख सके।

4. **केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों का प्रभाव-** आर्थिक नियोजन की तकनीक सर्वाधिकारवादी अर्थव्यवस्थाओं की देन हैं। अर्थव्यवस्था को इससे सुनिश्चित एवं निर्णायक स्वरूप मिलता है। प्रजातांत्रिक समाजवाद की और उन्मुख विकासशील अर्थव्यवस्थाएं जब अपने तीव्रतर विकास हेतु ''नियोजन तकनीक'' को अपनाती है तो इसका उनके समूचे शासनतत्रं पर व्यापक प्रभाव पड़ना अनिवार्य होता है। सम्पूर्ण सामाजिक आर्थिक परिर्वतन की सिद्धि से प्रेरित होकर योजना का प्रारम्भ चाहे केन्द्रीयकरण से करें, योजनात्मक प्रभावों को प्रत्येक संघीय इकाई हेतु वरदान का स्तर प्राप्त होना अनिवार्य है। परिवर्तित भारतीय संदर्भ में देखा जा सकता है कि योजना का मूल उद्देश्य केन्द्र के निर्णयों एवं नितियों को थोपना नहीं वरन् इकाइयों की समान विकास.क्रिया को स्थाई बनाना है। आगामी युग में केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध इसी संदर्भ में सकारात्मक दिशा में विकसित हो सकेंगे।

4.4 योजना आयोग

स्वतंत्रता संघर्ष के दौरान से ही हमारे राष्ट्रीय नेताओं का नियोजित अर्थतंत्र की और रूझान स्पष्ट रहा है। पण्डित जवाहर लाल नेहरू तो रूसी नियोजन तंत्र से अत्यधिक प्रभावित थे। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व नियोजन के कुछ सीमित किन्तु उल्लेखनीय प्रयास किये गये। अंग्रेजी शासन की समाप्ति के तुरन्त बाद तो, लम्बे उपनिवेशवादी शोषण के फलस्वरूप जर्जरे अर्थव्यवस्था के पुर्नजीवन हेतु, नियोजित आर्थिक विकास के माध्यम को स्वीकृति दे दी गई। संवैधानिक रूप से नियोजन समवर्ती सूची का विषय हैं। 15 मार्च, 1950 को योजना निर्माण हेतु दैनिक

प्रशासकीय मामलों से पूर्णतः स्वतंत्र एक परामर्शदात्री निकाय के रूप में योजना आयोग का एक गैर संवैधानिक संस्था के रूप में गठन किया गया। इस आयोग से यह अपेक्षा की गई है कि वह राष्ट्र के उपलब्ध साधनों के विकास एवं उनके श्रेष्ठ आवंटन का कार्य करेगा तथा इस प्रक्रिया में मौलिक अधिकारों एवं नीति-निर्देशक तत्वों के प्रकाश में अपने कार्यो का समायोजन करेगा। संक्षेप में राष्ट्रीय योजना निर्माण एवं मूल्यांकन का दायित्व आयोग को सौंपा गया, योजना निष्पादन का सम्पूर्ण पक्ष इससे पृथक ही रखा गया।

राष्ट्र की मूलभूत प्राथमिकताओं का निर्धारत तथा निर्धारित लक्ष्णों के परिप्रेक्ष्य में उपलब्ध साधनों का विनियोजन, सम्यक नियोजन हेतु आवश्यक होता हैं। इस प्रकार भारत जैसे विशाल राष्ट्र की एक सम्पूर्ण योजना बनाते समय केन्द्र तथा राज्य के दायित्वों की संवैधानिक पृथकता का, बाधा के रूप में उपस्थित होना अवश्यम्भावी था। इस दुविधापूर्ण स्थिति को दर्शाते हुए एच.के. परांजपे ने कहा था कि,''सामाजिक और आर्थिक आयोजनों को भारतीय संविधान की समवर्ती सूची में सम्मिलित किया गया है, किन्तु योजना से सम्बन्धित सभी महत्वपूर्ण विषय कुल मिलाकर केन्द्र व राज्य की दोनों सूचियों में देखे जा सकते हैं।'' विकास हेतु योजना की आवश्यकता तथा समूचे राष्ट्र के लिए एक योजना बनाने के प्रयास में संविधान द्वारा खींची गई सीमा रेखाएं लाघे जाने की आवश्यकता श्री रामचन्द्रन के द्वारा भी व्यक्त की गई। मूल समस्या यह है कि ''इस प्रकार की योजनाएं किस प्रकार बनायी जायें तथा उनकी क्रियान्वित किस प्रकार की जायें कि वे राष्ट्रीय योजनाएं रह सके तथा साथ ही राज्यों की योजनाओं को भी समन्वित कर सके। इतना ही नहीं, इन उद्देश्यों की प्राप्ति एक ऐसी जनतांत्रिक व्यवस्था के माध्यम से करनी होगी, जिसमें विभिन्न दल (केन्द्र व राज्यों में) अलग-अलग समय में सत्ता में आते जाते रहते हैं।''

योजना आयोग के सामान्य कार्यों में निम्नलिखित शामिल हैं-

1. भौतिक, पूंजीगत तथा मानव संसाधनों का मूल्यांकन।
2. योजना को निर्माण उनके अत्यन्त प्रभावी एवं संतुलित उपयोग के लिए करना।
3. प्राथमिकताएं निश्चित करना तथा योजना के प्रत्येक चरण के मुताबिक स्त्रोतो का आवंटन।
4. योजना के सफल क्रियान्वयन के लिए तंत्र का निर्णय।
5. प्रगति का मूल्यांकन तथा योजना लागू किये जाते समय नीतियों एवं उपायों में संशोधन के प्रस्ताव करना।
6. वर्तमान विकास नीतियों, उपायों इत्यादि पर अंतरिम एवं सहयोगी सिफारिशें करना।

प्रारम्भ से ही प्रधानमंत्री योजना आयोग का अध्यक्ष रहता आया है। उपाध्यक्ष कोई प्रतिष्ठित व्यक्ति होता है जो आमतौर पर केन्द्रीय मंत्री के पद पर आसीन, एक राजनीतिज्ञ ही होता हैं। योजना मंत्री के अलावा योजना आयोग में दो प्रकार के सदस्य होते हैं। कुछ पूर्ण कालिक सदस्य होते है जो कि अर्थशास्त्रियों, समाजशास्त्रियों, तकनीकी विशेषज्ञों अथवा प्रशासकों, जैसे प्रतिष्ठित व्यक्ति होते हैं। इसके अतिरिक्त आयोग के कुछ सदस्य वित्त मंत्री, रक्षा मंत्री आदि जैसे केबिनेट स्तर के मंत्री होते है जो केवल आयोग की अतिआवश्यक बैठकों में भाग लेते हैं। योजना आयोग के कार्यों में सहायता करने के लिए एक विशाल सचिवालय की स्थापना की गई हैं।

योजना आयोग में कुछ सलाहकार भी होते हैं जो कि राज्यों के सम्बन्ध में एक बहुत महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। एक तरफ वे योजना आयोग की राज्य योजनाओं को अन्तिम रूप देने में सहायता करते हैं तथा दूसरी तरफ, राज्यों में विभिन्न विकास कार्यक्रमों की प्रगति की समीक्षा करते हैं। वे राज्य सरकारों के साथ सम्पर्क भी बनाए रखते हैं तथा योजनाओं के क्रियान्वयन में आने वाली समस्याओं का समाधान करने में राज्य सरकारों की सहायता भी करते हैं। इस तरह उनसे योजना आयोग तथा राज्य सरकारों के बीच एक सक्रिय संपर्क के रूप में कार्य करने की अपेक्षा की जाती हैं।

यहां विचारणीय बात यह है कि राष्ट्रीय विकास की आयोजना व्यवस्था में आवश्यक निरन्तरता को उस समय किस प्रकार जीवित रखा जायें जबकि केन्द्र एवं राज्यों में अलग.अलग दलों की, विरोधी नीति रखने वाली सरकारें

सत्तारूढ़ हो और वे एक-दूसरे पर आक्षेप-प्रत्याक्षेप लगाकर एक दूसरे को कमजोर बनाने में जुटी हो। संभवतः इन्हीं प्रश्नों के संदर्भ तथा विशेषतः संघात्मक व्यवस्था होने के फलस्वरूप कोई भी हल राज्यों की समान सहभागिता बिना, हमारी संवैधानिक व्यवस्था में औपचारिक तथा व्यावहारिक रूप मैं स्वीकार नहीं हो सकता। इसलिये योजना आयोग की सिफारिश पर राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन पर्याप्त उपयोगी कदम था। इस प्रकार राष्ट्र के सर्वोच्च राजनैतिक विचार मण्डल के रूप में अगस्त, 1952 में राष्ट्रीय विकास परिषद का गठन कर दिया गया। अपने संगठनात्मक स्वरूप में यह एक संघात्मक संस्था हैं। योजना निर्माण से पूर्व, योजना निरूपण हेतु योजना निर्माण को आवश्यक दिशा निर्देश तथा योजना प्रारूप को अन्तिम स्वरूप देने से पूर्व संस्था द्वारा व्यापक विचार-विमर्श योजना प्रशासन की सम्पूर्ण प्रक्रिया में राज्यों को पर्याप्त भागीदारी का अवसर प्रदान कर देता हैं। इसे (राष्ट्रीय विकास परिषद) तीन महत्वपूर्ण कार्य सौंपे गए- समय-समय पर राष्ट्रीय योजना के कामकाज की समीक्षा, राष्ट्रीय विकास को प्रभावित करने वाली सामाजिक एवं आर्थिक नीतियों के महत्वपूर्ण प्रश्नों पर विचार, तथा राष्ट्रीय योजना के उद्देश्यों व लक्ष्यों को प्राप्त करने के उपायों की सिफारिश।

वर्तमान में प्रधानमंत्री के अलावा जो कि इसका अध्यक्ष भी हैं, इसके सदस्यों में सभी राज्यों तथा केन्द्र शासित प्रदेशों के मुख्यमंत्री तथा संघीय मंत्रीमंडल के मंत्री, शामिल रहते हैं। परिषद की बैठक,यथाशीघ्र जब भी आवश्यकता हो तथा प्रत्येक वर्ष में कम से कम दो बार अवश्य होनी चाहिए। हालांकि, राष्ट्रीय विकास परिषद कोई संवैधानिक निकाय नहीं हैं, इसका वास्तविक गठन ही इसे एक अनोखा चरित्र प्रदान करता हैं, तथा इसकी सिफारिशों का संघ एवं राज्य सरकारों द्वारा यथोचित सम्मान किया जाता हैं। यह सम्पूर्ण नियोजन प्रक्रिया को एक राष्ट्रीय चरित्र प्रदान करती हैं।

संघ से राज्यों को किया जाने वाला स्त्रोतों का हस्तान्तरण तीन श्रेणीयों में बांटा जा सकता है-

- वित्त आयोग की सिफारिशों पर आधारित हस्तान्तरण।
- योजना आयोग द्वारा की गई सिफारिशों पर आधारित योजनाओं को लागू करने के लिए सहायता के बतौर किए जाने वाले हस्तान्तरण, जिनमें केन्द्र द्वारा प्रसारित योजनाएँ भी शामिल है।
- अल्प बचत, ऋणों, प्राकृतिक विपदाओं के लिए सहायता आदि से सम्बद्ध अन्य हस्तान्तरण, जिन्हें संघीय वित्त मंत्रालय के द्वारा दिया जाता हैं।

वित्त आयोग की सिफारिशों पर किए गए हस्तान्तरण, जिन्हें सांविधिक हस्तान्तरण भी कहा जाता हैं। सामान्यतः पांच वर्षों की अवधि के लिए निर्धारित किए जाते है। इनमें से अधिकांश हस्तान्तरण बिना शर्त किए जाते हैं तथा सम्बद्ध कर प्राप्तियों की वृद्धि के संदर्भ में, राज्य आश्वस्त रहता हैं । दूसरी श्रेणी में आने वाले हस्तान्तरणों का एक बड़ा भाग (हिस्सा), राज्य योजनाओं को लागू करने के लिए सहायता के बतौर दिया जाता हैं। योजनाओं के लिए केन्द्रीय सहायता योजना आयोग की सिफारिशों पर आधारित होती हैं। इसके तहत् ऋण एवं अनुदान शामिल रहते हैं। तीसरी श्रेणी वाले हस्तान्तरण, संघ सरकार द्वारा विभिन्न उद्देश्यों (मकसदों) से किए जाते हैं। ये प्राकृतिक विपदाओं, सड़कों की मरम्मत, शिक्षकों के वेतन में वृद्वि इत्यादि के लिए अनुदान तथा ऋणों के रूप में दिए जाते हैं।

केन्द्रीय सहायता, क्षेत्रीय असमानताओं को कम करने तथा विशेष रूप से कम विकसित राज्यों को उनकी विकासात्मक आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वित्त में वृद्वि करने का महत्वपूर्ण औजार हैं। योजना.सहायता हमेशा से राज्यों की योजनाओं के लिए निर्णायक रूप से महत्वपूर्ण रही हैं और वर्तमान में राज्य योजना परिव्ययों की लगभग 50 से 60 प्रतिशत तक केन्द्रीय सहायता से पूरा किया जाता हैं। योजना सहायता के रूप में दी जानी वाली धनराशि जो अनुदानों तथा ऋणों के रूप में दी जाती है, सदैव निर्धारित मानक के आधार पर निश्चि◌ित की गई हैं। इस सबके बावजूद, वास्तविक रूप में अपेक्षाकृत मजबूत राज्य अपने निर्धारित हिस्से से अधिक हड़पते रहे

हैं। प्रायः यह आरोप लगाए गए है कि संघ से किए गए कुल हस्तान्तरणों में से कुछ ही ऐसे है जो कि वित्त आयोग की सिफारिश पर किए गए है, योजना आयोग तथा केन्द्रीय मंत्रालयों के माध्यम से किए गये हस्तान्तरण के रहे है। प्रथमतः योजना-सहायता संघ सरकारबाध्यकारी नहीं है। दूसरा यह कि, केन्द्रीय सहायता का आवंटन राष्ट्रीय विकास परिषद् की स्वीकृति के पश्चात ही किया जाता हैं। जिसमें सभी मुख्यमंत्रीयों का प्रतिनिधित्व भी रहता हैं। तीसरा यह कि, केन्द्रीय सहायता (अनुदान एवं ऋण) का निर्णय निर्धारित मानको के आधार पर किया जाता हैं, जिसमें जनसंख्या प्रभुत्व मानक रहती है, राज्य का पिछड़ापन, अन्य विशेष समस्याएं, आदि भी महत्पूर्ण मानक हैं। चौथा यह कि, केन्द्र द्वारा प्रसारित योजनाओं के मामले में वित्त प्रदान करने की व्यवस्था अर्थात् केन्द्रीय सहायता विभिन्न योजनाओं में राज्यों के निजी योगदान के अनुसार निश्चित की जाती हैं और पहले से उसकी जानकारी दी जाती हैं। जैसा कि सरकारिया आयोग में कहा है, ''व्यावहारिक रूप पर कोई ऐसा त्रुटि- विहीन सूत्र निर्धारित करना संभव नहीं है जो कि केन्द्रीय हस्तान्तरणों को पूर्ण रूप में स्वचालित एवं हस्तक्षेपों से मुक्त हस्तान्तरण के आदर्शो के अनुरूप बना सकें। सम्बद्ध संस्थान में थोड़ा बहुत लचीलापन तथा व्यक्तिनिष्ठ निर्णय की गुंजाइश तो रखनी ही पड़ेगी जिससे वे विशिष्ट परिस्थितियां उत्पन्न होने पर, उनका सामना कर सके। जो चीज वास्वत में महत्वपूर्ण है वह ये कि इस कार्य में शामिल संस्थाओं को स्वच्छ तथा गैर-पक्षपाती ढ़ग से कार्य करना चाहिए और वांछित विवेकशीलता तथा क्षमता के साथ निर्णय करने चाहिए जिससे कि वे राज्यों का स्वीकार्य हो।''

वर्तमान भाजपा सरकार ने योजना आयोग के स्थान पर एक नई संस्था बनाने पर जब प्रधानमंत्री नरेन्द्र मोदी ने 15 अगस्त, 2014 को अपने पहले स्वतंत्रता दिवस संबोधन में कहा कि वे योजना आयोग की जगह नई संस्था बनाना चाहते हैं, तो तदुपरान्त, 1 जनवरी 2015 को उन्होंने राष्ट्रीय भारत परिवर्तन संस्था अथवा 'नीति आयोग' के सृजन की घोषणा की और योजना आयोग की जगह नीति आयोग ने ले ली।

4.5 भारत का केन्द्रवाद: अशोक चन्द्रा विचार

भारतीय संघात्मक व्यवस्था में तीव्र केन्द्रीयकरण की प्रवृति के विकास का आरोप लगाने वाले विचारक मानते हैं कि बलपूर्वक राज्य की प्राथमिकताओं को बदलने का केन्द्रीय प्रयास, योजना आयोग के माध्यम से निरन्तर गति पाता रहा है। संभवतः अशोक चन्द्रा, नेहरू के इस विचार से सहमत नहीं लगते कि योजना आयोग ने, ''एक जरूरी कार्य का सम्पादन किया है, इसके बिना हम आगे नहीं बढ़ सकते थे। हमारी संरचना संघात्मक है और इसने (योजना आयोग ने) विभिन्न राज्यों को एक साथ लाने तथा उनके लिए समाकलित नियोजन (Planning) करने का कार्य किया हैं। यदि यह (योजना आयोग) नहीं होता तो केन्द्र सरकार अपना कार्य नहीं कर सकती थी, तथा तुरन्त ही कठिनाइयां उत्पन्न हो जाती कि केन्द्र सरकार ने राज्यों के अधिकारों पर अतिक्रमण किया हैं। मैं पुनः कहता हूं कि राज्य (राज्य आयोग) एक परामर्श दात्री निकाय हैं और राज्य तथा केन्द्र इससे सम्पर्क करते हैं एवं विचार-विमर्श भी। राज्यों के संदर्भ में इसके द्वारा कही गई प्रत्येक बात सोच विचार कर तथा राज्यों के साथ हुए समझौते का परिणाम है।''

इसके ठीक विपरीत अशोक चन्द्रा की तो स्पष्ट मान्यता है कि अतिप्रभावशाली राजनैतिक व्यक्तियों से युक्त होकर भी योजना आयोग से मात्र यह अपेक्षा करना कि वह एक निष्क्रिय सलाकारी भूमिका से ही सन्तुष्ट हो जायेगा, अव्यावहारिक हैं। ''क्रमशः प्रधानमंत्री के प्रोत्साहन व समर्थन द्वारा आयोग एक उच्च आर्थिक मंत्रिमंडल के रूप में उभरा, यहां तक कि उसने संवैधानिक वित्त आयोग की सत्ता को अस्वीकार कर दिया।'' इस प्रकार अशोक चन्द्रा ने तो ''सामाजिक व आर्थिक सेवाओं के विषय में योजना आयोग व राज्यों के बीच संघर्ष उत्पन्न हुआ हैं, कहते हुए राज्यों के पक्ष का समर्थन इस प्रकार खुले तथा स्पष्ट शब्दों में किया हैं। अतः राज्यों का यह अनुभव करना अस्वाभाविक नहीं है कि इन राष्ट्रीय योजनाओं द्वारा उनकी (राज्यों की) स्वायप्रता पर कुठाराघात पहुंचाया

जा रहा हैं, जिनको स्वरूप देने में उनका हाथ नगण्य अथवा बिल्कुल नहीं है।'' संक्षेप में अशोक चन्द्रा ने इस मत में आस्था प्रकट की है कि योजना ने भारत में प्रजातंत्र तथा संघवाद दोनों को मात दे दी है।

विचारधारा का एक दूसरा पक्ष, भारतीय संघवाद पर योजना के विभिन्न प्रभावों को स्पष्ट करते हुए अशोक चन्दा ने केन्द्रीकृत तस्वीर प्रस्तुत करने के प्रयास में जो अतिरजंना कर डाली है। संभवतः वही स्थिति पाल. एपलबी के विश्लेषण से भी स्पष्ट है, जिनके राष्ट्रीय योजनाओं के क्रियान्वयन के संदर्भ में केन्द्र की स्थिति को दयनीय बतला कर दूसरी पराकाष्ठा को प्रस्तुत किया गया हैं। इस संदर्भ में उनके निम्नलिखित शब्दों को उद्वत करना उनके दृष्टिकोण को समझ सकने में पर्याप्त उपयोगी होगा। नयी राष्ट्रीय सरोकारों किसी भी बड़े नतीजे तथा महत्वपूर्ण राष्ट्र की तुलना में, बहुत कम ही शक्ति के आधारभूत साधन दिये गये हैं। विकास कार्यक्रमों के संदर्भ में चर्चा करते हुए वे कहते हैं कि, केन्द्र के पास विकास के लगभग सम्पूर्ण क्षेत्र में ही किसी प्रकार की वास्तविक शक्तियां नहीं है, इसका (केन्द्र का) 'स्टॉफ' का कार्य है बजाय 'सूत्र' अथवा कार्यात्मक कार्य के तथा इसकी पद्धति बहुत धीमी होती हैं व मुश्किल से ही गतिमान भी।

इसी सम्बन्ध में मोहम्मद करीम छागला का मत अधिक सन्तुलित प्रतीत होता है, ''अब आप लोगों को अनुभव करना चाहिए, जैसा कि में भी महसूस करता हूं कि शायद यह अच्छा रहता यदि हमारा केन्द्र उससे कहीं अधिक शक्तिशाली होता जैसा कि वह अब हैं ऐसे बहुत से मामले हैं जहां हम महसूस करते हैं कि विभिन्न राज्यों की अलग-अलग नीतियों ने हमें भ्रमित किया है और यहां तक कि अव्यवस्था भी फैलाई है, और बहुत से मामले हैं जिनमें यह अधिक उपयुक्त होता यदि हमारी एक समन्वयात्मक नीति होती।''

4.6 केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्ध: एक आलोचनात्मक मूल्यांकन

भारत जैसे किसी नये संघ में केन्द्र-राज्य सम्बंध काफी जटिल होते हैं। सामाजिक राजनीतिक अमेरिका, कनाडा तथा आस्ट्रेलिया जैसे पुराने फैडरेशनों में, संघीय सरकार तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों को लेकर एक आम सहमति के कारण अपेक्षाकृत काफी सहज सम्बन्ध बने हुए हैं। संघ तथा राज्यों के बीच वित्तीय सम्बन्धों के विरूद्ध आम शिकायत, स्रोत्रों के बंटवारे को लेकर है।

वर्तमान में योजना हेतु केन्द्रीय सहायता के दो संभावित स्वरूप हैं- उन परियोजनाओं के लिए सहायता जो केन्द्र द्वारा समर्थित हो तथा उन परियोजनाओं के लिए सहायता जो केन्द्र द्वारा आरम्भ की जाती हो। इस आलोचना को आगे बढ़ाते हुए, यह माना जा रहा है कि केन्द्र सरकार द्वारा आरोपित तथा वसूल किये जाने वाले करों का अपर्याप्त हस्तान्तरण किया जा रहा हैं, और इस प्रकार, अपनी जिम्मेदारी के क्षेत्र में, राज्य की गतिविधियों के लिए उपलब्ध वित्त को कम किया जा रहा है। किन्तु इस सम्बन्ध में कठिनाई यह है कि केन्द्र द्वारा सहायता दिये जाने का कोई एक सरलीकृत स्वरूप नहीं किया जा सकता। ऐसी स्थिति में अस्पष्टता स्वाभाविक है जो कि सम्बन्धों को अस्वस्थ स्वरूप ही प्रदान करता है।

राज्यों की शिकायत है कि आमतौर पर संघ के पास काफी लचीले कर है जबकि गैर-लचीले कर, राज्यों के लिए छोड़े गए हैं तथा उनके कर के आधार भी संकुचित है। उनके द्वारा लगाए जाने वाले विभिन्न करों में से केवल बिक्री-कर तथा कुछ हद तक राज्य उत्पादन शुल्क ने लचीचलेपन के कुछ लक्षण प्रदर्शित किए है। भू-राजस्व ने अपना महत्व खो दिया हैं। राज्यों तथा कुछ आलोचकों का मानना है कि संविधान द्वारा विकास कार्यों, ग्रामीण एवं सामाजिक उत्थान, सामाजिक उपरीव्ययों का निर्माण, आदि की जिम्मेदारी उन्हें सौंपी हैं इसके अतिरिक्त कानून व्यवस्था बनाए रखने का दायित्व तथा सामान्य प्रशासन का व्यय बेतरतीब स्तर तक बढ़ गया है। इसलिए राजस्व तथा व्यय के बीच खाई पैदा हो गई है।

योजना तंत्र की सीमित सफलता का एक कारण योजना मूल्यांकन प्रक्रिया का तुलनात्मक रूप से शिथिल रहना भी रहा हैं। योजना मूल्यांकन संगठन के संतोषजनक कार्य के बाद भी यह स्थिति मूलतः राज्य स्तरों पर योजना

मूल्यांकन प्रक्रिया की लगभग अनुपस्थिति का परिणाम था। इन हालातों में पुनर्निवेशन प्रक्रिया का शिथिल हो जाना स्वाभाविक था, फलस्वरूप राष्ट्रीय योजना का वास्तविक प्राथमिकताओं से भटक जाना सहज ही संभव था। वित्तीय स्त्रोतों के लिए राज्यों की संघ पर भारी निर्भरता के चलते राज्यों के प्रभाव क्षेत्र, प्राधिकार तथा पहलकदमी में, स्वयं उनके संविधान द्वारा परिभाषित दायरे के तहत, लगातार कमी आती गई हैं। संभवतः इन कारणों से भी केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों में पारस्परिक अविश्वसनीयता आ गई थी।

राज्य सरकारों के केन्द सरकार तथा योजना आयोग द्वारा अनेक बार परामर्श के बाद भी अपने योजना तंत्रों को विकसित करने में कोई रूचि प्रकट नहीं की। इस कारण राज्य अपनी आवश्यक प्राथमिकताओं के आधार पर योजना बना सकने में सक्षम नहीं हो पाये। केन्द्र के साथ मिलकर सीमित संयुक्त प्रयासों द्वारा जो भी योजना बनाई गई उसे ही लागू करने का प्रयास किया गया। राज्यों का मूल उद्देश्य केन्द्र से अधिकाधिक सहायता ही लेना बना रहा । इस तरह की गलत प्राथमिकताओं पर टिकी योजनाओं की सफलता संदिग्ध हो जाती हैं। परिणामस्वरूप अनेक क्षेत्रों में असफलताओं का मुंह देखना पड़ा। इन परिस्थितियों में केन्द्र.राज्यों के मध्य वित्तीय मामलों को लेकर गलत संवादो का प्रारम्भ बहुत स्वाभाविक था तथा इस तरह वित्तीय सम्बन्धों का पक्ष संवेदनषीलता लेता ही रहा तथा सारा दोष केन्द्र को देने की कोशिश की जाती रही। वास्तव में राज्यों ने अपने इन्हीं अनुत्तरदायी कृत्यों द्वारा ही ''केन्द्र को केवल एक चाबुकधारी कोचवान की स्थिति में लाकर खड़ा कर दिया।''

विपुल वित्तीय संसाधनों में उनके हिस्से के लिए भी राज्यों को संघ पर निर्भर रहना पड़ता है। इनके तहत् बैंक तथा अन्य वित्तीय संस्थाएं, विदेशी सहायता, तथा अन्तिम विकल्प के तौर पर रिजर्व बैंक द्वारा समर्थित घाटे की वित्त व्यवस्था शामिल हैं। यह कहना सही नहीं है कि उपरोक्त आलोचना सभी राज्यों के दृष्टिकोण का प्रतिनिधित्व करती है।

दरअसल, सरकारिया कमीशन के अनुसार, अधिकांश राज्यों का यह मानना है कि, संविधान में परिकल्पित करारोपण के क्षेत्रों के विभाजन में कोई परिवर्तन करने की आवश्यक ता नहीं हैं। दसअसल, एक राज्य ने तो यहां तक कहा है कि किसी करारोपण के क्षेत्र का, जो कि अभी संघ के पास है, संघ से राज्यों को हस्तान्तरण, धनी राज्यों को और धनी तथा गरीब राज्यों को और ज्यादा गरीब बना देगा। कुछ वर्षों की अवधि में राज्यों के निजी स्त्रोतों तथा उनके राजस्व व्यय के बीच का अन्तर भी संघ के स्त्रोतों के हस्तान्तरण पर उनकी निर्भरता की सीमा का अचूक मापदण्ड नहीं हैं। इस अवयव में एक भिन्नता का कारण भी मौजूद है जो कि राज्य के राजस्व व्यय के स्तर पर एक वृद्विकारी प्रभाव रखता आया हैं। राज्यों का तथाकथित स्त्रोत आधार, इसलिए उनके राजस्व व्यय के स्तर के साथ गुणात्मक रूप से सम्बन्ध नहीं माना जा सकता क्योंकि राजस्व व्यय, स्वयं भी संघ से राजस्व हस्तान्तरणों सहित राज्यों के कुल राजस्व स्त्रोतों पर निर्भर रहता हैं। एक राज्य सरकार द्वारा मात्रात्मक विश्लेषण करने के बाद, यह स्वीकार किया गया है कि राज्य के अप्रत्यक्ष कर यात्रियों तथा मालों पर बिक्रिकर, विद्युत शुल्क, स्टाम्प ड्यूटी, तथा पंजीकरण शुल्क, मूल्यों तथा आय के प्रति काफी कुछ लचीले हैं, किन्तु उनके भू-राजस्व, तथा व्यवसायिक कर जैसे प्रत्यक्ष कर, काफी गैर-लचीले हैं। यदि अन्य फैडरेशन में राजस्व के केन्द्रीकरण तथा व्यय के विकेन्द्रीकरण के आम रूझानों का जायजा लिया जाए, तो यह कहा जा सकता है कि आमतौर पर सम्पूर्ण विश्व में संघ सरकारों का राजस्व पर अधिक तथा बढ़ता हुआ नियंत्रण मौजूद हैं। ये विशेष रूप से आस्ट्रेलिया तथा काफी हद तक संयुक्त राज्य अमेरिका पर लागू हैं। कनाडा में, हालांकि अपेक्षाकृत संतुलित स्थिति हैं। निष्कर्षतः हम कह सकते है कि भारत में राजस्व के केन्द्रीकरण का स्तर, आर्थिक रूप से विकसित फैडरेषन की तुलना में, थोड़ा अधिक है। किन्तु व्यय का विकेन्द्रीकरण भारत में उन फैडरेशन से ज्यादा हैं। इसके परिणामस्वरूप, राज्य के राजस्व में संघीय हस्तान्तरणों के हिस्से की दृष्टि से केन्द्र पर निर्भरता की सीमा, अपेक्षाकृत ऊंची है। हालांकि जहां तक संवैधानिक रूप से सौपे गए करों के रूप में हस्तान्तरण किया जाता है, संघीय हस्तान्तरणों का उच्च अंश, निर्भरता का प्रतीक नहीं कहा जा सकता।

वर्तमान वित्तीय व्यवस्थाओं के संदर्भ में सुधार हेतु कुछ सुझाव-

- केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों को अपेक्षाकृत प्रभावशाली बनाने हेतु प्रशासनिक सुधार आयोग द्वारा वित्त प्रशासन पर अपने प्रतिवेदन में विकास बैंक के गठन का सुझाव दिया था। निश्चय ही यह सुझाव सकारात्मक परिवर्तन ला सकता है।
- केन्द्र तथा राज्यों के मध्य वित्तीय साधनों के असन्तुलन को दूर करने के लिए संविधान में व्यापक संशोधन किये जाने के सुझाव समय-समय पर दिये जाते रहे हैं। इस सन्दर्भ में राज्यों को अतिरिक्त वित्त सुलभ कराने हेतु अनुच्छेद- 270 के अन्तर्गत निगत.कर में संशोधन किये जाने की आवश्यकता है जिससे प्राप्त आमदनी को राज्यों के साथ अनिवार्य रूप से बांटा जा सके।
- राज्यों को अपनी संवैधानिक सीमाओं में रहते हुए स्ववित्तीय साधनों का विकास करना चाहिए।

4.8 निष्कर्ष

केन्द्र-राज्य वित्तीय सम्बन्धों की मूल चुनौती राज्यों की कार्यात्मक स्वायत्रता को बिना बांधा पहुंचाये योजना के माध्यम से, राष्ट्र को समग्र आर्थिक विकास के मार्ग पर ले जाने की हैं। इसीलिए संवैधानिक प्रारूपों को सांदर्भिकता प्रदान करना अनिवार्य हैं। वैसे भी परिस्थितियों के अनुरूप, संघात्मक व्यवस्था में नियोजित अर्थ-व्यवस्था की सफलता हेतु अभिष्ट अनुकूलन वांछनीय ही नहीं अनिवार्य भी है। इसीलिए गत वर्षों में बनी योजना परम्पराओं को नवीन दिशा देना वांछनीय हैं। आवश्यक ता सामाजिक परिवर्तन और स्वस्थ परम्पराओं के विकास की है, जिससे न केवल राजनीतिक अवस्था को कहीं अधिक सक्षम व समर्थ बनाया जा सकेगा, अपितु उन्हीं के अनुकरण के फलस्वस्प ही हमारी सामाजिक एवं आर्थिक व्यवस्थायें जनकल्याणकारी एवं जनवादी बन सकेंगी।

अभ्यास प्रश्न-

1. केन्द्र-राज्य वित्तीय संबंधों का स्वरूप किस अधिनियम से प्रभावित है?
2. केन्द्र तथा राज्य सरकारों की कर्ज लेने की शक्तियां संविधान के किन अनुच्छेदों द्वारा विनियमित होती हैं?
3. संविधान के किस अनुच्छेद के तहत् राष्ट्रपति वित्तीय आपातकाल की घोषणा की सकता है?
4. किन दो आयोगों के माध्यम से केन्द्र तथा राज्यों के बीच वित्तीय हस्तांतरण प्रभावी बनाए जाते हैं?

4.9 सारांश

भारत राज्यों का एक संघ हैं। भारत का संविधान, जो कि 1950 में अस्तित्व में आया, संघ तथा राज्यों के बीच कार्यो तथा राजस्व स्त्रोतों के एक स्पष्ट विभाजन का, प्रावधान करता हैं। संघ तथा राज्यों के बीच करारोपण की मदों का आवंटन एक सामान्य सिद्धान्त पर आधारित है, वह यह, कि वे कर जो स्थान विशेष के हैं तथा स्थानीय उपयोग के विषय से ताल्लुक रखते हैं, राज्यों को सौंपे गए हैं। वे कर जो कि अन्तर्राज्यीय महत्व के हैं, संघ को सौंपे गए हैं। करारोपण की शक्तियों के संदर्भ में कोई समवर्ती प्रभाव क्षेत्र नहीं हैं। आयकर तथा उत्पादन शुल्क राज्यों के बीच बांटे जाते हैं। केन्द्र सरकार देश के भीतर तथा बाहर, दोनों तरह से कर्ज ले सकती है जबकि राज्य केवल देश के भीतर से ही, केन्द सरकार की अनुमति से, कर्ज ले सकते हैं।

1950 में योजना आयोग का गठन किया गया था जिसका मुख्य उद्देश्य, राष्ट्रीय संसाधनों को अत्यन्त प्रभावी उपयोग के लिए तैयार करना था। राष्ट्रीय विकास परिषद विभिन्न योजनाओं तथा नीतियों को मंजूरी देने वाली राष्ट्र की सर्वोच्च निकाय हैं। योजना आयोग, राज्य योजनाएं लागू करने हेतु सहायता के रूप में स्त्रोतों के हस्तान्तरण की सिफारिश करता है जिसमें केन्द्र द्वारा प्रसारित योजनाएं शामिल है। इस आलोचना के बावजूद कि योजना आयोग की सिफारिशें राज्यों की निर्भरता बढ़ाने वाली है, आमतौर पर यह महसूस किया गया है कि ये हस्तान्तरण काफी

हद तक वस्तुनिष्ठ एवं लचीले हैं। केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों का आलोचनात्मक मूल्यांकन यह दर्शाता है कि राज्यों को स्त्रोतों का पर्याप्त हस्तान्तरण किया गया है, वित्त के लिए राज्यों की केन्द्र पर भारी निर्भरता है, राज्यों पर बढ़ता हुआ कर्ज है, आदि। इसका सावधानीपूर्वक अध्ययन किया जाना चाहिए।

4.10 शब्दावली

पूंजी व्यय- यह अर्थव्यवस्था में भौतिक चरित्र की ठोस परिसम्पत्तियों के निर्माण के लिए किया जाने वाला व्यय है। जैसे- भूति, इमारत, मशीनरी इत्यादि।

केन्द्र द्वारा प्रसारित कार्यक्रम- राज्य सूची में पड़ने वाले विषयों पर केन्द्रीय मंत्रालयों द्वारा प्रसारित नियोजित योजनाएँ, जिन्हें राज्य सरकारों द्वारा क्रियान्वित किया जाता है और अधिकांशत केन्द्र सरकार द्वारा वित्त उपलब्ध कराया जाता है।

समवर्ती सूची- व्यापार तथा उद्योग में इजारेदारिया, श्रमिक विवाद, सामाजिक विधि इत्यादि जैसे अंतर्राज्यीय प्रकृति के कार्य, केन्द्र तथा राज्य सरकारों की समवर्ती वैधानिक शक्तियों के तहत रखे गए है। समवर्ती क्षेत्र पर केन्द्र तथा राज्य सरकार के कानूनों के बीच किसी टकराव की स्थिति में, केन्द्र सरकार का कानून प्रभावी रहेगा।

राजस्व व्यय- यह सरकारी विभागों के सामान्य संचालन पर किया जाने वाला व्यय है।

सरकारिया आयोग- आर.एस. सरकारिया की अध्यक्षता में 9 जून 1983 को भारत सरकार के गृह मंत्रालय द्वारा औपचारिक रूप से गठित आयोग। आयोग का उद्देश्य केन्द्र तथा राज्यों के बीच मौजूदा व्यवस्था के कार्यों की परीक्षा करना तथा वर्तमान संवैधानिक ढांचे के भीतर, उपरोक्त व्यवस्था में परिवर्तन के लिए संवैधानिक ढांचे के भीतर, उपरोक्त व्यवस्था में परिवर्तन के लिए यथोचित सिफारिश करना है।

राज्य सूची- यह उन कार्यो तथा शक्तियों को सूचीबद्व करती है जिनके संदर्भ में किसी राज्य-विधानमण्डल को कानून बनाने की विशिष्ट शक्तियों प्राप्त है। इसके तहत कृषि, कानून एवं व्यवस्था आदि शामिल है।

संघ सूची- यह संघ को सौपे गए कार्यो के विभाजन की सूची है। जिनके संदर्भ में संसद को कानून बनाने की विशिष्ट शक्तियाँ प्राप्त है। इसके अन्तर्गत रक्षा, विदेशी मामले, रेलवे इत्यादि के विषय शामिल है।

4.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. भारत सरकार अधिनियम- 1935, **2.** अनुच्छेद- 292 और 293, **3.** अनुच्छेद- 360, **4.** वित्त आयोग और योजना आयोग

4.12 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, चन्द्रमौलि, शर्मा, अशोक एवं गोयल, सुरेशः राजस्थान में राज्य प्रशासन, आर.बी.एस.ए., पब्लिशर्स, जयपुर, 1990
2. कटारिया, सुरेन्द भारत में राज्य प्रशासन, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर-2009
3. भारत सरकार, 1988, केन्द्र- राज्य सम्बन्धों पर आयोग की रिपोर्ट, जनरल मैनेजरःनासिक।
4. थिम्मईया, जी.एच. 1986, वित्त आयोग तथा केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्ध आशीषः नई दिल्ली।
5. केन्द्र राज्य सम्बन्धों पर सरकारिया आयोग की रिपोर्ट भाग-1,1988

4.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिंह, चन्द्रमौलि, शर्मा, अशोक एवं गोयल, सुरेशः राजस्थान में राज्य प्रशासन, आर.बी.एस.ए., पब्लिशर्स, जयपुर, 1990

2. कटारिया, सुरेन्द भारत में राज्य प्रशासन, मलिक एण्ड कम्पनी, जयपुर-2009

4.14 निबन्धात्मक प्रश्न

1. केन्द्र से राज्यों को स्त्रोतों के हस्ताक्षरण के प्रमुख स्त्रोत क्या हैं?
2. केन्द्र तथा राज्यों के बीच, संघीय वित्त पर टकराव के क्षेत्रो का उल्लेख कीजिये।
3. केन्द्र राज्य वित्तीय सम्बन्धों पर एक लेख लिखिए।

इकाई- 5 राजकोषीय नीति, समता और सामाजिक न्याय

इकाई की संरचना

5.0 प्रस्तावना
5.1 उद्देश्य
5.2 राजकोषीय नीति का अर्थ
5.2.1 राजकोषीय नीति की परिभाषाएं
5.2.2 राजकोषीय नीति व मौद्रिक नीति में अंतर
5.3 राजकोषीय नीति का महत्व
5.4 राजकोषीय नीति का उद्देश्य
5.5 राजकोषीय नीति के उपकरण
5.6 भारत की राजकोषीय नीति
5.7 भारत की राजकोषीय नीति के दोष
5.8 राजकोषीय नीति- समता और सामाजिक न्याय
5.9 निष्कर्ष
5.10 सारांश
5.11 शब्दावली
5.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
5.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
5.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
5.15 निबन्धात्मक प्रश्न

5.0 प्रस्तावना

सार्वजनिक आय, सार्वजनिक व्यय, सार्वजनिक ऋण, करारोपण, बजट घाटे, सब्सिडी और हीनार्थ प्रबंधन या घाटे की वित्त व्यवस्था से संबंधित नीतियां 'राजकोषीय नीति' कहलाती है। करारोपण, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण राजकोषीय नीति के प्रमुख घटक होते हैं। सरकार राजकोषीय नीति के द्वारा निजी क्षेत्रों के लिए संसाधनों की उपलब्धता, संसाधनों का आवंटन तथा आर्थिक विकास में सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका इत्यादि को प्रभावित करती है। इस नीति का संचालन सरकार वित्त मंत्रालय की सहायता से स्वयं करती है। राजकोषीय नीति के तहत अत्याधिक मुद्रास्फीति की स्थिति में कम से कम घाटे का बजट बनाने तथा कम से कम हीनार्थ प्रबंधन का सहारा लेने की नीति अपनाई जाती है, साथ ही साथ आवश्यक वस्तुओं पर से कर को समाप्त कर दिया जाता है। सब्सिडी को भी बढ़ा दिया जाता है, ताकि आधारभूत वस्तुओं तक आम जनता की पहुंच भी हो सके। जब अर्थव्यवस्था में समग्र मांग एवं व्यय की कमी के कारण मंदी जैसी स्थिति हो तब सरकार राजकोषीय नीति की सहायता से करों में कमी तथा सार्वजनिक व्ययों में वृद्धि के द्वारा समग्र मांग एवं व्यय को बढ़ाने का प्रयास करके मंदी से निकालने की कोशिश करती है। इसके विपरीत जब अर्थव्यवस्था में समग्र मांग एवं व्यय की अधिकता के कारण अभिवृद्धि की स्थिति हो तो सरकार राजकोषीय नीति के माध्यम से सार्वजनिक व्यय में कमी करके तथा करारोपण में वृद्धि करके अर्थव्यवस्था को संतुलित करने का प्रयास करती है।

अर्थशास्त्री कीन्स की पुस्तक 'द जनरल थ्योरी ऑफ एंप्लॉयमेंट एंड मनी' में प्रतिपादित विचारों में एक विचार यह भी है कि सरकार को राजकोषीय नीति का प्रयोग निर्गत और रोजगार को स्थिर करने के लिए करना चाहिए।

कीन्स के अनुसार सरकार को करों तथा व्यय में परिवर्तनों के माध्यम से राजकोषीय नीति द्वारा अर्थव्यवस्था में स्थिरता लाने का प्रयास करना चाहिए।

राजकोषीय नीति का आशय अर्थव्यवस्था में सरकार के आय-व्यय, ऋण आदि से होता है। परंपरावादी अर्थशास्त्री आर्थिक कार्य में राज्य के हस्तक्षेप के पक्ष में नहीं थे। उनके अनुसार सरकार के केवल तीन ही प्रमुख कार्य मान्य थे- देश में शांति व सुरक्षा, विदेशी आक्रमणों से रक्षा तथा न्याय व्यवस्था करना। परंतु सन 1930 की महामंदी ने परंपरावादी अर्थशास्त्रियों को गलत साबित कर दिया। प्रोफेसर केन्स ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'General Theory' में लिखा कि यदि अर्थव्यवस्था को मंदी से छुटकारा दिलाना है तथा आर्थिक स्थिरता को अपनाना है तो सार्वजनिक व्यय निर्माण आदि पर व्यय करना चाहिए। वही नीति वर्तमान में राजकोषीय नीति के नाम से जानी जाती है। राजकोषीय नीति में हम सरकार के उन कार्यों का उल्लेख करते हैं, जो सरकार की प्राप्तियों तथा व्यायों को प्रभावित करते हैं। इस प्रकार राजकोषीय नीति सार्वजनिक व्यय तथा करों में परिवर्तन से संबंधित होती है। इस नीति का अंतिम लक्ष्य पूर्ण रोजगार और कीमत स्तर में स्थिरता लाना है। सरकारी व्यय तथा कराधान को राजकोषीय नीति का औजार माना जाता है। इन्हीं के माध्यम से सरकार राष्ट्रीय आय, रोजगार कीमतों को प्रभावित करके राजकोषीय स्थिरता कायम रखने का प्रयत्न करती है। राजकोषीय नीति का प्रमुख साधन करारोपण होता है। राजकोषीय नीति को 'क्रियात्मक वित्त' भी कह दिया जाता है।

5.1उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजकोषीय नीति के अर्थ एवं परिभाषाओं को समझ पाएंगे।
- राजकोषीय नीति तथा मौद्रिक नीति में अंतर को समझ पाएंगे।
- राजकोषीय नीति के महत्व उद्देश्य तथा उपकरण के बारे में जानकारी प्राप्त कर पाएंगे।
- भारत की राजकोषीय नीति एवं उसके दोष के बारे में जान पाएंगे।
- राजकोषीय नीति- समता एवं सामाजिक न्याय को विस्तार से जान पाएंगे।

5.2 राजकोषीय नीति का अर्थ

राजकोषीय नीति का असर इस सरकार की नीतियों से है जो वह खर्च, निवेश और टैक्स की दरों को लेकर बनाती है। इसका मकसद टैक्स की दरों और सार्वजनिक खर्च के बीच संतुलन बिठाना होता है ताकि महंगाई के बड़े बिना ही आर्थिक विकास सुनिश्चित हो सके। राजकोषीय विस्तार का उद्देश्य टेक्स को घटाकर और सरकारी खर्च को बढ़ाकर कुल मांग और विकास को बढ़ावा देना होता है। साधारण शब्दों में राजकोषीय नीति सरकार के संपूर्ण व्यय, आयकर, उत्पादन तथा रोजगार से संबंधित होती है। दूसरे शब्दों में, यह एक ऐसा यंत्र है जो कि अर्थव्यवस्था की आर्थिक क्रियाओं को नियमित करता है। राजकोषीय नीति को 'बजट नीति' उपनाम से भी संबोधित किया जाता है। राजकोषीय का अंग्रेजी पर्याय 'फिसकल' है जोकि यूनानी भाषा के शब्द, 'फिस्क' से बना है, जिसका अर्थ है, 'टोकरी' अथवा 'डलिया' जो कि सरकारी खजाने को व्यक्त करती है। प्रमुख अर्थशास्त्री लॉर्ड केन्स को राजकोषीय नीति को नया मोड़ देने का श्रेय दिया जाता है। कीन्स की पुस्तक 'General Theory' के प्रकाशन के बाद ही इस तथ्य को समझा गया कि, सरकारी आय और व्यय कार्यक्रम का प्रभाव राष्ट्रीय आय के स्तर पर पड़ सकता है। इस जानकारी के बाद ही राजस्व तथा लोक व्यय में आवश्यकता अनुसार परिवर्तन करके आर्थिक नीतियों के उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयास किए जाने लगे। लोक आय तथा व्यय के ऐसे समायोजन को ही

राजकोषीय नीति का नाम दिया गया। विभिन्न विचारकों ने राजकोषीय नीति की विभिन्न परिभाषाएं दी हैं जिनके आधार पर हम राजकोषीय नीति के अर्थ को समझने का प्रयास करते हैं।

5.2.1 राजकोषीय नीति की परिभाषाएं

आर्थर स्मिथिज शब्दों में, "राजकोषीय नीति वह नीति है जिसके अंतर्गत सरकार अपने व्यय एवं राजस्व कार्यक्रमों का उपयोग करके राष्ट्रीय आय, उत्पादन तथा रोजगार पर वांछनीय प्रभाव डालने की कोशिश करती है तथा अवांछनीय प्रभाव से बचने का प्रयास किया जाता है।"

एम. ए. सैमुल्सन ने राजकोषीय नीति को कुछ इस प्रकार से परिभाषित करते हुए कहा कि, "तार रूप में राजकोषीय नीतियां करों तथा सरकारी व्यय के साथ-साथ स्थाई मौद्रिक नीतियों के सहयोग में कार्य करती है। इनका उद्देश्य उच्च रोजगार और बढ़ती हुई अर्थव्यवस्था होता है, किंतु इसे प्राप्त करने के लिए वह कीमत प्रसार के बिना ही काम चलाते हैं।"

श्रीमती उर्मिला हिक्स के शब्दों में, "राजस्व नीति एक ऐसी नीति है जिसके हर विभिन्न तत्व अपना कार्य करते हुए फिर एक साथ मिलकर आर्थिक नीति को सुदृढ़ करते हैं।"

इसी प्रकार राजकोषीय नीति की व्याख्या करते समय जी. के. शॉ ने लोक राजस्व तथा लोक व्यय में सरकार द्वारा सोच समझकर तथा जानबूझकर किए गए परिवर्तनों पर बल दिया है तथा बताया है कि राजस्व तथा व्यय में होने वाले स्वचालित परिवर्तनों के कारण आर्थिक क्रियाओं पर जो प्रभाव पड़ते हैं उनसे इस नीति को पृथक समझना चाहिए। इस प्रकार उपरोक्त समस्त परिभाषा को पढ़ने के बाद निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि राजकोषीय नीति का अर्थ उसके उद्देश्यों एवं भूमिका के लिए वितरण पर आधारित है। अर्थव्यवस्था में सर्वोच्च उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति व्यय, ऋण,कर, आय,हीनार्थ प्रबंधन आदि की समुचित व्यवस्था बनाए रखती है, जैसे- आर्थिक विकास, कीमत में स्थिरता, रोजगार, का, करारोपण, सार्वजनिक आय व्यय, सार्वजनिक ऋण आदि। इन सब की व्यवस्था राजकोषीय नीति में की जाती है। राजकोषीय नीति के आधार पर सरकार करारोपण करती है। सरकार यह देखती है कि,देश में लोगों की करदान क्षमता बढ़ रही है अथवा घट रही है। इन सब बातों का अनुमान लगाकर ही सरकार करों का निर्धारण करती है। व्यय नीति में भी वह निर्णय शामिल किए जाते हैं जिनका अर्थव्यवस्था पर प्रभाव पड़ता है। राजकोषीय नीति आय, व्यय तथा ऋण के द्वारा सामाजिक उद्देश्यों की पूर्ति करती है।

5.2.2 राजकोषीय नीति व मौद्रिक नीति में अंतर

राजकोषीय नीति के बारे में विस्तार से जानने से पहले यह भी जान लेना आवश्यक है कि राजकोषीय नीति और मौद्रिक नीति में भी अंतर होता है। राजकोषीय नीति में सार्वजनिक राजस्व, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण आदि का समावेश किया जाता है। सार्वजनिक राजस्व में प्रमुखत: करों की मात्रा व प्रकार आते हैं और सार्वजनिक व्यय में अनेक प्रकार के कर आते हैं; जैसे- राजस्व व्यय, पूंजीगत व्यय आदि। मौद्रिक नीति के द्वारा देश का केंद्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति तथा ब्याज की दरों, विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के लिए ऋण की राशि का आवंटन और ऋण की शर्तों आदि को प्रभावित करता है। इसके कई अस्त्र होते हैं; जैसे- भारत में रिजर्व बैंक की बैंक- दर, खुले बाजार की क्रियाएं, नकद- रिजर्व- अनुपात(CRR), वैधानिक- तरलता- अनुपात (SLR), रेपो- दर, रिवर्स रेपो-दर आदि। इन दोनों ही नीतियों को और अच्छे से समझने के लिए इन दोनों के अंतर को निम्न बिंदुओं के द्वारा जान लेना सहायक होगा-

1. मौद्रिक नीति के संबंध में केंद्रीय बैंक पूर्ण स्वतंत्र होता है, जबकि राजकोषीय नीति में सरकार कम स्वतंत्र होती है और प्रत्येक मद की राशि के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है।

2. मौद्रिक नीति का प्रत्येक क्षेत्र पर परोक्ष प्रभाव पड़ता है, जबकि राजकोषीय नीति का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।
3. मौद्रिक नीति प्रायः राजनीतिक प्रभाव से मुक्त रहती है, जबकि राजकोषीय नीति राजनीतिक प्रभाव से प्रभावित होती है।
4. मौद्रिक नीति का भार या प्रभाव देश के सभी भागों में तथा सभी वर्गों पर समान रूप से पड़ता है, जबकि राजकोषीय नीति का लाभ आभार सभी पर समान नहीं होता है।
5. राजकोषीय नीति वित्त मंत्रालय द्वारा प्रशासित की जाती है, जबकि मौद्रिक नीति देश के केंद्रीय बैंक द्वारा प्रशासित की जाती है।
6. राजकोषीय नीति सरकारी राजस्व और व्यय से संबंधित है, वहीं दूसरी तरफ मौद्रिक नीति उधार और वित्तीय व्यवस्था से संबंधित होती है।

राजकोषीय नीति के अंतर्गत मुख्य रूप से चार बातों को सम्मिलित किया जाता है- सरकार की करारोपण नीति, सरकार की व्यय नीति, सरकार की ऋण नीति, सरकार की बजट नीति ।

5.3 राजकोषीय नीति का महत्व

राजकोषीय नीति में समय-समय पर अनेक परिवर्तन होते रहे हैं। प्राचीन काल में यह माना जाता था कि राजकोषीय नीति केवल संकटकाल में ही सहायक हो सकती है एवं सामान्य परिस्थितियों में इसका कोई महत्व नहीं है। परंतु समय बीतने के साथ-साथ अर्थव्यवस्था का स्वरूप परिवर्तित होने लगा तथा मुद्रा का आविष्कार, औद्योगिकरण, आर्थिक प्रणालियों का जन्म, जनसंख्या की वृद्धि, व्यापार चक्रों का आना, बेरोजगारी का बढ़ना, विकास व्यय तथा युद्ध व्यय में वृद्धि , मंदीकाल आदि अनेक समस्याओं ने विश्व की अर्थव्यवस्था को प्रभावित कर दिया था । अतः इन समस्याओं के समाधान के लिए राजकोषीय नीति की आवश्यकता महसूस होने लगी थी। 1930 की विश्वव्यापी मंदी को दूर करने की समस्या के लिए प्रोफेसर कीन्स ने भी राजकोषीय नीति की सहायता लेकर इस बात को प्रामाणिकता के साथ सिद्ध कर दिया था कि, बेरोजगारी और मंदी जैसी समस्याओं का हल किया जा सकता है।

वर्तमान संदर्भ में अल्प विकसित एवं विकासशील देशों में पूंजी निर्माण की समस्या का समाधान राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता पर ही निर्भर करता है। ऐसे देशों में राजकोषीय नीति की भूमिका प्रावैगिक (Dynamic) होती है। राजकोषीय नीति देश के वास्तविक एवं मौद्रिक साधनों में समन्वय स्थापित करती है तथा नियोजित अर्थव्यवस्था वाले देशों पर प्रभाव डालती है। अल्पविकसित देशों में बचतों का प्रयोग अनुत्पादक दशाओं में अधिक होता है, परंतु राजकोषीय नीति कराधान, सार्वजनिक ऋणों एवं व्यय के माध्यम से बचतों को उत्पादक दिशाओं में मोड़ने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। अल्प विकसित देशों में कराधान निजी उपयोग को घटाने, पूंजी निर्माण के निष्क्रिय साधनों को सक्रिय करने, ऐच्छिक बचतों की प्रवाहहीनता को पूरा करने,विलासिता पूर्ण एवं अपव्यय पूर्ण उपभोग को घटाने, अल्प बचतों का एकीकरण करके बड़ी मात्रा में सरकारी खाते में साधनों का हस्तांतरण करने का उपयोगी एवं महत्वपूर्ण साधन है। आर्थिक विकास में अकेली मौद्रिक नीति निष्प्रभावी रहती है। इसलिए पूंजी निर्माण की दर बढ़ाने, निजी एवं सार्वजनिक निवेश का धरातल तैयार करने में राजकोषीय नीति का सहयोगी रूप में प्रयोग किया जा सकता है। राजकोषीय नीति आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने में सकारात्मक कार्य करती है तथा निवेश को सुविधाजनक बनाकर साधनों का सर्वोत्तम वितरण करने का प्रयास करती है। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि देश की अर्थव्यवस्था के संचालन में राजकोषीय नीति का एक महत्वपूर्ण स्थान है। वर्तमान समय में बिना राजकोषीय नीति के काम नहीं चल सकता है। कार्यात्मक वित्त के रूप में राजकोषीय नीति का स्थान बहुत महत्वपूर्ण है।

5.4 राजकोषीय नीति का उद्देश्य

जैसा कि आपने अब तक जाना कि राजकोषीय नीति का विकास मुख्य रूप से प्रोफेसर कीन्स के इन विचारों के साथ हुआ है कि, आर्थिक स्थिरता के लिए अकेली मौद्रिक नीति अपर्याप्त है तथा इस कमी को राजकोषीय नीति के द्वारा ही पूरा किया जा सकता है। किंतु कीन्स के विचार अल्प विकसित देशों की स्थिति में अपर्याप्त हैं क्योंकि विकासशील एवं अल्पविकसित देशों में बचत करने की प्रवृत्ति बढ़ाने एवं उपभोग व्यय को कम करने की आवश्यकता रहती है। इसी कारण कीन्सवादी विचारों को अल्प विकसित देशों की अर्थव्यवस्था में कम महत्व दिया जाता है। अल्प विकसित देशों में राजकोषीय नीति का उद्देश्य क्रियात्मक वित्त प्रबंधन तथा कार्यशील वित्त प्रबंधन की व्यवस्था करना है। विकसित देशों में राजकोषीय नीति का उद्देश्य उपभोग प्रवृत्ति को ऊंचे स्तर पर बनाया रखकर आर्थिक स्थिरता और पूर्ण रोजगार को प्राप्त करना होता है, परंतु इसके विपरीत अल्प विकसित देशों में पूंजी निर्माण की दर को बढ़ाकर आर्थिक विकास की गति को तेज करने के लिए कार्य करना इसका उद्देश्य होता है। यद्यपि राजकोषीय नीति के उद्देश्य किसी राष्ट्र विकास के लिए उसकी परिस्थितियों, विकास संबंधी आवश्यकता और विकास की अवस्था के आधार पर निर्धारित किए जाते हैं परंतु फिर भी सामान्य दृष्टि से अल्प विकसित एवं विकासशील देशों की राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्य निम्न प्रकार से बताए जा सकते हैं-

1. **पूंजी निर्माण-** अल्प विकसित देशों में प्रति व्यक्ति वास्तविक आय के कम होने के कारण वहां बचत भी बहुत कम होती है। जिसके फलस्वरूप विनियोग हेतु आवश्यक पूंजी का अभाव सदा बना रहता है। निम्न आय, अल्प बचत, कम विनियोग और निम्न उत्पादकता के कारण निर्धनता के दुष्चक्र (Vicious Circle of Poverty) का जन्म होने लगता है। इस दुष्चक्र को तोड़ना राजकोषीय नीति का प्रमुख उद्देश्य माना जाता है। किंतु इन देशों में आय के स्तर को देखते हुए उपभोग की प्रवृत्ति (Propensity to Consume) अधिक होती है, इसलिए राजकोषीय नीति के अंतर्गत करारोपण द्वारा चालू उपभोग को कम करके, बचत में वृद्धि करने के प्रयत्न किए जाते हैं, ताकि पूंजी निर्माण के लिए आवश्यक धनराशि प्राप्त हो सके। प्रोफेसर रागनर नर्कसे का मत है कि, "अल्प विकसित देशों में करारोपण-नीति का उद्देश्य राष्ट्रीय आय में उसी अनुपात में वृद्धि करना है जो पूंजी निर्माण में लगाया जाता है।" यदि अल्प विकसित देशों में अनावश्यक उपभोग पर करारोपण द्वारा आवश्यक रोक नहीं लगाई जाएगी तो इसके कुछ घातक परिणाम हो सकते हैं। जैसे- देश में पूंजी निर्माण का कार्य या तो अमरुद बना रहेगा या अत्यंत धीमी गति से होगा, आर्थिक विकास के फल स्वरुप होने वाली आय वृद्धि पूर्णतया उपभोग कर ली जाएगी तथा देश की मुद्रा-स्फितिक दशाएं उत्पन्न होने लगेंगी।
2. **पूर्ण रोजगार-** किसी भी देश की अर्थव्यवस्था में राजकोषीय नीति का प्रथम उद्देश्य पूर्ण रोजगार की प्राप्ति होता है। यदि किसी कारणवश पूर्ण रोजगार की स्थिति नहीं आती है, तो लगभग पूर्ण रोजगार की दिशा बनाए रखनी होती है तथा बेरोजगारी का पूर्ण उन्मूलन करना होता है। इसके लिए राज्य को सामाजिक तथा आर्थिक कार्यक्रमों पर अधिक ध्यान देना पड़ता है। इस तरह से अधिक से अधिक रोजगार के अवसर प्राप्त होंगे तथा अर्थव्यवस्था की कार्य क्षमता में वृद्धि होगी। यहां सार्वजनिक व्यय एवं सरकारी उपक्रम की एक मुख्य भूमिका है। एक नियोजित निवेश द्वारा न केवल आय तथा रोजगार बढ़ेंगे बल्कि कई गुना मांग भी बढ़ेगी और इस तरह अर्थव्यवस्था पूर्ण रोजगार की ओर बढ़ती जाएगी। निजी निवेश को भी प्रोत्साहन मिलना चाहिए। इसके लिए सस्ते दर पर ऋण की व्यवस्था होनी चाहिए। कुछ सूट और अनुदान भी दिए जाने चाहिए। ग्रामीण क्षेत्रों में लोगों को प्रशिक्षण, ऋण तथा सामान देकर लघु उद्योग चलाने के लिए प्रेरित किया जाना चाहिए। इस तरह के व्यय से एक सीमा तक बेरोजगारी की समस्या दूर हो जाएगी।

3. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि-** राजकोषीय नीति के अन्य उद्देश्यों की पूर्ति का प्रभाव राष्ट्रीय आय पर अप्रत्यक्ष रूप से पड़ता है। पूंजी निर्माण, निवेश प्रोत्साहन तथा वित्तीय साधनों की वृद्धि से राष्ट्रीय आय में वृद्धि होती है। प्रोफेसर स्पेंग्लर ने इस संदर्भ में कहा कि, "ऐसे बहुत से कार्य हैं जो निजी साहसियों द्वारा किए जाने होते हैं,सरकार स्वयं उन्हें संपन्न करके साहसियों की कमी को पूरा कर सकती है।" राष्ट्रीय आय में वृद्धि करने की दृष्टि से राजकोषीय नीति के अंतर्गत सदैव कुछ बातों का ध्यान रखा जाना चाहिए जैसे- करारोपण द्वारा प्राप्त बचतों का तत्काल विनियोग किया जाए, सार्वजनिक व्यय और सार्वजनिक ऋण की अधिकांश मात्रा नए निर्माण और विकास कार्यों की ओर की जाए,देश में निजी उद्यम कर्ताओं को कर छूट द्वारा अथवा वित्तीय सहायता प्रदान करके वीडियो करने के लिए प्रेरित किया जाए। यह बात ठीक है कि अल्प विकसित देशों में नवप्रवर्तन और उद्यमियों का अभाव होता है, परंतु जैसा कि स्पेंग्लर ने कहा कि यदि राजकोषीय नीति का निर्धारण उपयुक्त उपायों को दृष्टि में रखकर किया जाए तो निश्चित है कि इसमें विनियोजन कार्य को प्रोत्साहन मिलेगा जिससे राष्ट्रीय आय में निश्चित तौर पर वृद्धि होगी।
4. **मूल्य स्थिरता-** एक अल्प विकसित देश के लिए आर्थिक विकास तथा स्थिरता दोनों ही आवश्यक होती हैं। विकासशील देशों में स्फीति (inflation) के रूप में अस्थिरता झलकती है। प्रो. नर्कसे ने यह देखा कि निवेश में महंगाई निहित है, परंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि निवेश पर अंकुश लगाया जाए। दूसरे कई उपाय हैं, जिससे इस पर नियंत्रण पाया जा सकता है। उनमें से एक उपाय शक्तिशाली राजस्व नीति भी है। विकासशील देश में यह एक विशेष बात है कि मूल्यों में वृद्धि होती है, क्योंकि सरकारी खर्चे बढ़ते रहते हैं। आय बढ़ने से मांग बढ़ती है। मांग बढ़ने से पूर्ति कम होने लगती है। इस प्रकार पूंजीगत वस्तुओं (Capital goods) तथा उपभोग की वस्तुओं (Consumer goods) में समानता नहीं रह पाती है। दोनों एक साथ नहीं चल सकते। अतः एक मध्यांतर (gap) दोनों के बीच में आ जाता है, जिसको महंगाई खाई अर्थात स्फीति खाई (inflation gap) भी कहते हैं। जैसे-जैसे मांग बढ़ती है, मूल्यों में वृद्धि होती है तथा यह मध्यांतर (gap) निरंतर बढ़ता जाता है। यदि इस प्रवृत्ति पर प्रतिबंध नहीं लगाया जाता है तो महंगाई नियंत्रण से बाहर हो जाएगी।
5. वास्तव में मुद्रा स्फीति विकासशील देशों में होती है क्योंकि सरकारी खर्च, आय से अधिक होने लगता है। इससे उत्पादन, निवेश तथा पूंजी निर्माण को बल मिलता है परंतु स्फीति खाई के बढ़ने से अर्थव्यवस्था को पीछे धकेल दिया जाता है। इस अवस्था में सरकारी खर्चों में कटौती होनी चाहिए। करदाताओं तथा ऋण में वृद्धि होनी चाहिए। संक्षेप में कहा जाए तो राजस्व नीति को किसी भी तरह की हठधर्मिता छोड़नी चाहिए, ताकि अर्थव्यवस्था में किसी भी प्रकार का असंतुलन ना उत्पन्न हो। आवश्यक वस्तुओं पर पूर्ण नियंत्रण रखा जाए। इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि राजस्व नीति तथा मुद्रा नीति दोनों ही आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है।
6. **आय तथा धन वितरण की विषमताओं को कम करना-** आय तथा धर्म के वितरण की समानता बनाए रखना आर्थिक विकास का केवल लक्ष्य ही नहीं वरन एक पूर्व आवश्यकता भी है। एक विकासशील अर्थव्यवस्था में आय तथा धन का सामान वितरण बहुत महत्वपूर्ण होता है। प्रायः ऐसे देशों में असमानता विद्यमान रहती है। कुछ लोगों के पास ही धन रहता है, क्योंकि निजी स्वामित्व का बोलबाला रहता है। असमानता के अतिरिक्त राजनीतिक तथा सामाजिक असंतोष इस स्थिति को और अधिक भयानक बना देते हैं। समाज के विभिन्न वर्गों में व्याप्त असमानता को दूर करने के लिए सरकार को नई नीतियां बनानी चाहिए। सरकार को चाहिए कि अपनी राजकोषीय नीति का निर्माण कुछ इस प्रकार से करें कि धन वितरण की विषमता देश में कम से कम हो। इस दृष्टि से राजकोषीय नीति के अंतर्गत कुछ उपायों को शामिल किया जाना चाहिए जैसे- धनी वर्ग पर प्रगतिशील कर (Progressive Tax)

लगाया जाना चाहिए जिससे कि सरकार को अतिरिक्त रूप से आय प्राप्त हो सके लेकिन करों की मात्रा कम रखी जानी चाहिए। निर्धन अथवा अल्प आय वर्ग वर्करों की मात्रा कम रखी जानी चाहिए। विलासिता की वस्तुओं पर भारी मात्रा में कर लगा कर, किए जाने वाले व्यय को विनियोग के क्षेत्रों की ओर हस्तांतरित किया जाना चाहिए। सरकार को अपना अधिकांश व्यय सामाजिक सेवाओं अथवा विशेष रूप से उन मुद्दों पर करना चाहिए जिनसे निर्धनों को अधिक लाभ पहुंचता हो। राजकोषीय नीति का ढांचा इस प्रकार होना चाहिए कि अनुपार्जित आय पर यथार्थ रोक लगाई जा सके और विकास के लिए आय (Economic surplus) की उपलब्धि हो सके।

7. **आर्थिक विकास दर को गति प्रदान करना-** मुख्य रूप से किसी भी देश की राजकोषीय नीति को विकास दर में गति प्रदान करने वाला होना चाहिए। किंतु विकास की उच्च दर बिना मूल्य स्थिरता को प्राप्त नहीं हो सकती है। अतः कर, सार्वजनिक ऋण तथा वित्तीय घाटा इस प्रकार प्रयोग होना चाहिए ताकि यह उत्पादन, उपभोग तथा वितरण को प्रभावित ना करें। अर्थव्यवस्था का विकास होता की राष्ट्रीय आय और प्रति व्यक्ति आय में बढ़ोतरी हो। इस संबंध में श्रीमती हिक्स का कथन है कि, चूँकि राजस्व नीति एक आर्थिक क्रियाकलाप है, प्रत्येक देश इसे अपनाना चाहता है ताकि स्थिरता और विकास कायम रहे परंतु, इनका सापेक्षिक महत्व प्रत्येक देश में अलग है। संतुलित एवं नियमित प्रसार जहां उतार-चढ़ाव को कम करते हैं, वहीं पर रोजगार की स्थिति विकास के लिए वरदान सिद्ध होगी।
8. **संसाधनों का अनुकूलतम बंटवारा-** सार्वजनिक व्यय कार्यक्रम विभिन्न क्षेत्रों में संसाधन के बंटवारे को बुरी तरह से प्रभावित कर सकते हैं। यह सत्य है कि अल्प विकसित देशों में राष्ट्रीय आय तथा प्रति व्यक्ति आय न्यूनतम होती है। इसमें सुधार लाने हेतु सरकार सामाजिक संसाधनों को इस कार्य में ला सकती है। सार्वजनिक व्यय, अनुदान तथा प्रोत्साहन आदि संसाधनों के वितरण में अनुकूल प्रभाव ला सकते हैं। करों में छूट देने से नए उद्योगों में संसाधनों को आकृष्ट किया जा सकता है। दूसरी ओर टैक्स में वृद्धि से संसाधन को खतरा बना रहता है। इसलिए हमें अपने उपभोग तथा अनुत्पादक निवेश में कटौती करनी चाहिए ताकि संसाधनों का उचित उपयोग हो सके तथा मुद्रास्फीति की प्रवृत्ति को रोका जा सके। अतः राजकोषीय नीति एक अल्प विकसित देश के लिए सुरक्षा या बचाव की नीति के रूप में उपयोगी सिद्ध होती है क्योंकि इससे आर्थिक विकास को प्रोत्साहन मिलता है।
9. **आर्थिक स्थिरता-** राजकोषीय नीति ऐसी हो कि वह अंतर्राष्ट्रीय उतार-चढ़ाव का सामना करते हुए आर्थिक स्थिरता प्रदान करने की क्षमता रखती हो। व्यापार में होने वाले उतार-चढ़ाव से विकसित देशों को लाभ पहुंचता है,जबकि विकासशील देशों के लिए यह अवांछनीय है। अपने अतः आर्थिक स्थिरता लाने के लिए विक्की प्रणाली में ऐसी लचक होनी चाहिए ताकि सरकार की आय तथा व्यय एक दूसरे के पूरक बने रहें। इस तरह हम देखते हैं कि आंतरिक या बाहरी कारणों से होने वाली अस्थिरता एक सीमा तक इस नीति से नियंत्रण में आ जाती है।
10. **निवेश को प्रोत्साहन-** राजकोषीय नीति का एक अन्य उद्देश्य निजी क्षेत्र अथवा सरकारी क्षेत्र में निवेश दर को गति प्रदान करना होता है। सर्वप्रथम यह सरकारी क्षेत्र में निवेश करने के लिए प्रोत्साहित करता है। तत्पश्चात निजी क्षेत्र में इसका विस्तार होने लगता है। इस पर है वित्तीय नीति आर्थिक विकास की ओर कार्य करती है। अतः हमें उन्हीं क्षेत्रों मंत अधिक अधिक निवेश करना चाहिए जो सामाजिक दृष्टि से अनिवार्य हैं। अर्थव्यवस्था को सुदृढ़ बनाने हेतु यातायात, संचार, सिंचाई, डैम, बाढ़ पर नियंत्रण, बंदरगाह औद्योगिक प्रशिक्षण, शिक्षा, स्कूल, एवं अस्पतालों पर व्यय करना चाहिए। विकास परियोजनाओं को बल मिलेगा और धीरे-धीरे निवेश में वृद्धि होती रहेगी।

5.5 राजकोषीय नीति के उपकरण

पूर्ण रोजगार की स्थिति बनाए रखने में राजकोषीय नीति की बहुत महत्वपूर्ण भूमिका होती है। ऐसी स्थिति में न तो मुद्रास्फीति और ना ही महामंदी का कोई स्थान होता है। राजकोषीय नीति के विभिन्न अंगों को यदि जानना चाहे तो वह कुछ इस प्रकार से होते हैं- आइए राजकोषीय नीति के अंगो का विस्तार से विवेचन करते हैं।

1. **बजट-** जैसा कि आप जानते होंगे कि बजट किसी देश की अर्थव्यवस्था के उतार-चढ़ाव को प्रकट करता है। बजट अनेक प्रकार के होते हैं। जैसे-वार्षिक बजट (Annual Budget), चक्रीय संतुलित बजट (Cycli cally Budget), पूर्णरूपेण प्रबंधित क्षति पूर्ण बजट (Fully Managed Compensatory Budget)।

   - वार्षिक बजट- वार्षिक बजट मुख्य रूप से विश्व मंदी के समय (1930) तक बहुत लोकप्रिय रहा। वार्षिक बजट के कुछ सकारात्मक पक्ष है जो इसकी लोकप्रियता को बढ़ावा देते हैं जैसे- इसमें सरकारी आय तथा व्यय संतुलित रहती है। वर्तमान गतिविधियों में धन खर्च होता है। संतुलित बजट से महंगाई या महामंदी नहीं होती है। राजनीतिक दृष्टि से यह उचित है। पूर्ण रोजगार की संभावनाएं हैं। इसमें कर अधिक होता है। इससे आय में वृद्धि होती है तथा व्यय में कमी आती है।
   - परंतु इस सिद्धांत में के भी कई तरह के प्रतिरोध है जैसे- यह कहा जाता है की वार्षिक संतुलित बजट कुछ उदासीन प्रकृति का होता है तथा पूर्ण रोजगार की प्राप्ति की बात भी नहीं मानी जा सकती है। साथ ही कुछ अर्थशास्त्रियों का यह कहना है कि वार्षिक संतुलित बजट में कर-भार कम होता है।
   - चक्रीय संतुलित बजट- चक्रीय संतुलित बजट स्वीडिश बजट (Swedish Budget) भी कहा जाता है। ऐसे बजट में होने के कारण सार्वजनिक ऋण को वापस लेने का प्रयास किया जाता है परंतु विक्रांति (Recession) के समय घाटे का बजट किस प्रकार बनाया जाता है ताकि मुद्रास्फीति के समय जो धन फालतू था वह वित्तीय घाटे के साथ संतुलित हो सके। इस प्रकार सक्रिय संतुलित बजट व्यापार में स्थिरता प्रदान करता है। इस बजट को भी अनुकूल माध्यम जाने के पीछे अनेक कारण हैं। जैसे- इस बजट में सरकार अपनी आवश्यकतानुसार अपने वित्त को अनुकूल बना सकती है, यह नीति प्रत्येक प्रकार के समय के लिए अनुकूल होती है तथा साथ ही यह स्थिरता प्रदान करती है, किंतु इस बात की कोई गारंटी नहीं है होती है कि पूर्ण रोजगार की स्थिति आएगी।
   - पूर्णरूपेण प्रबंधित क्षति पूर्ण बजट- इस तरह के बजट के अंतर्गत टैक्स में सोच विचार कर अनुकूलता प्रदान की जाती है। व्यय, राजस्व,सार्वजनिक ऋण आदि पर विशेष ध्यान दिया जाता है ताकि पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त हो सके। ऐसी स्थिति में महंगाई में वृद्धि की संभावना कम रहती है। इस प्रकार के बजट का मुख्य उद्देश्य बजट में संतुलन लाना होता है। पूर्ण रोजगार और मूल्यों में स्थिरता पर पूर्ण बल दिया जाता है। और इस प्रकार के बजट को अपनाने से सार्वजनिक ऋण तथा ब्याज की अदायगी आदि की समस्या भी समाप्त हो जाती है। इसे हम कार्यात्मक वित्त भी कहते हैं। इस प्रकार के बजट की भी आलोचकों द्वारा कुछ आलोचना की गई है। आलोचकों का यह मत है कि बेरोजगारी के विरुद्ध से गारंटी मिलनी चाहिए क्योंकि बेरोजगारी के विरुद्ध कदम उठाने में अर्थव्यवस्था में महंगाई का बहुत दबाव पड़ता है। इस नीति को जटिल भी बताया गया है और कहा गया कि इससे राजनीतिक अनिश्चितता पैदा होंगी क्योंकि उपयुक्त वित्तीय सुधार के क्रियान्वयन में विलंब पैदा होता है। देश को लंबे समय में ऋण का भारी बोझ उठाना पड़ेगा यह कहकर भी इसकी आलोचना की जाती है।

2. **कर नीति-** करनी थी एक ऐसा शक्तिशाली औजार है जिसके द्वारा आय, उपभोग तथा निवेश में परिवर्तन लाना संभव है। ऐसी कर नीति जो महामंदी के काल में उपयुक्त है, सरकार की व्यय करने योग्य आय में वृद्धि करती है। उपभोग और निवेश को प्रोत्साहित करती है। इस स्पष्ट तहत कर में कमी पर लोगों के लिए निवेश तथा उपभोग की क्षमता बढ़ जाएगी। मांग में वृद्धि होगी। ऐसी अवस्था में यह सुझाव दिया जाता है कि आबकारी कर, बिक्री कर तथा आयात कर को कम किया जाए। ऐसा करने से उपभोग को बल मिलेगा। और कुछ अर्थशास्त्रियों का ऐसा मानना है कि ऐसा करने से अर्थव्यवस्था में विरोधाभास वाली स्थिति भी उत्पन्न नहीं होगी। निस्संदेह से आय में वृद्धि होगी, पर निवेश पर इसका प्रभाव और निश्चित ही रहेगा। प्रोफेसर कालेकी के अनुसार, यदि सामान्य स्थिति में गिरावट आ रही है तो कर में कमी भी उद्यमी को यह प्रोत्साहन नहीं कर पाएगी कि वह निवेश के संबंध में अपना निर्णय बदल दे। अतः कालेकी ने कर में कमी वाली नीति के विरुद्ध विचार व्यक्त किया है। यहां एक महत्वपूर्ण प्रश्न उठता है कि किस सीमा तक बेरोजगारी को कम किया जाए, जिससे कर में कमी उपभोग, निवेश तथा व्यय को प्रोत्साहित किया जा सके। दूसरी और मुद्रास्फीति विरोधी करनी थी ऐसी होनी चाहिए जो स्फीति से उत्पन्न खाई को कम करें।
3. **सरकारी व्यय-** आर्थिक क्रियाकलापों में सरकारी हस्तक्षेप के कारण सरकारी व्यय वित्त विभाग के लिए एक औजार के रूप में सामने आया है। सरकारी व्यय में कमी करने से उतार-चढ़ाव की तुलना में आर्थिक क्रियाकलापों पर सीधा प्रभाव पड़ सकता है। सरकारी व्यय के बढ़ने से आय पर कई तरह के प्रभाव पड़ते हैं। सरकारी व्यय की कमी से अधिक क्रियाशीलता मंद पड़ जाती है। मुद्रास्फीति काल में अधिकाधिक वैसे आर्थिक व्यवस्था पर गहरा प्रभाव पड़ता है। निजी खर्च तथा निवेश दोनों में बहुत वृद्धि हो जाती है। ऐसी अवस्था में सरकार को अपने व्यय को घटाना चाहिए। दूसरे शब्दों में कुछ कार्यक्रमों पर रोक लगा देनी चाहिए तथा अन्य को बिल्कुल छोड़ देना चाहिए परंतु जो व्यय उत्पादकता दे रहे हैं, उन्हें रखना पड़ेगा क्योंकि ऐसा ना करने से बोझ और ज्यादा बढ़ेगा। अनुत्पादक चीजों पर रोक लगा देने से अर्थव्यवस्था पर बोझ कम पड़ेगा परंतु ऐसा निर्णय लेना आर्थिक एवं राजनीतिक दोनों कारणों से कठिन होता है। महामंदी के समय में सरकारी व्यय की महत्वता बढ़ जाती है। अर्थव्यवस्था में गतिशीलता आती है। मांग में कमी होने के कारण निजी खर्च एवं निवेश में भी कमी आती है। सरकारी खर्च में थोड़ी बढ़ोतरी से महामंदी का कुप्रभाव कुछ सीमा तक ठीक किया जा सकता है। महामंदी का सामना करने के लिए एक अन्य ढंग कर कटौती भी होता है। प्रोफेसर एल. जी. रीनॉल्ड के अनुसार,कर में कटौती सरकारी खर्च बढ़ाने से कहीं अच्छा है।
4. **सरकारी कार्य-** प्रोफेसर कीन्स अपने सिद्धांत में कहा है कि महामंदी पर काबू पाने हेतु 'सरकारी कार्य' कार्यक्रम एक अच्छा उपाय है। इसमें दो तरह के व्यय आते हैं- सरकारी खर्च एवं भुगतान का हस्तांतरण। प्रोफ़ेसर जे. एम. क्लार्क के शब्दों में टिकाऊ सामान, स्थाई ढांचा इत्यादि का सरकार उत्पादन करती है। सरकारी कार्य जैसे सड़क निर्माण, रेल निर्माण, विद्यालय, पार्क, हवाई पट्टी, डाक विभाग, अस्पताल, सिंचाई हेतु नहर आदि पर खर्च होता है। सरकारी ऋण पर ब्याज देना, अनुदान देना, पेंशन, रिलीफ भुगतान, बीमा योजना, सामाजिक सुरक्षा लाभ आदि पर खर्च को भुगतान हस्तांतरण (Transfer of Payment) कहते हैं। इस प्रकार के कार्यक्रम में लॉर्ड कीन्स का दृढ़ विश्वास था। उन्होंने तो यहां तक कह दिया कि अनुत्पादक कार्य जैसे गड्ढा खोदना और उसे ढक देना भी अनिवार्य है। जब कभी सरकार को लगे की महामंदी या स्फीति के चिन्ह दिखाई देने लगे तो राजकीय सरकारों के समक्ष कुछ कार्य तैयार होने चाहिए ताकि लोगों को उसमें लगाया जा सके। इस ढंग से अर्थव्यवस्था का विकास होगा। ऐसे कार्यों को महामंदी रोकने वाला(Anti Depression Device) कहा जाता है। इस प्रकार के कार्यों के कई

लाभ होते हैं जैसे- इन कार्यों में बेरोजगार युवकों को रोजगार मिल जाता है, लोगों की क्रय शक्ति बढ़ जाती है जिसके फलस्वरूप वस्तुओं की मांग में वृद्धि होती है, सामाजिक दृष्टि से उपयोगी वस्तुओं का निर्माण बढ़ता है। जैसे- सड़क, नहर, बिजली घर, इमारतें, सिंचाई के साधन, प्रशिक्षण केंद्र आदि। इस प्रकार यह तो स्पष्ट है की सरकारी कार्यों से अर्थव्यवस्था में सुधार होता है, फिर भी इसमें कुछ गतिरोध उत्पन्न करने वाले तत्व भी होते हैं। ऋण या महामंदी के उचित अनुमान पर ही सार्वजनिक कार्य निर्भर करता है, परंतु उचित अनुमान लगाना कठिन है। उचित अनुमान की अनुपस्थिति में यह कहना भी कठिन होता है कि सार्वजनिक कार्य के लिए सही समय क्या है। इसके साथ ही सार्वजनिक कार्य एक दीर्घकालीन कार्यक्रम है। अतः इसको कभी भी शुरू नहीं किया जा सकता है। संसाधनों का अभाव भी एक ऐसा तत्व होता है, जिसके कारण सार्वजनिक कार्य आरंभ करना कठिन होता है। सभी बेरोजगारों को रोजगार के साधन जुटाना भी असंभव है। मूल्य में गिरावट रोजगार पर गहरा प्रभाव डालती है जिससे बेरोजगारी में वृद्धि हो जाती है। ऐसी स्थिति में सार्वजनिक कार्यक्रम की कार्यकुशलता धीमी पड़ जाती है। सार्वजनिक कार्यक्रमों को ऋण लेकर ही चलाना पड़ता है, जिसके फलस्वरूप देश पर बोझ पड़ता है। भारी उद्योगों में मूल्यों के प्रतिकूल होने से भी प्रतिकूल प्रभाव पड़ सकता है। कभी-कभी सार्वजनिक कार्य के तहत शुरू किया गया निर्माण कार्य निजी निवेशकों के साथ स्पर्धा में आ जाता है, जिसके फलस्वरूप निजी क्षेत्र को इस प्रतियोगिता से बाहर जाना पड़ता है।

5. **सार्वजनिक ऋण-** महामंदी या मुद्रास्फीति की रोकथाम के लिए सार्वजनिक ऋण मुख्य भूमिका निभाता है। इससे अर्थव्यवस्था में स्थिरता आती है तथा पूर्ण रोजगार के अवसर प्राप्त होते हैं। ऋण प्राप्त करने के बहुत से तरीके होते हैं जैसे- गैर सार्वजनिक संस्थाओं से ऋण लेना, बैंकों से ऋण लेना, ट्रेजरी से ऋण लेना, नोट की छपाई आदि।

5.6 भारत की राजकोषीय नीति

जैसा कि आपने अब तक जाना कि राजकोषीय नीति का संबंध सरकार की कराधान और व्यय के फैसलों से होता है। राजकोषीय नीति के भागों के बारे में भी आपने जाना कि, राजकोषीय नीति के कई भाग होते हैं, जैसे- कर नीति, व्यय नीति, विनिवेश रणनीतियां और ऋण आदि। राजकोषीय नीति किसी भी देश के समग्र आर्थिक ढांचे का एक महत्वपूर्ण घटक माना जाता है। राजकोषीय नीति, आर्थिक आंकड़ों और प्रभावों तथा मौद्रिक नीति को भी प्रभावित करती है। जब सरकार अपने खर्च की तुलना में अधिक आय प्राप्त करती है तो इसे अधिशेष के रूप में जाना जाता है। जब सरकार अपनी आमदनी से ज्यादा खर्च करती है तो इसे घाटे की स्थिति कहा जाता है। इसी अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिए सरकार घरेलू या विदेशी स्रोतों से ऋण भी लेती है, बॉन्ड जारी करती है तथा नई मुद्रा को स्फीति करती है। स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात भारत में लोक कल्याणकारी राज्य की स्थापना हुई। सन 1951 से देश में आर्थिक नियोजन को अपनाया गया। तीव्र आर्थिक विकास, जन-कल्याण, समाजवादी समाज की रचना, सामाजिक न्याय, समानता आदि आर्थिक नियोजन के उद्देश्य रखे गए। उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजकोषीय नीति का सहारा लिया गया। भारत की राजकोषीय नीति योजनाओं के उद्देश्यों के अनुरूप बनाई गई है। भारत की राजकोषीय नीति के वृहद उद्देश्यों के अंतर्गत संतुलित एवं तीव्र विकास, कल्याणकारी राज्य की स्थापना और समाजवादी धन के समाज की रचना करना क्या भी शामिल है। इन उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए निम्न राजकोषीय नीतियां अपनायी गई-

1. ग्रामीण आधार संरचना पर पूंजीगत व्यय में वृद्धि करना ताकि कृषि और ग्रामीण विकास को बढ़ाया जा सके।
2. पूर्ण रोजगार की स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयास करना।

3. सार्वजनिक क्षेत्र की घाटे में चल रही कार्यों में विनिवेश की प्रक्रिया जारी रखना।
4. राजकोषीय घाटे को निकट भविष्य में यथासंभव सुनने करना।
5. राजकोषीय घाटे को संघ और राज्य के लिए कम करना।
6. महत्वहीन वस्तुओं पर दी जा रही सब्सिडी को कम करना एवं वैसे छुपी हुई सब्सिडी भी घटाना जो समर्थ लोगों को अधिक लाभ पहुंचा रही है।
7. भुगतान संतुलन की स्थिति प्राप्त करने के लिए प्रयास करना।

मोटे तौर पर भारत की राजकोषीय नीति के हमेशा दो प्रमुख उद्देश्य रहे हैं- पहला, अर्थव्यवस्था के विकास के प्रदर्शन में सुधार करना और दूसरा, लोगों के लिए सामाजिक न्याय सुनिश्चित करना।

5.7 भारत की राजकोषीय नीति के दोष

भारत की राजकोषीय नीति में निम्नलिखित दोष हैं-

1. **अव्यवस्थित कर प्रणाली-** भारत की करारोपण नीति किसी वैज्ञानिक आधार पर नहीं बनाई गई है। यह परंपरागत नीति है तथा समयानुसार इसमें परिवर्तन किए गए हैं, जिसके कारण विभिन्न कर ना तो एक दूसरे के पूरक हैं और ना ही उनमें कोई समन्वय ही पाया जाता है। देश की कर नीति में केवल सामयिक आवश्यकताओं का ही ध्यान रखा गया है।
2. **लोचशीलता का अभाव-** भारतीय कर नीति अधिक लोचपूर्ण नहीं है। लोचता के अभाव में इन में संशोधन व वृद्धि करना कठिन है, इसलिए सरकार को इनसे आय भी उतनी अधिक नहीं हो पाती है।
3. **केंद्र व राज्य सरकारों में समन्वय का अभाव-** कर नीति में केंद्रीय व राज्य सरकारों के बीच समन्वय पर ध्यान नहीं दिया जाता है। राजकोषीय नीति में राज्यों के उत्तरदायित्व बढ़ा दिए गए हैं परंतु आय के साधनों में विशेष वृद्धि नहीं की गई है। राज्य को करों से जो आय प्राप्त हो रही है वह अपर्याप्त है।
4. **अत्यधिक सुरक्षा तथा प्रशासनिक व्यय-** भारत में राजकोषीय नीति में व्यय नीति भी दोषपूर्ण है। भारत में सुरक्षा तथा प्रशासन पर बहुत अधिक है। सुरक्षा पर किए जाने वाले व्यय से नहीं बचा जा सकता, क्योंकि देश की स्वतंत्रता को बनाए रखने के लिए यह अत्यधिक आवश्यक है। यद्यपि सरकार समय-समय पर प्रशासनिक व्यय में कटौती की घोषणा कर दी है किंतु इसका वास्तविक प्रभाव कुछ भी नहीं पड़ता है। आंतरिक व्यवस्था, आतंकवाद, सांप्रदायिक हिंसा आदि के कारण की प्रशासनिक व्यय में बढ़ोतरी हुई है।
5. **अप्रत्यक्ष करों की अधिकता-** भारतीय करों में अप्रत्यक्ष करों की अधिकता है। प्रत्यक्ष करों से अपेक्षाकृत कम आय प्राप्त होती है। अप्रत्यक्ष करों से कीमतों में भी वृद्धि होती है।
6. **हीनार्थ प्रबंधन-** भारत में आए की कमी को पूरा करने के लिए घाटे की वित्त व्यवस्था अपनाई गई है। विकासशील अर्थव्यवस्था में घाटे की व्यवस्था को हटाना संभव नहीं है, क्योंकि आज की कमी को जब लेकर भी पूरा नहीं किया जा सकता है तो हीनार्थ प्रबंधन आवश्यक हो जाता है। कर देय क्षमता कम होने के कारण अधिक कर भी नहीं लगाए जा सकते हैं। किंतु भारत में हीनार्थ प्रबंधन बहुत ही अधिक किया गया है जिसके परिणाम स्वरूप देश में मुद्रा प्रसार की स्थिति उत्पन्न हो गई है एवं वस्तुओं की कीमतों में तेजी से वृद्धि हुई है। इसका देश पर बुरा प्रभाव पड़ा है।
7. **कुशलता का अभाव-** भारतीय कर प्रणाली में कुशलता का अभाव है। इस कारण करू की भारी मात्रा में चोरी होती है। करों में चोरी होने के कारण काले धन में वृद्धि हुई है। काले धन से देखकर अर्थव्यवस्था पर बुरा प्रभाव पड़ा है। साथ ही अत्यधिक एवं विविध कर लगाने के बाद भी सरकार को पर्याप्त आए नहीं हो रही है।

8. **राष्ट्रीय आय में कम अंशदान-** करों से प्राप्त आय का कोई राष्ट्रीय आय में योगदान बहुत कम है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद से अब तक राष्ट्रीय आय में बहुत वृद्धि हुई है लेकिन राष्ट्रीय आयकरों से प्राप्त आय का योगदान नहीं पढ़ पाया है।
9. **सार्वजनिक आय का अपव्यय-** भारत में सार्वजनिक आय का बड़ी मात्रा में अपव्यय हो रहा है। इसका मुख्य कारण सरकारी विभागों में व्याप्त अकुशलता, भ्रष्टाचार, रिश्वतखोरी तथा लालफीताशाही है। साथ ही आवश्यकता से अधिक कर्मचारी होने से अनावश्यक प्रशासनिक व्यय भी बढ़े हैं। विकास परियोजनाओं को भी राजनीतिक उद्देश्यों के लिए प्रारंभ किया जाता है, उनकी आर्थिक जीवन क्षमता नहीं देखी जाती है। इससे एक तरफ सरकार को भारी व्यय करने पड़ते हैं, तो दूसरी तरफ जनता को इनका पूरा लाभ नहीं मिल पाता है।
10. **निम्न बचत दर-** भारत की राजकोषीय नीति का एक दोष यह है कि है बचतों को प्रोत्साहित करने में सफल नहीं रही है । परिणाम स्वरूप भारत में बचत दर अन्य देशों की तुलना में नीची है।

5.8 राजकोषीय नीति-समता और सामाजिक न्याय

लोक कल्याणकारी राज्य अपने कुछ सुनिश्चित कर महत्वपूर्ण लक्ष्यों को प्राप्त करने की दिशा में निरंतर प्रयास करता रहता है। इसकी महत्वपूर्ण लक्ष्यों में से एक महत्वपूर्ण लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन लाना भी होता है। सामाजिक परिवर्तन का उद्देश्य सामाजिक न्याय की स्थापना होता है। लोक कल्याणकारी राज्य के मानवाधिकारों की लोकप्रियता के कारण ही सामाजिक न्याय की अवधारणा का लोकतांत्रिक व्यवस्था में विकास हुआ। जैसा कि आप समझ सकते हैं कि, सामाजिक न्याय की अवधारणा में दो शब्द शामिल है- समाज तथा न्याय। सामाजिक स्तर पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असमानता, अन्याय, शोषण तथा असहयोग की समाप्ति करना और मानवीय गरिमा की स्थापना करना ही सामाजिक न्याय कहलाता है। यह अवधारणा 'न्याय' के बहुत सारे पक्षों तथा समाज के कारकों से अंतर संबंधित है। ऐतिहासिक दृष्टि से देखा जाए तो बहुत प्राचीन काल से ही न्याय की अवधारणा 'राज्य के दर्शन तथा कार्यकरण' से प्रत्यक्ष रूप से संबंधित रही है। उस समय राज्य नामक संस्था का निर्माण ही न्याय की स्थापना तथा व्यक्ति के कल्याण के लिए किया जाता था। प्लेटो ने न्याय की परिभाषा देते हुए कहा था- "न्याय प्रत्येक व्यक्ति द्वारा उच्च कर्तव्य का पालन है, जो उसके प्राकृतिक गुणों तथा सामाजिक स्थिति के अनुकूल हो। नागरिक को अपने धर्म की चेतना तथा सार्वजनिक जीवन में उसकी अभिव्यंजना ही राज्य का न्याय है।" न्याय के विविध रूपों में प्राकृतिक न्याय, नैतिक न्याय, राजनीतिक न्याय, सामाजिक न्याय, आर्थिक न्याय तथा कानूनी न्याय सम्मिलित है। सामाजिक न्याय के अंतर्गत यह कहा जाता है कि सभी व्यक्ति जन्म से एक समान है और सभी में मानवीय गरिमा तथा गौरव का भाव विद्यमान है। किसी एक व्यक्ति के व्यक्तित्व को अन्य व्यक्तियों के व्यक्तित्व का साधन मात्र नहीं समझा जा सकता है। धर्म, वंश, प्रजाति, जाति, लिंग, तथा अन्य आधारों पर व्यक्ति और व्यक्ति के बीच भेद करना सामाजिक न्याय के विरुद्ध माना जाता है। अर्नेस्ट बार्कर ने अपनी पुस्तक में प्लेटो के विचारों को वर्णित करते हुए सामाजिक न्याय की परिभाषा कुछ इस प्रकार से दी है- "सामाजिक न्याय की परिभाषा उस समाज के सिद्धांत के रूप में दी जा सकती है, जिसमें उत्पादक, सैनिक एवं शासक विभिन्न प्रकार के लोग रहते हैं, जो पारस्परिक आवश्यकता की भावना से बंधे होते हैं, तथा एक समाज में दूसरों से अलग होकर भी अपने कार्यों पर लगे रहकर एक ऐसी समष्टि का निर्माण करते हैं जो पूर्ण होती है, क्योंकि वह पूरे मानव मस्तिष्क का उत्पादन तथा प्रतिबिंब होती है। इस प्रकार के समाज का सिद्धांत होने के कारण इसके अंतर्गत जनता के उक्त वर्गों द्वारा उनके लिए निर्धारित जन विशिष्ट कार्यों का संपादन निहित है, जिनको करने के लिए अपनी क्षमता एवं समाज को उन्हें प्रदत स्थान के कारण वे प्राकृतिक रूप से उपयुक्त होते हैं।" इसी प्रकार अमेरिकी स्वतंत्रता की घोषणा में कहा गया है- "सभी मनुष्य, स्वतंत्र तथा समान उत्पन्न हुए हैं..... तथा उन्हें पूर्ण

मानवीय गरिमा तथा स्वतंत्रता से जीने का अधिकार है।" जे.एस. मिल सहित और भी बहुत से विचारकों ने व्यक्ति की स्वतंत्रता का पूर्ण समर्थन किया है तथा व्यक्ति के जीवन में राज्य के हस्तक्षेप को अनावश्यक माना है। वस्तुतः सामाजिक न्याय तथा व्यक्तिगत स्वतंत्रता की अवधारणा एक समान प्रतीत होती हैं। किंतु इन दोनों के बीच थोड़ा सा अंतर भी है। आज ऐसा कोई कार्य नहीं है जिसे हम पूर्ण व्यक्तिगत कह सके तथा जिसका प्रभाव समाज की व्यवस्था पर ना पड़ता हो। इसीलिए सामाजिक व्यवस्था के निर्माण हेतु व्यक्ति की स्वतंत्रता पर किंचित प्रतिबंध भी लगाया जा सकता है। इसी प्रकार बार्कर मानते हैं कि न्याय का अंतिम लक्ष्य स्वतंत्रता, समानता तथा भाईचारे को बढ़ाना है। न्याय में व्यक्ति को साध्य तथा राज्य को साधन माना जाता है। स्वतंत्रता तथा न्याय के सिद्धांत प्रत्यक्षत: मेल नहीं खाते हैं। न्याय के लिए व्यक्तिगत स्वतंत्रता पर नियंत्रण आवश्यक हो जाता है। व्यक्ति द्वारा संपत्ति का संग्रहण भी सामाजिक न्याय तथा समाजवाद के विरुद्ध है। इससे पूंजीवाद को बढ़ावा मिलता है तथा समानता एवं अराजकता को बल मिलता है। जहां तक धार्मिक स्वतंत्रता का प्रश्न है यह भी सांप्रदायिकता तथा अशांति को जन्म दे सकती है। अतः व्यक्ति की स्वतंत्रता तथा सामाजिक न्याय को एक समान नहीं माना जा सकता है।

सामाजिक न्याय की अवधारणा के बारे में कहा जा सकता है कि, यह व्यक्ति की स्वतंत्रता में विश्वास तो करती है। किंतु सामाजिक संदर्भों को भी ध्यान में रखती है तथा मानवीय गरिमा, गौरव तथा अधिकारों की रक्षा करना इसका मुख्य उद्देश्य होता है। लोकतंत्र तथा लोक कल्याणकारी राज्य में सामाजिक न्याय की अवधारणा तेजी से पनपी है। इस प्रकार समाज सुधार तथा सामाजिक परिवर्तन सामाजिक न्याय की अवधारणा के सहगामी पक्ष हैं। भारत में संघीय अर्थों में आरक्षण को सामाजिक न्याय का पर्याय मान लिया जाता है जबकि व्यापक अर्थों में सामाजिक न्याय का संबंध मौलिक अधिकार, नीति निर्देशक तत्व, सामाजिक नीति, सामाजिक विधान, सामाजिक नियोजन आदि से है। सामाजिक न्याय का उद्देश्य लिंग,वर्ण, जाति, शक्ति ,स्थिति और धन के आधार पर असमानता को दूर करना है। भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय की अवधारणा निहित है। भारतीय संविधान के निर्माता के पास एक नया सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक व्यवस्था का सपना था, जिसकी आत्मा सामाजिक न्याय थी। अंबेडकर भारतीय संविधान के मूल शिल्पकार थे। वे भारतीय समाज के पैटर्न और समस्याओं और विवादित भूतों के बारे में पूरी तरह से अवगत थे। भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय परिभाषित नहीं है। यह एक संबंधित अवधारणा है जो समय और परिस्थितियों, लोगों और उनके पिछड़ेपन, से निर्मित है। सामाजिक न्याय हालांकि संविधान में परिभाषित नहीं है, परंतु प्रस्तावना, राज्य के नीति निर्देशक सिद्धांत और मूल अधिकार स्पष्ट रूप से सामाजिक न्याय के दर्शन को दर्शाते हैं। भारतीय संविधान में मूलभूत अधिकार किसी अन्य संविधान में विधेयक अधिकारों से अधिक व्यापक है, क्योंकि भारत एक विषम समाज है, इसमें धर्म और संस्कृति और सामाजिक स्थितियों की विविधता है। उनका उद्देश्य ना केवल नागरिकता की सुरक्षा और गुणवत्ता प्रदान करना है, बल्कि नागरिकता, न्याय और निष्पक्षता के विशिष्ट मानकों को भी प्रदान करना है।

- भारतीय संविधान में निहित मौलिक अधिकार निम्न है-
- कानून के समक्ष समानता की गारंटी देना और कानून का समान संरक्षण (अनुच्छेद- 14)
- धर्म, वंश जाति, लिंग या जन्म स्थान के आधार पर भेदभाव पर प्रतिबंध (अनुच्छेद- 15)
- सार्वजनिक रोजगार के मामलों में समान अवसर (अनुच्छेद- 16)
- अस्पृश्यता का उन्मूलन (अनुच्छेद- 17)
- इंसानों को खरीदना और बेचना और श्रमिकों को जबरदस्ती काम पर लगाने पर प्रतिबंध (अनुच्छेद- 23)

हमारे समाज में सामाजिक असमानता, सामाजिक कलंक और सामाजिक असमर्थता को समाप्त करने के अंबेडकर के प्रयास, इन प्रावधानों में प्रकट हुए। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अंबेडकर और हमारे संविधान के अन्य संस्थापकों ने इस बात पर बल दिया कि संविधान का उद्देश्य एक समतावादी समाज स्थापित करना था जहां अधिकारों की गारंटी केवल कुछ लोगों को ही नहीं बल्कि सभी को दी गई थी। वे दृढ़ विश्वास करते थे कि समान अवसर का अधिकार का कोई अर्थ नहीं है, जब तक कि समाज में व्यापक और समानता है कम नहीं हो जाती। राजनीतिक स्वतंत्रता और व्यक्तिगत स्वतंत्रता की है जब भूख के डर से लोगों की विशाल संख्या को कुछ लोगों की इच्छा पर मजबूर होना पड़ता है। निजी संपत्ति का अधिकार उन लोगों के लिए निरर्थक है, जिनके सिर पर कोई छत नहीं है। अवकाश का अधिकार या किसी पेसे को चुनने की स्वतंत्रता का बेरोजगार व्यक्ति के लिए कोई अर्थ नहीं है। यह सारे संवैधानिक प्रयास राजनीतिक और नागरिक अधिकारों के बीच तथा दूसरी और सामाजिक और आर्थिक अधिकारों के बीच का व्यक्तिगत अधिकार और सामाजिक न्याय की मांगों के बीच संतुलन बनाने की कोशिश करता है।

राजकोषीय नीति के संदर्भ में यदि सामाजिक न्याय की बात की जाए तो दीर्घकालिक राजकोषीय नीति के अनुसार राजकोषीय नीति का मुख्य योगदान एक प्रभावी कार्यक्रम द्वारा साधनों को एकत्रित करके उनका उपयोग गरीबी उन्मूलन कार्यक्रमों तथा उन सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं को सुधार करना है, जिन पर गरीबों की ज्यादा निर्भरता होती है। गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम तथा सामाजिक सेवाओं को वित्त प्रदान करने की जिम्मेदारी सरकार की ही होती है। अतः राजकोषीय नीति का निर्माण कुछ इस प्रकार से किया जाना चाहिए कि सरकार के पास उन सामाजिक खर्चों के लिए पर्याप्त धन उपलब्ध हों जिनसे गरीबों को अधिक से अधिक लाभ प्राप्त होता है। समाज में असमानता की दृष्टि से देखा जाए तो विकसित देशों की तुलना में अविकसित देशों में संपत्ति तथा आय का वितरण अधिक असमानता लिए हुए होता है। भारत भी इस प्रकृति का अपवाद नहीं है। यही कारण रहा कि भारत में योजना के प्रारंभ से ही बजट नीति का एक उद्देश्य यह भी रहा है कि इस असमानता को कम किया जाए और इसके लिए आर्थिक शक्ति के केंद्रीकरण में कमी; आय की असमानता में कमी; आय तथा उपभोक्ता व्यय की असमानता में कमी तथा निरपेक्ष निर्धनता (Absolute Poverty) में कमी या उसके उन्मूलन के लिए प्रयत्न किए गए। आय की असमानता को कम करने के लिए राजकोषीय नीति के संदर्भ में प्रत्यक्ष करों के अधिक उपयोग की बात कही गई है। भारतीय कर सुधार पर अपनी रिपोर्ट में काल्डर ने इस पहलू पर विशेष बल दिया था। उनका कहना था कि भारत की वर्तमान (1950 के दशक की) प्रत्यक्ष कर व्यवस्था और अकुशल एवं असमान दोनों ही है।इसलिए भारत सरकार ने काल्डर सिफारिशों के अनुसार एक समन्वित कर व्यवस्था विकसित करने के प्रयास के अंतर्गत आयकर, पूंजी लाभ कर, उत्तराधिकार कर, संपत्ति कर, उपहार कर तथा व्यय कर को वित्तीय योजना काल में लगाया था। इसके बावजूद आय की असमानता में कोई कमी नहीं हुई। इसके कई कारण रहे हैं जैसे बहुत कम व्यक्तियों द्वारा आयकर का भुगतान, बड़े पैमाने पर कर चोरी, प्रत्यक्ष करों कि प्रभावी दरों का निम्न होना आदि। इन सभी कारणों से कुल कर-राजस्व में प्रत्यक्ष करों का हिस्सा घटता चला गया। आय की असमानताओं को कम करने के लिए प्रगतिशील कर-व्यवस्था अत्यधिक आवश्यक है। परंतु यह भी सत्य है कि केवल प्रगतिशील कर व्यवस्था ही असमानता के समाधान के लिए पर्याप्त नहीं है। यदि सभी कर उनको हटा भी लिया जाए तो भी निर्धनों की दशा में विशेष सुधार की गुंजाइश नहीं है। इसका कारण यह है कि भारत में निर्धनों पर शायद ही कोई प्रत्यक्ष कर लगा हुआ है। इसलिए आय और उपभोग की असमानता की समस्या के समाधान के लिए लोक व्यय पर अधिक निर्भर करना पड़ेगा। इसके लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, निर्धनता निवारण, आदि पर विशेष ध्यान देना होगा। इस दिशा में पांचवी योजना काल से विशेष स्थान दिया गया। जिसके परिणाम स्वरूप सामाजिक न्याय की दिशा में भारतीय नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया। इसके बाद की योजनाओं में भी निर्धनों की संख्या में कोई विशेष कमी नहीं हुई है। निर्धनता रेखा के नीचे जनसंख्या का प्रतिशत अभी काफी होता है तथा समग्र घरेलू उत्पत्ति की

वार्षिक दर में तेजी के बावजूद निर्धनता की दर में गिरावट उसी के अनुकूल नहीं हुई है। चूँकि जनसंख्या में बहुत तेजी से वृद्धि हुई है,निर्धनों के निरपेक्ष में थोड़ी ही कमी संभव हो सकी। मानव विकास के संकेतक हो। जैसे- शिक्षा एवं साक्षरता, मातृ एवं शिशु मृत्यु दर में लगातार सुधार हुए हैं, किंतु, आंकड़े यह बताते हैं कि प्रगति बहुत धीमी है और अनेक एशियाई देशों की तुलना में भारत अभी भी बहुत पिछड़ा हुआ है।

5.9 निष्कर्ष

राजकोषीय नीति द्वारा क्षमता तथा सामाजिक न्याय न्याय के उद्देश्यों को पूरा किया जा रहा है। अर्थव्यवस्था में आर्थिक स्थायित्व की स्थापना होने के बाद संरचनात्मक सुधारों के परिणाम आने लग जाएंगे। जिसके बाद गरीबी उन्मूलन के कार्यक्रमों और रोजगार के नए अवसर प्रदान करने के लिए परिस्थितियों काफी अनुकूल हो जाएंगी। भारत में सामाजिक न्याय की दिशा में भारतीय नीति में एक महत्वपूर्ण परिवर्तन आया है। योजनाओं में भी निर्धनों की संख्या में कोई विशेष कमी तो नहीं हुई है। निर्धनता रेखा के नीचे जनसंख्या का प्रतिशत अभी भी काफी होता है तथा समग्र घरेलू उत्पत्ति की वार्षिक दर में तेजी के बावजूद निर्धनता की दर में गिरावट उसके अनुकूल नहीं हुई है।

अभ्यास प्रश्न-

1. राजकोषीय नीति से आप क्या समझते हैं?
2. राजकोषीय नीति तथा मौद्रिक नीति में दो अंतर बताइए।
3. राजकोषीय नीति के महत्व को समझाइए।
4. भारत की राजकोषीय नीति के दो दोष बताइए।
5. सामाजिक न्याय का अर्थ बताइए।

5.10 सारांश

राजकोषीय नीति का आशय अर्थव्यवस्था में सरकार की आय-व्यय, ऋण आदि से होता है। राजकोषीय नीति में सरकार के उन कार्यों का उल्लेख किया जाता है, जो सरकार की प्राप्ति हो तथा खर्चों को प्रभावित करते हैं। राजकोषीय नीति सार्वजनिक व्यय तथा करों में परिवर्तन से संबंधित होती है। इस नीति का अंतिम लक्ष्य पूर्ण रोजगार और कीमत स्तर में स्थिरता लाना होता है। मौद्रिक नीति तथा राजकोषीय नीति में भी अंतर होता है। मौद्रिक नीति के द्वारा देश का केंद्रीय बैंक मुद्रा की पूर्ति तथा ब्याज की दरों, विभिन्न आर्थिक क्षेत्रों के लिए ऋण की राशि का आवंटन और ऋण की शर्तों आदि को प्रभावित करता है। जबकि राजकोषीय नीति में सार्वजनिक राजस्व, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण आदि का समावेश किया जाता है। अल्प विकसित एवं विकासशील देशों में पूंजी निर्माण की समस्या का समाधान राजकोषीय नीति की प्रभावशीलता पर निर्भर करता है। पूंजी निर्माण, पूर्ण रोजगार, राष्ट्रीय आय में वृद्धि, मूल्य स्थिरता, आर्थिक विकास दर को गति प्रदान करना आदि राजकोषीय नीति के प्रमुख उद्देश्य माने जाते हैं। राजकोषीय नीति के कुछ प्रमुख उपकरण भी होते हैं जिसमें बजट, कर नीति, सरकारी व्यय, राजकीय कार्य, सार्वजनिक ऋण आदि शामिल होते हैं। भारत में सन् 1951 से देश में आर्थिक नियोजन को अपनाया गया। तीव्र विकास, जनकल्याण, समाजवादी समाज की रचना, सामाजिक न्याय, समानता आदि आर्थिक नियोजन के उद्देश्य रखे गए। इन सब उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए राजकोषीय नीति का सहारा लिया गया। भारत की राजकोषीय नीति में कई दोस्त भी विद्यमान है जिसमें अव्यवस्थित कर प्रणाली, लोच शीलता का अभाव, अप्रत्यक्ष करों की अधिकता, कुशलता का अभाव, निम्न बचत दर, सरकारी आय का अपव्यय आदि शामिल है। सामाजिक न्याय की अवधारणा के बारे में यह कहा जा सकता है कि, यह व्यक्ति की

स्वतंत्रता में विश्वास तो करती है किंतु सामाजिक संदर्भों को भी ध्यान में रखती है तथा मानवीय गरिमा, गौरव तथा अधिक मुख्य उद्देश्य होता है। भारत में संघीय अर्थों में आरक्षण को सामाजिक न्याय का पर्याय मान लिया जाता है जबकि व्यापक अर्थों में सामाजिक न्याय का संबंध मौलिक अधिकार, नीति निर्देशक तत्व, सामाजिक नीति, सामाजिक विधान, सामाजिक नियोजन आदि से है। भारतीय संविधान में सामाजिक न्याय परिभाषित नहीं है। राजकोषीय नीति के संदर्भ में सामाजिक न्याय दीर्घकालिक राजकोषीय नीति के अनुसार राजकोषीय नीति का मुख्य योगदान एक प्रभावी कार्यक्रम द्वारा साधनों को एकत्रित करके उनका उपयोग गरीबी उन्मूलन कार्यक्रम तथा उन सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं को सुधार करना है, जिन पर गरीबों की निर्भरता अधिक रहती है।

5.11 शब्दावली

बजट घाटा- जब सरकार का कुल खर्च हुई आमदनी से ज्यादा होता है तो उसे बजट घाटा कहते हैं।

सामाजिक विधान- सामाजिक विधान का संबंध व्यक्ति एवं समूह के कल्याण की वृद्धि तथा सामाजिक क्रियाकलापों के प्रभावपूर्ण एवं निर्बाध रूप से संचालन से होता है।

हीनार्थ प्रबंधन- जब सरकार का बजट जाति का होता है, अर्थात कम होती है ज्यादा होता है तो इसके आदित्य को केंद्रीय बैंक से ऋण लेकर अतिरिक्त पत्र मुद्रा निर्गमित कर पूरा किया जाता है,तू यह व्यवस्था घाटे की वित्त व्यवस्था अथवा हीनार्थ प्रबंधन कहलाती है।

मुद्रा प्रसार/मुद्रास्फीति- यदि मुद्रा की मात्रा में वृद्धि के कारण मूल्य स्तर में वृद्धि होती है, तो स्थित को मुद्रा प्रसार/ मुद्रास्फीति कहा जा सकता है।

अधिशे- अतिरिक्त, शेष, बकाया।

5.12 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. राजकोषीय नीति सरकार के संपूर्ण व्यय, आयकर, उत्पादन तथा रोजगार से संबंधित होती है। **2.** (A) मौद्रिक नीति के संबंध में केंद्रीय बैंक पूर्ण स्वतंत्र होता है, जबकि राजकोषीय नीति में सरकार कम स्वतंत्र होती है और प्रत्येक मद की राशि के लिए संसद की स्वीकृति आवश्यक होती है। (B) मौद्रिक नीति का प्रत्येक क्षेत्र पर परोक्ष प्रभाव पड़ता है जबकि राजकोषीय नीति का जनता पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है। **3.** राजकोषीय नीति देश के वास्तविक एवं मौद्रिक साधनों में समन्वय स्थापित करती है तथा नियोजित अर्थव्यवस्था वाले देशों पर प्रभाव डालती है। **4.** अव्यवस्थित कर प्रणाली, लोचशीलता का अभाव। **5.** सामाजिक स्तर पर व्यक्ति-व्यक्ति के बीच असमानता, अन्याय, शोषण तथा असहयोग की समाप्ति करना और मानवीय गरिमा की स्थापना करना ही सामाजिक न्याय कहलाता है।

5.13 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. सिंह, एम. के.2009. लोक वित्त के सिद्धांत तथा भारतीय लोक वित्त; साहित्य भवन पब्लिकेशन: आगरा।
2. लेखी, आर. के.2009, लोक वित्त; कल्याणी पब्लिशर्स: नई दिल्ली।
3. वशिष्ठ, पारीक, 2015-16, लोक वित्त; आर. बी.डी. पब्लिशिंग हाउस: जयपुर।

5.14 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. कटारिया, सुरेंद्र. 2006. भारतीय लोक प्रशासन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस: नई दिल्ली।
2. हजेला, टी. एन. 1995. राजस्व के सिद्धांत; कोणार्क पब्लिशर्स: नई दिल्ली।

5.15 निबन्धात्मक प्रश्न

1. राजकोषीय नीति के उद्देश्यों की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. भारत की राजकोषीय नीति के दोषों का वर्णन कीजिए।
3. राजकोषीय नीति- समता और सामाजिक न्याय पर एक निबंध लिखिए।

इकाई- 6 भारतीय बजट प्रक्रिया सिद्धान्त और कार्य

इकाई की संरचना

6.0 प्रस्तावना
6.1 उद्देश्य
6.2 बजट की अवधारणा
    6.2.1 बजट का अर्थ
    6.2.2 बजट की परिभाषाएं
    6.2.3 बजट की विशेषताएं
6.3 बजट के सिद्धांत
    6.3.1 बजट के कार्यपालिका से संबंधित सिद्धांत
    6.3.2 व्यवस्थापिका से संबंधित सिद्धांत
    6.3.3 अन्य सिद्धांत
6.4 विकासशील देशों में बचत की भूमिका
6.5 बजट के कार्य
6.6 निष्कर्ष
6.7 सारांश
6.8 शब्दावली
6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

6.0 प्रस्तावना

'वित्त' प्रशासन का जीवन रक्त है, दोनों को एक दूसरे से पृथक नहीं किया जा सकता है। वित्त के अभाव में सरकार बिल्कुल उसी प्रकार से काम नहीं कर सकती है जिस प्रकार से बिना पेट्रोल के कार नहीं चल सकती है। या दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि प्रशासकीय इंजन का ईंधन वित्त होता है। पहले का परिचालन दूसरे के बिना असंभव है। लॉयड जॉर्ज ने एक बार कहा था कि, जिसको शासन कहते हैं, वह वास्तव में वित्त है। सरकारी ही नहीं सभी उद्यम विथ पर ही निर्भर होते हैं। कौटिल्य ने इस संदर्भ में ठीक ही कहा है, ''सभी उद्यम वित्त पर निर्भर हैं। अतः कोषागार पर सर्वाधिक ध्यान दिया जाना चाहिए।'' प्रत्येक योजना के लिए पर्याप्त धन की आवश्यकता होती है। अच्छी से अच्छी नीति और योजना भी विफल हो जाती है यदि उससे संबंधित कर्मचारी कर्मचारियों के लिए अच्छे वेतन तथा आवश्यक पदार्थों के लिए पर्याप्त धनराशि का प्रबंध ना हो। दृढ़ वित्तीय व्यवस्था ही शासन के लिए बहुत महत्वपूर्ण होती है। राजस्व आम नागरिक से भी प्राप्त किया जा सकता है। अतः सरकार का यह कर्तव्य होता है कि वह उस धन को कुशलता तथा मितव्ययिता से व्यय करें। प्रजातंत्र में ठोस वित्तीय व्यवस्था के पक्ष में निश्चित भावना होनी चाहिए। इसके अभाव में अपव्यय तथा अन्य बुरी बातों का दो जनता प्रजातंत्र पर ही मढ़ देती है और परिणाम यह होता है कि जनता ऐसे प्रजातंत्र से ही घृणा करने लगती है। इसके अतिरिक्त एक और बात जिसके कारण वित्तीय प्रशासन का आज महत्व बहुत बढ़ गया है वह है, आधुनिक समय में शासकीय कार्यों में असाधारण वृद्धि। इस असाधारण वृद्धि के कारण ही वित्तीय प्रशासन संबंधी उत्तम सिद्धांतों, उपकरणों एवं

पद्धति का विकास किया जाना और सरकार द्वारा उसका पालन किया जाना नितांत आवश्यक हो गया है। वित्तीय प्रशासन बड़े निकट से जनता के सामाजिक-आर्थिक आचरण को प्रभावित करता है। टास्क फोर्स, हूवर कमीशन के शब्दों में, "वित्त आधुनिक शासन के अंतः स्थल तक पहुंच गया है। बजट सार्वजनिक नीति के नट और बोल्ट हैं। वित्तीय प्रशासन में वे समस्त क्रियाएं शामिल होती हैं जो लोक सेवाओं पर व्यय हेतु आवश्यक धनराशि की प्राप्ति, व्यय तथा लेखांकन से संबंध रखती हैं। यह क्रियाएं एक नियंत्रण श्रंखला के रूप में कार्य करती हैं तथा कार्यपालिका, विधान मंडल, वित्त मंत्रालय जैसे अभिकरणों द्वारा संपादित होती हैं।''

6.1 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- बजट का अर्थ, परिभाषाएं एवं उसकी विशेषताओं को समझ पायेंगे।
- आम बजट के विभिन्न सिद्धांतों को जान पाएंगे।
- विकासशील देशों में बजट की भूमिका तथा बजट के विभिन्न कार्यों को भलीभांति समझ पाएंगे।

6.2 बजट की अवधारणा

बजट संबंधी प्रक्रिया को प्रशासन का केंद्र बिंदु माना जाता है, क्योंकि राज्य कोष का नियंत्रण समन्वय का सर्वाधिक शक्तिशाली साधन है। समस्त सरकारी कार्यों का क्षेत्र एवं स्वरूप विभिन्न बड़े कार्यों के लिए निश्चित धनराशि के आधार पर निर्धारित किया जाता है। निष्पादित प्रबंध तथा विधाएं नियंत्रण का सबसे महत्वपूर्ण उपकरण होने के साथ ही बजट वित्तीय प्रशासन का प्रधान उत्पादन भी है। 'बजट' शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'बाजते' (Bougette) से हुई है, जिसका अर्थ है चमड़े का थैला या झोला, जिसमें से ब्रिटेन का राजकोष महामात्र (Chancellor of the Exchequer), शासन की आगामी वर्ष की वित्तीय योजना के कागजात संसद के समक्ष प्रस्तुत करने हेतु, निकाला करता था। सन 1773 में ब्रिटेन में हाउस ऑफ कॉमंस में जब वित्त मंत्री सर रॉबर्ट वॉल्पोल ने अपनी वित्तीय योजना संसद में प्रस्तुत की तब किसी ने व्यंग के रूप में कह दिया कि, "वित्त मंत्री ने अपने बजट खोला है।" तब से सरकार के आय-व्यय के लिए इस शब्द का प्रयोग किया जाने लगा। इससे पूर्व मध्यकालीन इंग्लैंड में प्रारंभिक बजट के दस्तावेज Doomsday Book या Domesday Book (कयामत पुस्तक) कहलाते थे। सम्राट विलियम (सन 1086) द्वारा प्रचलित इस दस्तावेज में भूमि एवं संपत्ति का विवरण होता था। वर्तमान में 'बजट' शब्द वित्तीय कागजात का निर्देश करता है, ना कि झोला इत्यादि का।

बजट प्रणाली का विकास उत्तर-मध्य युग में हुआ था। इस काल में इंग्लैंड तथा यूरोप में स्वेच्छाचारी शासन पद्धति पाई जाती थी। बजट राजस्व तथा व्यय का विवरण होता था, परंतु वह राजा का व्यक्तिगत विषय तथा राजकीय रहस्य माना जाता था। इसका कारण यह था कि राजस्व राजा की अपनी ही भू-संपदा से प्राप्त होता था। परंतु युद्ध काल में करों का सहारा लेना आवश्यक हो जाता था। परिणाम स्वरुप, ऐसे समय में अमीरों को राजस्व साधनों पर, विशेषता युद्ध पर, अपने विचार तथा प्रतिक्रिया प्रकट करने का अवसर राजा द्वारा प्रदान किया जाता था। "बिना प्रतिनिधित्व के कोई कर नहीं" के सिद्धांत को 1688 की क्रांति के समय की मान्यता प्राप्त हुई थी। किंतु उस समय सभी प्रशासकीय व संसदीय नियंत्रण के अधीन नहीं थे। वित्त पर पूर्ण विधाई नियंत्रण तो इसी शताब्दी में स्थापित हुआ है। इस प्रकार, वित्तीय निर्देशन तथा नियंत्रण के केंद्रीय उपकरण के रूप में बजट की अवधारणा अपेक्षाकृत नवीन है।

बजट प्रणाली कुशल राजस्व (fiscal) प्रबंध का आधार है। समाज-विज्ञान विश्व कोष के अनुसार, "बजट प्रणाली का वास्तविक महत्व इस कारण है कि यह किसी सरकार की वित्तीय मामलों के क्रमबद्ध प्रशासन की व्यवस्था

करता है।" राजस्व संबंधी प्रबंध में अनेक क्रियाओं की एक निरंतर श्रंखला रहती है, जैसे- राजस्व तथा व्यय का अनुमान, राजस्व तथा विनियोजन अधिनियम का लेखा, लेखा परीक्षण तथा प्रतिवेदन। इन क्रियाओं का संचालन किस प्रकार होता है इसका वर्णन, डब्लू. एफ. विलोबी ने कुछ इस प्रकार किया है, "पहले तो एक निश्चित समय- प्रायः एक वर्ष के लिए सरकारी प्रशासन को चलाने के लिए जिन व्ययों की आवश्यकता होती है, उनका अनुमान लगाया जाता है और इन व्ययों की पूर्ति हेतु धन के प्रबंध संबंधी प्रस्ताव होते हैं। इस अनुमान के आधार पर राजस्व तथा विनियोजन अधिनियम पारित किए जाते हैं, जो स्वीकृत कार्यों के लिए वैध अधिकार प्रदान करते हैं। इसके आधार पर विभिन्न कार्यरत विभागों द्वारा राजस्व तथा विनियोजन अधिनियमों के अनुसार राजस्व एवं विनियोजन लेखे खोले जाते हैं और इस प्रकार स्वीकृत द्रव्य का व्यय प्रारंभ होता है। लेखा परीक्षण तथा लेखा विभाग यह देखने के लिए इन लेखकों का परीक्षण करता है कि वे ही हैं या नहीं, वास्तविक तथ्यों से संगति रखते हैं या नहीं और विधि के सभी प्रावधानों के अनुरूप हैं या नहीं। इन सब के उपरांत इन लेखों से प्राप्त सूचनाओं का सारांश निकाला जाता है और प्रतिवेदनों के रूप में उनको प्रकाशित किया जाता है। अंत में इसके आधार पर अगले वर्ष के लिए नए अनुमान तैयार किए जाते हैं और फिर वही चक्र पुन: आरंभ हो जाता है। इस प्रक्रिया में बजट ही वह तंत्र है जिसके द्वारा एक ही समय में कई क्रियाएं पारस्परिक रूप से संबद्ध की जाती है और उनकी तुलना तथा परीक्षा की जाती है। इस प्रकार बजट राजस्व तथा विषयों का अनुमान मात्र ना होकर कुछ और अधिक होता है। यह एक प्रतिवेदन, एक अनुमान तथा प्रस्ताव, एक प्रलेख होना चाहिए जिसके माध्यम से मुख्य कार्यपालिका, जो सरकारी प्रशासन की वास्तविक संचालन के लिए उत्तरदायी सत्ता है, धन एकत्र करने तथा विधियों को स्वीकार करने वाली सत्ता (संसद) के समक्ष इस आशय का संपूर्ण प्रतिवेदन उपस्थित करती है कि किस ढंग से उसने तथा उसके अधीनस्थों ने विगत वर्ष के दौरान प्रशासनिक कार्यों को संपन्न किया है। साथ ही साथ, वह सार्वजनिक कोषागार की वर्तमान दशा का एक विवरण भी प्रस्तुत करती है। सूचना के आधार पर कार्यपालिका आगामी वर्ष के लिए अपने कार्यक्रम बनाना प्रारंभ करती है, और ऐसे कार्यों के लिए वित्तीय प्रबंध संबंधी प्रस्ताव प्रस्तुत करती है।"

अतः बजट कार्य संबंधी योजना है। यह आगामी वित्तीय वर्ष के लिए मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम को प्रतिबिंबित तथा स्पष्ट करता है। यह सरकार के राजस्व तथा व्याकरण मात्र से कहीं अधिक व्यापक वस्तु है। इसके तीन प्रमुख कार्य हैं- नियंत्रण, प्रबंधन और नियोजन।

6.2.1 बजट का अर्थ

उपरोक्त वर्णन में अपने जाना कि बजट शब्द की उत्पत्ति फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'बाजते' से हुई, जिसका अर्थ है- 'चमड़े का थैला।' 'बजट' शब्द का अर्थ देश के अनुसार भी बदलता है। जो वित्तीय योजना स्वीकृति के लिए व्यवस्थापिका में प्रस्तुत की जाती है उसे भी बजट कहा जाता है और जो स्वीकृत योजना व्यवस्थापिका द्वारा पास कर ली जाती है उसे भी हम बजट का नाम देते हैं। भारत में इस शब्द का प्रयोग कभी-कभी व्यय के अनुमानों के समानार्थक के रूप में किया जाता है, जबकि इंग्लैंड में यह शब्द प्रायः वित्तीय योजना के स्वरूप या कर-भाग से संबंध रखता है। संयुक्त राज्य अमेरिका में यह शब्द संपूर्ण वित्तीय प्रक्रिया के लिए प्रयुक्त किया जाता है, जिसमें बजट की तैयारी, व्यवस्थापिका द्वारा उसकी रचना, उसकी क्रियान्वित, लेखांकन, लेखा परीक्षा आदि को सम्मिलित किया जाता है। जोसेफ पोईस ने लिखा है कि, "बजट एक प्रक्रिया है जिसके द्वारा इस सरकारी अभिकरण की वित्तीय नीति निर्धारित और संचालित की जाती है।"

6.2.2 बजट की परिभाषाएं

आइए, अब विभिन्न विचारकों द्वारा दी गई बजट की विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर बजट के अर्थ को और स्पष्ट रूप से समझते हैं-

विलोबी के अनुसार, "बजट सरकार के आय-व्यय का अनुमान मात्र नहीं है बल्कि यह एक प्रतिवेदन, एक अनुमान तथा एक प्रस्ताव, तीनों है या इसे होना चाहिए। यह एक ऐसा लिखा पत्र है, जिसके माध्यम से कार्यपालिका, व्यवस्थापिका के सम्मुख आती है और विस्तार के साथ अति, वर्तमान और भविष्य की वित्तीय स्थितियों का प्रतिवेदन प्रस्तुत करती है।"

रेने स्टार्म के शब्दों में, "बजट, एक ऐसा परिपत्र है जिसमें सार्वजनिक राजस्व और व्यय की प्रारंभिक योजना प्रस्तुत की जाती हैं।"

बेस्टाबल (Bastable)के अनुसार, "बजट का तात्पर्य इसी अवधि की वित्तीय प्रबंध से होता है; इसका छिपा हुआ अर्थ यह है कि से विधानसभा के समक्ष स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है।"

ग्लैडस्टोन (Gladstone) का कहना है कि, "बजट सिर्फ गणित नहीं, बल्कि हजारों तरीकों से यह व्यक्तियों की उन्नति तथा वर्गों के संबंध एवं राज्यों की शक्ति की जड़ में जाता है।"

हैरॉरॉल्ड आर. ब्रूस के शब्दों में "बजट किसी संगठन की अनुमानित आय तथा प्रस्तावित व्यय का वित्तीय वक्तव्य है जो आगामी वर्ष के लिये पहले से तैयार किया जाता है।"

विलने के अनुसार, "बजट, अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण, आय एवं व्यय का तुलनात्मक क्षेत्र और इन सब के ऊपर यह राजस्व एकत्र करने तथा सार्वजनिक धन खर्च करने के लिए सक्षम प्राधिकारी को दिया हुआ प्राधिकार तथा निर्देश है।"

रेने गेज का कहना है कि, "आधुनिक राज्य में बजट सार्वजनिक प्राप्ति एवं खर्चों का पूर्वानुमान तथा एक अनुमान है और कुछ खर्चों को करने तथा प्राप्त क्यों को एकत्र करने का अधिकृतीकरण है।"

डिमॉक के शब्दों में "बजट एक वित्तीय योजना है जो अतीत में वित्तीय अनुभव का स्तर प्रस्तुत करता है, वर्तमान की योजना बनाता और भविष्य के एक निश्चित काल के लिए इसे आगे बढ़ाता है।"

मुनरो का कथन है कि, "बजट आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए अर्थ प्रबंधन की योजना है। उसमें एक और सभी आयोग का और दूसरी ओर सभी खर्चों का मद के अनुसार अनुमान दिया होता है।"

अतः बजट किसी वित्तीय वर्ष के संदर्भ में सरकार की अनुमानित प्राप्तियों (राजस्व या आय) और व्यय का विवरण है अर्थात बजट विधायिका को प्रस्तुत और विधायिका द्वारा स्वीकृत सरकार का वित्तीय दस्तावेज है।

6.2.3 बजट की विशेषताएं

उपरोक्त परिभाषा के अतिरिक्त भी बजट के संबंध में कुछ और ऐसे तथ्य या पहलू हैं जो महत्व रखते हैं। बजट की इन्हीं विभिन्न विशेषताओं का वर्णन कुछ इस प्रकार है-

1. बजट भावी योजना या कार्यक्रम है। अतीत के अनुभव तथा उपलब्ध आंकड़ों के आधार पर इस योजना का निर्माण किया जाता है। सरकार के आर्थिक एवं सामाजिक नीति एवं विचारधारा मार्गदर्शन करती है। बजट योजना को मौद्रिक रूप में प्रस्तुत किया जाता है।
2. बजट केवल प्रारंभिक प्रस्ताव नहीं है, बल्कि क्रिया करने की योजना है, क्योंकि बजट प्रस्तावों को विधानसभा पारित करती। अतः वे क्रियान्वयन के योग्य हो जाते हैं।
3. बजट मद, केवल अनुमान होते हैं।

4. सरकार की क्रियाओं के संबंध में बजट एक विस्तृत योजना है। इसके अंतर्गत सरकार के सभी विभागों तथा एजेंसियों की क्रियाएं शामिल होते हैं।
5. सामान्यतः बजट वार्षिक योजना होती है। कभी-कभी इसे एक साल से अधिक लंबी अवधि के लिए भी तैयार किया जाता है।
6. बजट का निर्माण कार्यकारिणी द्वारा होता है तथा इसे विधानसभा के समक्ष मतदान के लिए पेश किया जाता है। बजट में अक्सर चालू व्यय, पूंजी व्यय तथा सार्वजनिक आर्थिक उद्यमों के मध्य अंतर किया जाता है। चालू व्यय की वित्त व्यवस्था सामान्यतः कर राजस्व द्वारा होती है, जबकि लोक ऋण के द्वारा पूंजी व्यय के लिए वित्त जुटाया जाता है तथा दोनों प्रकार के व्यय को प्रथक-प्रथक दिखाया जाता है- क्रमशः राजस्व बजट तथा पूंजी बजट में।
7. जब लोक उद्यम आर्थिक उद्योगों की तरह होते हैं तथा उन्हें नियमित सरकारी विभागों के अंतर्गत रखा जाता है, उनकी आय और व्यय को सामान्य बजट के अंग के रूप में दिखाया जाता है। कभी-कभी इन उद्यमों की व्यवस्था अलग-अलग लोग निगमों के रूप में की जाती है। इस स्थिति में इन के बजट को सामान्य बजट से पृथक दिखाने की प्रथा यूरोप के देशों में तथा भारत में विद्यमान है।
8. कभी-कभी बजट पर मतदान होने तथा क्रियान्वयन के बाद संशोधन की आवश्यकता हो जाती है। ऐसा कई कारणों से हो सकता है, जैसे- लोक व्यय में अचानक वृद्धि या राजस्व में अप्रत्याशित कमी या अप्रत्याशित संकट।
9. जिस राशि का व्यय नहीं हो पाता है उसे एक ही विभाग में अभी से दूसरी अवधि में या एक विभाग से दूसरे विभाग में स्थानांतरित किया जा सकता है। एक ही विभाग में हस्तांतरण केवल विभागीय अध्यक्ष की मर्जी से नहीं होता है, बल्कि प्रमुख कार्यपालिका के निरीक्षण में होता है। अंतर विभागीय हस्तांतरण के लिए विधायिका की स्वीकृति आवश्यक।
10. नई क्रियाओं के उपस्थित होने या मौजूदा सेवाओं में विस्तार होने पर पूरक बजट जरूरी हो जाता है।
11. बजट में बताया जाता है कि सरकारी उपयोग के लिए दुर्लभ साधनों को किस प्रकार प्राप्त किया जाता है। यहां यह बात याद रखने योग्य है कि बजट संपूर्ण अर्थव्यवस्था की बैलेंस शीट (Balance Sheet) नहीं है, क्योंकि इसमें संपूर्ण देश की वित्तीय स्थिति का पूर्ण चित्र प्रस्तुत नहीं किया जाता है। बजट में केवल किसी वर्ष में सरकार की आय एवं व्यय का ब्यौरा रहता है।

इस प्रकार उपरोक्त समस्त परिभाषाओं और विशेषताओं का अध्ययन करने के बाद यह कहा जा सकता है कि, 'बजट' उन लेखों को कहते हैं जो सरकार द्वारा संसद के सम्मुख प्रतिवर्ष एक निर्धारित तिथि पर अथवा उसके पश्चात प्रस्तुत किए जाते हैं तथा जिसमें यह दिया होता है कि आने वाले वित्तीय वर्ष में सरकार का अनुमानित वह क्या होगा तथा उसी काल के मध्य आए क्या होगी। यह आय-व्यय वर्तमान लागू नियमों के अधीन होते हैं और यदि सरकार द्वारा कराधान प्रस्तावों पर विचार किया गया है तो इनके परिणाम स्वरूप बजट का प्राथमिक उद्देश्य व्यापक सूचना को प्रकट करना भी हो सकता है, ताकि सरकार की संपूर्ण वित्तीय स्थिति का परिचय मिल सके तथा जिससे संसदीय कार्यक्रमों के प्रभाव को देश की अर्थव्यवस्था पर पूर्ण तथा समुचित रूप से आंक सके।

6.3 बजट के सिद्धांत

विभिन्न देशों के लंबे अनुभव से बजट के संबंध में कुछ ऐसे सिद्धांत प्रतिपादित किए गए हैं, ताकि बजट को अधिक सार्थक और उपयोगी बनाया जा सके। यद्यपि इनमें से कोई ऐसा सिद्धांत नहीं है, जिसे अनुलंघनीय माना जा सके तथापि एक स्वस्थ बजट के लिए इनका होना उपयोगी माना जाता है। बजट के सिद्धांतों को व्यापक रूप

से निम्नलिखित श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है- कार्यपालिका से संबंधित सिद्धान्त, व्यवस्थापिका से संबंधित सिद्धान्त तथा अन्य सिद्धांत।

आइए बजट के इन्ही सब सिद्धांतों को विस्तार से समझते हैं।

6.3.1 बजट के कार्यपालिका से संबंधित सिद्धांत

बजट कार्यपालिका के विभिन्न विभागों के बीच समन्वय का एक मुख्य स्रोत माना जाता है। इसके द्वारा अपव्यय और पुनरावृत्ति को कम किया जा सकता है। बजट बनाते समय सरकार की नीतियों एवं कार्यक्रमों का मूल्यांकन हो जाता है और साथ ही साथ अनावश्यक क्रियाओं को समाप्त करने का आधार भी मिल जाता है। बजट से प्रशासन में अनुशासन भी आता है। इसके विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति के लिए संगठन के सभी भाग मिलकर एक साथ कार्य करते हैं।कार्यपालिका की दृष्टि से बजट को प्रभावशाली और उपयोगी बनाने के लिए जो सिद्धांत अपनाए जाते हैं वो कुछ इस प्रकार से हैं-

1. मुख्य कार्यपालिका का पर्यवेक्षण- बजट एक प्रकार से मुख्य कार्यपालिका के कार्यक्रम की रूपरेखा होता है। ऐसी स्थिति में यह अत्यंत आवश्यक हो जाता है कि बजट पर मुख्य कार्यपालिका का सीधा पर्यवेक्षण हो।
2. कार्यपालिका का दायित्व है- मुख्य कार्यपालिका द्वारा तैयार किया गया बजट ऐसा होना चाहिए जो व्यवस्थापिका के उद्देश्यों को पूरा करता हो और साथ ही इसमें मितव्ययता का भी अनुपालन किया गया हो।
3. आवश्यक सूचना- बजट बनाते समय जो अनुमान बनाए जायें, जिन्हें व्यवस्थापिका में प्रस्तुत करके क्रियान्वित किया जाना है तो ऐसी स्थिति में यह आवश्यक है कि प्रत्येक स्तर पर संबंधित अधिकारियों के प्रतिवेदनों को आधार बनाया जाये। इन प्रतिवेदनों के माध्यम से ही बजट को उपयोगी और सार्थक बनाया जा सकता है। इनके अभाव में यह आज स्पष्ट और निराधार होगा। इससे इसकी उपयोगिता भी नष्ट हो जाएगी।
4. आवश्यक प्रसाधन- बजट की तैयारी और क्रियान्विति का उत्तरदायित्व मुख्य रूप से कार्यपालिका पर ही होता है। अब इस उत्तरदायित्व या कर्तव्य को पूरा करने के लिए यह आवश्यक होता है की मुख्य कार्यपालिका को पर्याप्त प्रशासनिक उपकरण अथवा साधन प्रदान किए जाएं।
5. स्व-विवेक के अवसर- बजट के अनुमान मोटे तौर पर ही निर्धारित किए जाने चाहिए, ताकि समय के परिवर्तन के साथ-साथ मुख्य उद्देश्य प्राप्त करने के लिए उपयुक्त साधनों का चुनाव किया जा सके।
6. लोचशीलता- बजट के रूप में इतनी लोच शीलता भी होनी चाहिए की बदली हुई आवश्यकताओं के साथ उसमें परिवर्तन किया जा सके।
7. एक सहकारी प्रयास- बजट में कुशलता के साथ साथ सभी विभागों तथा उप विभागों का सक्रिय सहयोग भी प्राप्त करना आवश्यक होता है। बजट की रचना केवल एक केंद्रीय कार्यालय का कार्य ही नहीं होता है वरन यह एक ऐसी प्रक्रिया होती है जो संपूर्ण प्रशासकीय संग रचना का एक महत्वपूर्ण कार्य हैं।

इस प्रकार बजट निर्माण एक सुव्यवस्थित और वैज्ञानिक प्रक्रिया है। इस संबंध में कार्यपालिका से अत्यंत योग्यता और सजगता की अपेक्षा की जाती है।

6.3.2 व्यवस्थापिका से संबंधित सिद्धान्त

बजट के माध्यम से व्यवस्थापिका को कार्यपालिका पर नियंत्रण स्थापित करने का अवसर प्राप्त होता है। प्रारंभ में यह नियंत्रण केवल राजस्व के स्त्रोतों एवं मात्रा को बढ़ाने की दृष्टि से किया जाता था, किंतु बाद में इसमें व्यय को

भी सम्मिलित किया गया। व्यवस्थापिका का नियंत्रण यह स्पष्ट करता है कि उसकी स्वीकृति के बिना कोई घर एकत्रित नहीं किया जा सकता है और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। इसी संदर्भ में कार्यपालिका पर व्यवस्थापिका का समुचित नियंत्रण स्थापित करने के लिए निम्नलिखित सिद्धांत विकसित किए गए हैं-

1. प्रचार- सरकारी बजट विभिन्न सोपानों में से होकर गुज़रता है। इनके प्रचार और प्रकाशन द्वारा बजट को सर्वाधिक जानकारी का विषय बना लेना चाहिए। बजट पर विचार-विमर्श करते समय व्यवस्थापिका के गुप्त अधिवेशनों की आवश्यकता नहीं है। व्यवस्थापिका का पर्याप्त प्रचार और प्रकाशन होने पर ही देश की जनता और समाचार पत्र उसके संबंध में अपनी राय प्रकट कर सकते हैं।
2. स्पष्टता- बजट यदि अस्पष्ट और उलझन पूर्ण हुआ तो निश्चय ही यह सामान्य जनता की समझ से बाहर रहेगा । बजट की सार्थकता और सफलता के लिए उसे इतना स्पष्ट होना चाहिए कि जनता इसे भली प्रकार समझ सके।
3. व्यापकता- बजट के अंतर्गत समस्त सरकारी कार्यक्रमों पर प्रकाश डालते हुए व्यय और राजस्व को पूर्ण रूप से स्पष्ट किया जाना चाहिए। बजट के देखने पर यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होना चाहिए कि, सरकार द्वारा कौन-कौन से नए कर लगाए जा रहे हैं और किन-किन मदों पर सरकार द्वारा व्यय किया जाएगा। सरकार द्वारा जारी किए जाने वाले नए ऋण भी बजट में शामिल होते हैं, बजट देखने से सरकार की सम्पूर्ण आर्थिक स्थिति का बोध हो सकता है।
4. एकता- बजट में जो व्यय दिखाए जा रहे हैं, उन सभी की वित्तीय व्यवस्था करने के लिए सरकार को सभी प्राप्तियाँ एक सामान्य निधि में एकत्रित करनी चाहिए। राजस्व को पृथक करना एक अच्छे बजट का लक्षण नहीं होता है।
5. नियत कालीन- बजट द्वारा सरकार को विनियोजन तथा व्यय करने का जो अधिकार दिया जाए वह है एक निश्चित समय के लिए होना चाहिए। यदि धन का उपयोग इस समय के अंतर्गत नहीं किया जाता है तो उसे प्रयोग करने का अधिकार समाप्त हो जाएगा और केवल पुनः विनियोजन करने पर ही उसे व्यय किया जा सकेगा। सामान्य रूप से बजट अनुदान वार्षिक आधार पर निर्धारित किए जाते हैं। वित्त वर्ष प्रारंभ होने से पूर्व ही बजट की मदें स्वीकार कर ली जाती है।
6. निश्चितता- बजट की विभिन्न मदें तथा अनुमान यथा संभव निश्चित एवं परिशुद्ध होने चाहिए। बजट के अनुमान पर्याप्त सूचनाओं पर आधारित हो, ठीक हो, व्यवस्थित हो और मूल्यांकन करने की दृष्टि से उपयुक्त हो। तथ्यों को गोपनीय रखकर या राजस्व का कम अनुमान लगाकर बजट की परिशुद्धता को समाप्त करने का प्रयास नहीं किया जाना चाहिए।
7. ईमानदारी- विभिन्न कार्यक्रम उसी प्रकार क्रियान्वित किया जाये जिस प्रकार उन को बजट में प्रदर्शित किया गया है, अन्यथा बजट निरर्थक हो जाता है। बजट की रचना के समय जो उद्देश्य निर्धारित किये गये हैं उन्हें प्राप्त करने के लिये ईमानदार एवं कार्यकुशल प्रशासन का होना नितांत आवश्यक है।

6.3.3 अन्य सिद्धान्त

एक स्वस्थ और अच्छे बजट की रचना में कार्यपालिका एवं व्यवस्थापिका से सम्बन्धित सिद्धान्तों के अलावा कुछ अन्य सिद्धान्त भी अपनाये जाने चाहिये-

1. सन्तुलित बजट- बजट सन्तुलित होना चाहिये। यह अनुमानित व्यय, अनुमानित आय तथा राजस्व से अधिक नहीं होना चाहिये। यद्यपि सरकारी वित्त में अधिक लोचशीलता होती हैं, क्यूँकि अतिरिक्त व्यय को पूरा करने के लिये आवश्यक धन का प्रबंध किया जा सकता है। तथापि इसकी भी एक सीमा होती है, जो देश लगातार इसे सीमा को पार करता रहेगा वह दीर्घकाल में दिवालिया हो जाएगा और उसकी

अर्थव्यवस्था चरमरा जाएगी। जब बजट में व्यय और राजस्व बराबर होते हैं तो इसे हम सन्तुलित बजट कहते है किन्तु जब व्यय राजस्व की अपेक्षा कम होता है तो इसे आधिक्य या बचत बजट (Surplus Budget) कहा जाएगा और यदि व्यय अनुमानित राजस्व की अपेक्षा अधिक है तो उसे घाटे का बजट कहा जाएगा। यदि कभी घाटे का बजट बन ही जाता है तो कोई चिंता की बात नहीं होती है, किंतु निरंतर ऐसा होना राज्य के स्थायित्व और वित्तीय साख के लिए खतरनाक होता है। भारत के बारे में यही बात लागू हो रही है। अनवरत रूप से पेश किए जाने वाले घाटे के बजट ओं के कारण देश की अर्थव्यवस्था को गंभीर खतरों से जूझना पड़ रहा है।

2. मिश्रित बजट- स्वस्थ बजट का एक दूसरा सिद्धांत यह है कि वह विशुद्ध ना होकर मिश्रित होना चाहिए अर्थात प्राप्तियों तथा व्यय दोनों के सभी लेनदेन पूरी तरह से दिखाए जाने चाहिए, ना कि केवल उनकी विशुद्ध स्थिति को ही। इस नियम की अवहेलना करने पर वित्तीय प्रक्रिया अस्पष्ट हो जाएगी, वित्तीय नियंत्रण प्रभावहीन बन जाएगा और लेखे अपूर्ण बन जाएंगे। उदाहरण के लिए, यदि एक विभाग के व्यय का अनुमान ₹400000 है और आय का अनुमान ₹200000 है। यदि वह विशुद्ध बजट की रचना करें तो व्यवस्थापिका से केवल ₹200000 का अनुदान चाहेगा और इस प्रकार व्यवस्थापिका को अपने आधे व्यय पर नियंत्रण रखने से वंचित कर देगा।
3. बजट के दो भाग- बजट के दो भाग किए जाने चाहिए। एक भाग में चालू है और आए होनी चाहिए तथा दूसरे भाग में पूंजीगत भुगतान और प्राप्तियां होनी चाहिए। प्रथम भाग राजस्व बजट कहलायेगा और दूसरा भाग पूंजीगत बजट कहलाएगा। यदि इस प्रकार का अंतर न किया गया तो समस्त आर्थिक चित्र धुंधला रह जाएगा। इसलिए दोनों भागों को अलग अलग रखा जाता है और अलग-अलग संतुलित किया जाता है।
4. बजट का नकदी आधार- बजट में आय और व्यय का अनुमान वर्ष की वास्तविक प्राप्ति या व्यय से संबंधित होने चाहिए। नकद बजट का काम यह है कि इसके आधार पर इस वित्तीय वर्ष के लेखों की अंतिम तैयारी वर्ष के समाप्त होते ही की जाती है। इस प्रणाली का दोष यह है कि वर्ष के लिए वित्तीय तस्वीर सही सही नहीं उभर पाती है। आगामी वर्षों में किए जाने वाले भुगतानों को हटाकर घाटे के स्थान पर वर्तमान वर्ष के बजट में अतिरेक की स्थिति दिखाई जा सकती है। यद्यपि बजट का राजस्व विभाग इस दोष से बचा रहता है, किंतु यह अंतिम लेखों की तैयारी और प्रस्तुतीकरण को विलंबित करता है। वित्तीय नियंत्रण की दृष्टि से विलंबित लेखों का अधिकतर मूल्य घट जाता है।
5. बजट तथा लेखों की समानता- बजट का एक अन्य सिद्धांत यह है कि इसका रूप लेखों के रूप से मिलता हुआ होना चाहिए। ऐसा करने से बजट की रचना में सुविधा होगी, बजट पर नियंत्रण रखा जा सकेगा और लेखों को भी ठीक प्रकार से रखा जा सकेगा। भारत में प्राक्कलन समिति द्वारा प्रस्तावित सुझावों पर विचार करने के बाद वित्त मंत्री बजट का रूप में निश्चित करता है।

6.4 विकासशील देशों में बजट की भूमिका

विकासशील देशों में बजट की भूमिका या उसके द्वारा संपादित कार्य औद्योगिक की तुलना में राशि विभिन्न काफी भिन्न प्रकृति के होते हैं। विकसित देशों में बजट के द्वारा समग्र मांग के सही स्तर को बनाए रखते हुए व्यापार सक्रिय उतार-चढ़ाव को न्यूनतम किया जा सकता है। विकासशील देशों में बेरोजगारी की प्रकृति चक्रीय नहीं होती है, बल्कि चिरकालिक (Chronic) है, जो अर्थव्यवस्था के संरचनात्मक अवरोध का परिणाम है। इसलिए इसका समाधान समग्र मांग में वृद्धि नहीं है, बल्कि पूंजी निर्माण तथा विनियोग के स्तर में वृद्धि है। इसलिए इन देशों में बजट विकास योजना का एक अभिन्न अंग हो जाता है।

दूसरी ध्यान देने योग्य बात यह है कि विकासशील देशों में मौद्रिक नीति की अपेक्षा बजट नीति (राजकोषीय नीति) की भूमिका अधिक सबल है। इन देशों में वित्तीय बाजार या तो अनुपस्थित है या अच्छी तरह विकसित नहीं है। अर्थव्यवस्था के एक बड़े भाग में मुद्रा का प्रयोग नहीं होता है। अतः मौद्रिक नीति की कार्य क्षमता घट जाती है। दूसरी ओर, सार्वजनिक क्षेत्र को आर्थिक विकास में एक महत्वपूर्ण भूमिका प्रदान की जाती है। विकासशील देशों के समक्ष मुद्रास्फीति तथा शेष भुगतान की समस्याएं भी काफी गंभीर हैं। इन सभी मसलों पर विचार करते हुए यह कहा जा सकता है कि मौद्रिक नीति की तुलना में बजट नीति अधिक कारगर होगी।

6.5 बजट के कार्य

बजट निर्माण प्रशासकीय व्यवस्था का एक महत्वपूर्ण भाग है। बजट निर्माण को यदि प्रशासकीय व्यवस्था का ह्रदय या प्राण कह दिया जाए तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी। बजट के कार्यों या भूमिका कि यदि बात की जाए तो, बजट समन्वय के एक शक्तिशाली उपकरण के रूप में काम करता है। नकारात्मक रूप में यह आपको भी को कम करने की एक प्रभावशाली युक्ति भी है। ये समस्त उद्देश्य दूसरे अनेक तरीकों से प्राप्त किए जाते हैं, जैसे- अनुमानों का औचित्य, विनियोजित निधियों के प्रयोग का निरीक्षण, व्ययों की दर एवं समय निश्चित करना आदि। बजट बनाने की क्रिया व्यय के प्रति जागरूकता की भावना का संचार करती है। उसे ऐसा करना भी चाहिए, क्योंकि इस भावना को प्रशासन के सभी स्तरों, यहां तक कि प्रवर्तन स्तर (operating level) तक में प्रविष्ट करना चाहिए। सरकार जिस धनराशि को व्यय करना चाहती है उसका पूर्ण औचित्य होना चाहिए। बजट प्रक्रिया इस महत्वपूर्ण कार्य का संपादन करती है। अंत में, बजट निर्माण की प्रक्रिया नीतियों तथा कार्यक्रमों के मूल्यांकन का एक अवसर प्रदान करती है। यह हमें अनावश्यक क्रियाकलापों की सूचना देती है तथा ऐसे कार्यों को समाप्त करने का अवसर प्रदान करती है। इस अर्थ में यह पूर्व-लेखा परीक्षण है। इस प्रकार, बजट निर्माण की प्रक्रिया अनुशासन सिखाती है और अनुशासन की रूपरेखा बनाती है तथा कार्यक्रम और योजना के साथ कंधा मिलाकर चलती है।

बजट के विभिन्न कार्यों को समझने से पहले बजट के महत्व पर भी अधिक दृष्टि डालें तो अनेक विचारकों ने सरकारी प्रशासन के लिए वित्तीय प्रशासन या विद्या जिसे बजट भी कहा जा सकता है कि महत्व को अलग-अलग प्रकार से इंगित किया है- कौटिल्य ने बजट के महत्व को बताते हुए कहा कि "सारे काम वित्त पर निर्भर हैं। अतः सर्वाधिक ध्यान कोषागार पर देना चाहिए।" इसी प्रकार हूवर आयोग ने भी वित्तीय प्रशासन को महत्वपूर्ण बताते हुए कहा कि "वित्तीय प्रशासन आधुनिक सरकार का मर्म है।" विलोबी ने भी बजट को प्रशासन का अभिन्न और अनिवार्य औजार बताया है। डिमॉक ने कहा कि "वित्तीय प्रशासन के सभी पक्षों में से बजट निर्माण सबसे ज्यादा नीति संबंधी प्रश्न उठाता है।" लॉयड जॉर्ज ने कहा कि "सरकार वित्त है।" मार्क्स ने बजट के महत्व को बताते हुए कहा कि "प्रशासन में वित्त वातावरण में ऑक्सीजन की तरह ही सर्वव्यापी है।"

इस प्रकार यह कहने में कोई अतिशयोक्ति नहीं है कि प्रशासन के सारे काम बजट के द्वारा ही संभव होते हैं। बजट प्रशासन में हर प्रकार की प्रगति लाने और जनता को सभी प्रकार की सेवाएं, जो सरकार के द्वारा प्रदान की जानी है, को जनता को उपलब्ध कराने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इस पूरे विवरण के अलावा भी यदि बजट के कार्यों को बिंदुओं में प्रदर्शित किया जाए तो वह कुछ इस प्रकार से हैं-

1. **योजना का निर्माण-** बजट का सबसे महत्वपूर्ण कार्य यह होता है कि वह आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए सरकार की एक कार्य-योजना का निर्माण करवाता है। इस कार्य-योजना में सरकार द्वारा अपनी दीर्घकालीन एवं अल्पकालीन सभी प्रकार की अवधि के लिए उद्देश्य का निर्धारण किया जाता है, प्राप्त किए जाने वाले लक्षणों को सुनिश्चित किया जाता है, तथा संसाधनों की एवं योजनाओं की प्राथमिकता का भी निर्धारण किया जाता है।

2. **उत्तरदायित्व की स्थापना-** बजट विधायिका के प्रति कार्यपालिका की विधि एवं न्यायिक उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करता है। इसके साथ ही प्रशासनिक पद सोपान में बजट वरिष्ठों के प्रति अधीनस्थों के उत्तरदायित्व को भी सुनिश्चित करता है। उत्तरदायित्व बजट निष्पादन तथा योजना क्रियान्वयन में एक महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है और यही कारण है कि यह सरकारी बजट का एक महत्वपूर्ण कार्य माना जाता है।
3. **नियंत्रण-** प्रजातंत्र में नियंत्रण नए आयाम ग्रहण कर लेता है और बहुत सारी कठिन समस्याओं को जन्म देता है। एक पूर्णत: प्रतिनिधि सरकार का मुख्य सरोकार वित्त व्यवस्था के संचालन तथा रूपांकन में उपयुक्त परिवर्तन लाना होता है, जिससे की कार्यपालिका की व्यवस्थापिका जो कीविधायिका, जो कि राजस्व निर्धारित करने वाली तथा वित्त प्रदान करने वाला प्राधिकरण है के प्रति जवाबदेही बनी रहे। विधायी नियंत्रण का अर्थ होता है कि व्यवस्थापिका वास्तविक रूप में ना केवल औपचारिक रूप से वार्षिक बजट द्वारा नीतियों तथा कार्यक्रमों के निर्माण, उनकी समीक्षा, अनुमोदन तथा कार्यान्वयन में सम्मिलित हो सके बल्कि इसका यह भी तात्पर्य होता है कि, व्यवस्थापिका प्रभावी रूप से कार्यपालिका के निष्पादन एवं उपलब्धियों को उसके द्वारा कार्यपालिका के निर्धारित उद्देश्य एवं नीतियों से संबंधित कर सकें। व्यवस्थापिका के सदस्य ना तो सदैव प्रशासन की जटिलताओं से अवगत होते हैं और ना ही वे संक्रिया की विशालता के पैमाने को समझ सकते हैं तथा उसके लिए आवश्यक वित्त की तो कल्पना भी नहीं कर सकते हैं। यही कारण है कि विधान सभाओं को कार्यपालिका पर नियंत्रण की अपनी वैधानिक शक्ति के प्रयोग हेतु सहायता के लिए विभिन्न युक्तियों का उपयोग किया जाता है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि बजट प्रशासन के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण होता है और बजट के द्वारा ही सरकारी विभागों की विभिन्न गतिविधियों को एक योजना के अधीन लाकर उनको एक ही कृत करने का काम करता है जिसके कारण प्रशासनिक प्रबंधन एवं समन्वय आसान बन जाता है। बजट सामाजिक और आर्थिक नीति के उपकरण के तौर पर भी काम करता है जिसका कार्य- निर्धारण, वितरण और स्थिरीकरण है।

6.6 निष्कर्ष

निष्कर्ष रूप में यह कहा जा सकता है कि बजट संबंधी प्रक्रिया को प्रशासन का केंद्र बिंदु माना जाता है। बजट कार्यवाही की एक योजना है जो आने वाले वित्तीय वर्ष के लिए मुख्य कार्यपालिका को प्रतिबिंबित करती है। बजट को एक ऐसे एक प्रलेख के रूप में भी जाना जा सकता है, जिसके माध्यम से मुख्य कार्यकारी, कोष एकत्र करने वाले तथा कोष स्वीकृत करने वाले प्राधिकरण के समक्ष इस बात का पूर्ण प्रतिवेदन प्रस्तुत करता है कि विगत पूर्ण हुए वर्ष में उसने तथा उसके अधीनस्थों ने मामलों का किस प्रकार से संचालन किया है और वर्तमान राजकोष की स्थिति क्या है। बजट विगत अनुभव के आधार पर बनाया जाता है तथा इस प्रकार की योजना तथा कार्यक्रम व्यवस्थित तथा संगठित होने चाहिए तथा कार्यान्वयन के लिए तैयार होने चाहिए।

अभ्यास प्रश्न-

1. प्रशासकीय इंजन का ईंधन किसे माना गया है?
2. बजट की उत्पत्ति किस शब्द से हुई है?
3. इंग्लैंड में प्रारंभिक बजट के दस्तावेज को किस नाम से पुकारा जाता था?
4. "बजट एक ऐसा परिपत्र है जिसमें सार्वजनिक राजस्व और व्यय की प्रारंभिक रोज योजना प्रस्तुत की जाती है" किसके द्वारा कहा गया?
5. बजट की किन्हीं दो सिद्धांतों का नाम लिखिए।

6.7 सारांश

बजट एक ऐसा प्रलेख है जो सरकार द्वारा संसद के सम्मुख प्रतिवर्ष एक निर्धारित तिथि पर अथवा उसके पश्चात प्रस्तुत किए जाते हैं। इन प्रलेखों में इस बात का वर्णन होता है कि आने वाले वित्तीय वर्ष में सरकार का अनुमानित व्यय क्या होगा तथा उसी काल के मध्य सरकार की आय क्या होगी। यह आय-व्यय वर्तमान लागू नियमों के अधीन होते हैं और यदि सरकार द्वारा कराधान प्रस्तावों पर विचार किया गया है तो इनके परिणाम स्वरूप बजट का प्राथमिक उद्देश्य व्यापक सूचना को प्रकट करना भी हो सकता है, ताकि सरकार की संपूर्ण वित्तीय स्थिति का परिचय मिल सके और जिसके द्वारा संसद इन वित्तीय कार्यक्रमों के प्रभाव को देश की अर्थव्यवस्था पर पूर्ण तथा समुचित रूप से आँक सके।

6.8 शब्दावली

उत्तरदायित्व- जवाबदेही, नियतकालीन- नियत समय का, कोषागार- खजाना, भंडार, धन दौलत रखने की जगह, मितव्ययता- नियत सीमा के अंतर्गत खर्च करने की प्रक्रिया, विनियोजन- विनियोग करना, द्रव्य- धन

6.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. वित्त को, **2.** फ्रांसीसी भाषा के शब्द 'बाजते' से, **3.** Doomsday Book या Domesday Book, **4.** रेने स्टार्म, **5.** संतुलित बजट, मिश्रित बजट

6.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. शर्मा,डॉ. प्रभुदत्त, 2007, प्रशासनिक सिद्धांत, कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।
2. अवस्थी, अवस्थी,2014, भारत में लोक प्रशासन,लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।
3. कटारिया, सुरेंद्र, 2009, भारतीय लोक प्रशासन, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, नई दिल्ली।

6.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिंह,एस. के., 2009, लोक वित्त के सिद्धांत तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन, आगरा।

6.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. बजट के अर्थ एवं परिभाषा पर विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. बजट के सिद्धांतों पर एक लेख लिखिए।
3. बजट के कार्यों की व्याख्या कीजिए।

इकाई- 7 भारतीय बजट व्यवस्था

इकाई की संरचना

7.0 प्रस्तावना
7.1 इकाई का उद्देश्य
7.2 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (बजट व्यवस्था) का विकास
7.3 वित्तीय वर्ष
7.4 आधुनिक सरकार के बजट संबंधी उत्तरदायित्व
7.5 बजट प्रक्रिया
7.5.1 बजट का निर्माण
7.5.1.1 बजट के अनुमान तैयार करना
7.5.1.2 बजट अनुमानों को एकीकृत करना
7.5.1.3 मंत्री परिषद द्वारा स्वीकृति
7.5.2 बजट का संसद में अनुमोदन या स्वीकृति
7.5.2.1 बजट का विधान मंडल के समक्ष प्रस्तुतीकरण
7.5.2.2 बजट पर सामान्य चर्चा
7.5.2.3 अनुदान माँगो पर मतदान
7.5.2.4 मतदान
7.5.2.5 लेखानुदान
7.5.2.6 विनियोग विधेयक
7.5.2.7 वित्त विधेयक
7.5.3 बजट का क्रियान्वयन
7.5.3.1 वित्तीय साधनों का एकत्रीकरण
7.5.3.2 एकत्रित कोषों का संरक्षण तथा वितरण
7.5.3.3 लेखा संधारण
7.6 निष्कर्ष
7.7 सारांश
7.8 शब्दावली
7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

7.0 प्रस्तावना

स्वतंत्रता के पूर्व विदेशी सरकार को भारत की आर्थिक उन्नति में कोई विशेष रूचि नहीं थी। अतः विदेशी शासन की बजट-नीति का लक्ष्य और क्षेत्र भी सीमित था। आर्थिक प्रभावों की दृष्टि से तत्कालीन बजट नीति तटस्थ थी। विदेशी सरकार की मूल्य नीति यही रही थी कि भारत के आर्थिक हितों की यथासंभव उपेक्षा की जाए और भारत पर भारी मात्रा में ऐसे सरकारी ऋण का भार डाल दिया जाए जो ब्रिटिश साम्राज्य के लिए तय किया गया था।

बजट में जनवादी शैली का नितांत अभाव था। स्वतंत्रता के पश्चात भारत सरकार की बजट संबंधी नीति ने एक नई दिशा ग्रहण की। देश की परिस्थितियों के अनुरूप और आर्थिक विकास को गति देने के लिए राज्य सरकार ने प्रभावशाली ढंग से राजकोषीय नीति का संचालन किया। समय-समय पर बजट नीति को नए आयाम प्रदान किए गए। दृष्टिकोण और उद्देश्य बदल जाने से आर्थिक क्षेत्र में आहत तकलीफ नीति का परित्याग कर दिया गया। राष्ट्रीय सरकार ने देश की बिगड़ी हुई आर्थिक दशा को संभालने और भावी आर्थिक विकास के आधार भूमि तैयार करने की दिशा में ठोस आर्थिक नीति पर चलना शुरू कर दिया। संविधान के नीति निर्देशक सिद्धांतों में यह व्यक्त कर दिया गया कि राज्य आर्थिक व्यवस्था का संचालन कुछ इस प्रकार से करेगा कि धन का केंद्रीकरण ना हो, उत्पादन के साधनों का सर्वसाधारण के लिए दुरुपयोग ना हो, समुदाय के भौतिक साधनों का स्वामित्व और नियंत्रण इस प्रकार विकसित हो जिससे कि सामूहिक हित में सर्वोत्तम धन वृद्धि हो, सभी नागरिकों को जीविकोपार्जन के पर्याप्त साधन उपलब्ध हो आदि। संविधान के निर्देशों के अधीन राज्य सरकार ने सुनियोजित आर्थिक विकास पर आधारित समाजवादी धन के समाज और कल्याणकारी राज्य की स्थापना का आदर्श अपनाया। अब बचत नीति इस लक्ष्य को प्राप्त करने का सर्वाधिक महत्वपूर्ण बन गई है। सन 1951 से ही सरकार की नीति आर्थिक नियोजन के क्रांतिकारी रूप में प्रभावित रही है। समाजवादी समाज और कल्याणकारी राज्य के आदर्श की प्राप्ति के लिए सामाजिक एवं आर्थिक सेवाओं का विकास परियोजनाओं पर अधिकाधिक व्यय किया गया है। संघ सरकार की भांति ही राज्य सरकारों के गैर विकास तथा प्रतिरक्षा तथा नागरिक प्रशासन में भारी वृद्धि हुई है। यद्यपि सरकारी व्यय में वृद्धि का अधिकांश भाग विकास कार्यों पर खर्च किया जाता है। परंतु फिर भी 1991 के बाद देश में अर्थव्यवस्था के उदारीकरण की जो प्रक्रिया प्रारम्भ हुई, उसका देश की अर्थव्यवस्था पर सही एवं अनुकूल प्रभाव हुआ है और वर्तमान में यही नीति जारी है।

प्रस्तुत इकाई में हम भारत में बजट व्यवस्था का संपूर्ण विवरण विस्तार के साथ जानेंगे। साथ ही यह भी जानेंगे कि भारत में बजट की संपूर्ण प्रक्रिया किस प्रकार की होती है।

7.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- भारत में संघीय व्यवस्था के विकास को क्रमवार समझ सकेंगे।
- भारत में वित्तीय वर्ष तथा आधुनिक सरकार के बजट संबंधी उत्तरदायित्व को भी विस्तार में जान पाएंगे।
- भारत में बजट व्यवस्था के संदर्भ में बजट की संपूर्ण प्रक्रिया को विस्तार से जान पाएंगे।

7.2 भारत में संघीय वित्त व्यवस्था (बजट व्यवस्था) का विकास

जैसा कि आपने पिछले अध्याय में जाना की आधुनिक प्रशासन व्यवस्था में वित्त रक्त या ईंधन की भूमिका का निर्वहन करता है। आपने लॉयड जॉर्ज के शब्दों को भी पढ़ा जिसमें उन्होंने कहा कि "जिसे शासन कहते हैं, वह वास्तव में वित्त ही है।" अर्थात प्रशासन में वित्त की महत्वपूर्ण भूमिका को नकारा नहीं जा सकता है। प्रशासन की हर गतिविधि, योजना, कार्यक्रम तथा प्रक्रियाओं के कुशल संचालन के लिए वित्तीय संसाधनों की महत्वपूर्ण भूमिका एवं आवश्यकता होती है। वर्तमान शासन व्यवस्थाओं के समक्ष वित्तीय संसाधनों का प्रबंध तथा कल्याणकारी गतिविधियों का सफल संचालन सबसे जटिल कार्य है। वित्तीय स्रोतों के अभाव में शासकीय कार्य ठप पड़ जाते हैं एवं वित्तीय संसाधनों में वृद्धि करना तो अपने आप में अत्यंत मुश्किल कार्य है। यह बात सच है कि करों के रोपण से सरकार धन्य राजस्व को एकत्रित कर सकती है, परंतु करों में वृद्धि करना आम जनता में रोष उत्पन्न करता है।

संघात्मक शासन व्यवस्था होने के कारण भारत में केंद्र तथा राज्य दोनों स्तरों पर वित्तीय प्रशासन विद्यमान है। केंद्रीय स्तर पर संसद तथा राज्यों में राज्य विधानमंडल बजट को स्वीकृति प्रदान करते हैं, जबकि बजट का निर्माण तथा नियंत्रण का कार्य केंद्रीय स्तर पर वित्त मंत्रालय तथा राज्यों में राज्य वित्त विभाग के द्वारा किया जाता है।

वर्तमान में भारत में बजट से संबंधित जो व्यवस्था पाई जाती है, उसका विकास होने में बहुत लंबा समय लगा। कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में जिस मौर्यकालीन प्रशासन का वर्णन किया है वह एक श्रेष्ठ बजट व्यवस्था का संदर्भ माना जाता है। दिल्ली सल्तनत एवं मुगल साम्राज्य के शासकों की वित्तीय व्यवस्था भी मौर्य व्यवस्था से ज्यादा भिन्न नहीं थी। स्वतंत्रता से पूर्व विदेशी सरकार को भारत की आर्थिक उन्नति में कोई विशेष रूचि नहीं थी। अतः उस समय शासन की बजट नीति का लक्ष्य और क्षेत्र भी सीमित था। यदि ऐतिहासिक दृष्टि से शनै शनै वास्तव में भारत में वित्तीय व्यवस्था का परिवर्तन काल को देखें 1765 माना जाता है। इस में परिवर्तन लाने का मुख्य ईस्ट इंडिया कंपनी को है। 1765 में ही ईस्ट इंडिया कंपनी को बंगाल की दीवानी मिली थी। उस समय आय का मुख्य स्रोत मालगुजारी था। इसके अतिरिक्त थोड़ी-बहुत नमक व कस्टम से भी हो जाती थी। आय में वृद्धि के उद्देश्य से ही सर्वप्रथम 1793 में लॉर्ड कॉर्नवालिस ने बंगाल तथा बिहार के कुछ भागों में स्थाई बंदोबस्त किया था, परंतु इन प्रश्नों से भी कंपनी की आय में वृद्धि नहीं हो सकी थी। कंपनी बार-बार ब्रिटिश संसद से ऋणों की मांग कर रही थी, और कंपनी के लोग मालामाल होकर भारत से इंग्लैंड जाने लगे थे। कुल मिलाकर कंपनी की दशा बड़ी सोचनीय हो चुकी थी। वह अपनी व्यवस्था अपने साधनों से नहीं कर पा रही थी। ब्रिटिश सरकार कंपनी की स्थिति का बारीकी से अध्ययन कर रही थी तथा कंपनी को ऋण देने के साथ-साथ उसके वित्तीय अधिकार में भी हस्तक्षेप करने लगी थी। इसी उद्देश्य से 'रेगुलेटिंग एक्ट' पास किया गया था। परंतु भारत के वित्तीय इतिहास में महत्वपूर्ण घटना 1833 में घटित हुई, जब 'चार्टर एक्ट' पास हुआ था। उस समय कंपनी के खर्चों में वृद्धि के दो प्रमुख कारण थे-

- **धन एकत्र करने की लालसा-** कंपनी में धीरे-धीरे स्थाई लोक प्रवेश पाने लगे थे, जिनका मुख्य उद्देश्य धन कमाना था। कर्मचारी मनमाने ढंग से भ्रष्टाचार को पनपाने लगे थे। प्रशासनिक खर्च में वृद्धि होने लगी, परंतु आय के साधन उतने नहीं बढ़ाएं जा सके और ना ही फिजूलखर्ची को रोका जा सका।
- **युद्ध-** सन् 1833 से पूर्व ईस्ट इंडिया कंपनी को देश में अनेक बार युद्ध लड़ने पड़े तथा उन्होंने अनेक राजाओं तथा महाराजा को युद्ध लड़ने के लिए सहायता दी।

इन सभी घटनाओं के कारण ब्रिटिश संसद को कंपनी की वित्तीय व्यवस्था पर धीरे-धीरे नियंत्रण करना पड़ा और 1833 'चार्टर अधिनियम' के पारित हो जाने से भारतीय वित्त व्यवस्था पर पूर्ण नियंत्रण लगा दिया गया। इस चार्टर अधिनियम के पारित हो जाने के बाद संपूर्ण आय और व्यय तथा ऋण संबंधी कार्य सरकार के नाम से होने लगे और ऋणों को भी भारत सरकार के नाम पर हस्तांतरित कर दिया गया। प्रांतीय सरकारें बिना गवर्नर जनरल की आज्ञा के नातो कर लगा सकती थी और न ही आय प्राप्त कर सकते थे। अर्थात उस समय जिस केंद्रीय वित्त व्यवस्था को अपनाया गया था वह वित्त व्यवस्था अत्यधिक नियंत्रित भी थी और उसमें अनेक दोष भी विद्यमान् थे। इसके पश्चात 1858 में भारतीय शासन ईस्ट इंडिया कम्पनी से ब्रिटिश सरकार के हाथों में आ गया। इस समय फिर से पुरानी पद्धति को अपनाया जाने लगा। सर हेनरी मेन, सर मैंसफिल्ड, जो काउंसिल के सदस्य थे, और उस समय के वित्त मंत्री, श्री जेम्स विलसन का विचार था कि भारत में संघीय वित्त व्यवस्था अपनायी जानी चाहिए। इस व्यवस्था में यह सोचा जाने लगा कि इसे सभी प्रांत अपनी-अपनी आवश्यकताओं के अनुसार आय प्राप्त कर सकेंगे तथा व्यय भी करते रहेंगे। साथ ही इस व्यवस्था से प्रान्तों में मितव्ययता भी बनी रहेगी। परंतु उस समय मद्रास तथा मुंबई के गवर्नरों ने इस योजना का विरोध किया और कहा कि केंद्र तथा प्रांतों के बीच आय तथा व्यय

की मतों का विभाजन करना आसान नहीं है। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि विकेंद्रीकरण से केंद्र प्रांतों पर निर्भर हो जाएगा। अतएव 1870 तक विकेंद्रित वित्त व्यवस्था का प्रारंभ नहीं हो सका। वित्त मंत्री विल्सनन, संघीय वित्त व्यवस्था को लागू करने के अनेक प्रयास किए परंतु वे सफल ना हो सके। इसके पश्चात लंबे समय तक इस दिशा में अनेक प्रयास किए गए जिसमें मेयो योजना, लॉर्ड लिटन (Lord Lytton) की योजना, लॉर्ड रिपन की योजना, 1919 और 1935 के सुधार अधिनियम आदि के द्वारा इस दिशा में कई प्रयास किए गए परंतु स्थान विफल रहे। 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हुआ और साथ ही पाकिस्तान का भी जन्म हुआ। ऐसी दशा में आयकर के साधन में नवीन योजना की आवश्यकता पड़ी। फलतः 17 मार्च,1948 को एक नवीन योजना की घोषणा की गई, जिसमें यह सुझाव दिया गया कि आयकर का 1प्रतिशत भाग मुख्य कमिश्नर राज्यों को दिया जाए। निमिया योजना के अनुसार राज्यों को जूनिर्यात कर का 62.5 प्रतिशत भाग दिया जाता था जिसे घटाकर नवीन योजना ने 20 प्रतिशत कर दिया। और साथ ही इस नई योजना के अनुसार असम तथा उड़ीसा कोई आर्थिक सहायता देने का सुझाव दिया गया था। असम और उड़ीसा के लिए सहायता की राशि क्रमशः 18.7 लाख तथा 25 लाख रुपया और 1948-49 में क्रमशः 30 लाख और 40 लाख हो गया थी। इसके बाद प्रांतीय आयकर के भाग को निर्धारित करने के लिए श्री एन.आर. सरकार की अध्यक्षता में समिति का गठन किया गया था। इस समिति ने प्रांतों के हित में अपने सुझाव दिए, परंतु सरकार ने उन सुझावों को स्वीकार नहीं किया। सरकार समिति के बाद भारत सरकार ने 1950 में देशमुख समिति का गठन किया था। उसके द्वारा दिए गए सुझावों को 2 वर्ष के लिए मान्य ठहराया गया, क्योंकि 2 वर्ष बाद अर्थात 1952 में भारत में वित्त आयोग की स्थापना होनी थी। देशमुख ने 1950 में सरकार के समक्ष कुछ सुझाव रखे जिसमें उन्होंने सुझाया की जूट केंद्र की आय का स्त्रोत होना चाहिए, तथा आयकर की कुल राशि का 50 प्रतिशत भाग प्रांतों को भी देना चाहिए। इन सभी सुझावों की प्रांतों के द्वारा कटु आलोचना की जाने लगी, क्योंकि जो सुझाव दिए गए प्रांतों के व्यापक हित के अनुकूल नहीं थे। इसके बाद देश की 600 रियासतों का विलय किया गया, जिससे देश में अनेक प्रकार की वित्तीय उथल-पुथल मच गई। वित्तीय प्रशासन को फिर से स्थापित करना था, क्योंकि अब प्राचीन परिस्थितियां नहीं रह गई थी। भारतीय संविधान के अनुसार एक वित्त आयोग की स्थापना करनी थी। सन 1948 में श्री कृष्णमाचारी की अध्यक्षता में एक 'वित्तीय जांच समिति' का जिस प्रशासनिक यंत्र नियंत्रण तथा सहयोग के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया। इन सिद्धांतों में कहा गया कि केंद्र अपने प्रशासनिक यंत्र का उपयोग इन रियासतों में प्रांतों की ही भांति करेगा तथा इन रियासतों में नियंत्रण केवल उन्हीं विषयों पर होगा जिन विषयों पर यह प्रांत में था एवं केंद्र और रियासतें विभिन्न प्रांतों की भांति ही परस्पर में सहयोग करेंगी।

26 जनवरी, 1950 से भारतीय गणराज्य की स्थापना हुई। इसी दिन देश में नया संविधान भी लागू हुआ तथा केंद्र और राज्यों के बीच वित्तीय संबंध निर्धारित किए गए। इसमें यह व्यवस्था कर दी गई कि भारत में राष्ट्रपति की आज्ञा से प्रत्येक 5 वर्ष के बाद एक वित्त आयोग की स्थापना की जाएगी, जिसका संबंध पंचवर्षीय योजना से था तथा जो राज्यों तथा केंद्र के बीच समय-समय पर वित्तीय संबंधों को स्थापित करेगा। भारत के संविधान में बजट शब्द कहीं भी उल्लेखित नहीं है बल्कि संविधान के अनुच्छेद-112 में यह कहा गया है कि 'राष्ट्रपति, प्रत्येक वित्तीय वर्ष के संबंध में संसद के दोनों सदनों के समक्ष एक वार्षिक वित्तीय विवरण रखवाएगा।' संविधान संघीय है, अतः राज्यों के अपने प्रथक प्रथक बजट होते हैं। रेलवे बजट को 1921 में सामान्य बजट से पृथक कर दिया गया था। इस व्यवस्था का पहला लाभ यह था कि रेलवे नीति में व्यापक दृष्टिकोण को अपनाने की सुविधा प्राप्त हो गई है। दूसरे, रेलवे विभाग द्वारा देश के सामान में राजस्व को एक निश्चित वार्षिक योगदान दिया जाता है, और शेष आय को देश में रेलवे के विकास के लिए ही काम में लाया जाता है। अब रेलवे बजट को भी सामान्य बजट में ही शामिल कर दिया गया है।

7.3 वित्तीय वर्ष

जैसा कि आपने पिछले अध्याय में भी जाना होगा कि 1860 में भारत में प्रथम आधुनिक बजट प्रस्तुत किया गया था। उस समय सरकार द्वारा अपनाया गया बजट 1 मई से 30 अप्रैल तक के लिए ही प्रभावी था। इसके बाद 1866 के प्रारंभिक काल में, वित्तीय वर्ष को परिवर्तित करके अप्रैल- मार्च कर दिया गया था। ऐसा इसलिए किया गया था क्योंकि यह इंग्लैंड में प्रचलित प्रथा के अनुरूप था। इस संदर्भ में प्रशासनिक सुधार समिति ने अपने वित्त एवं लेखा प्रतिवेदन में एक बार कहा था कि, "प्रथम अप्रैल से शुरू होने वाला वित्त वर्ष हमारे राष्ट्र की नीतियों एवं आवश्यकताओं पर आधारित नहीं है। हमारी अर्थव्यवस्था अभी भी मुख्य रूप से कृषि आधारित है तथा वर्षा ऋतु पर ही निर्भर करती है।'' अतः इस संदर्भ में ऐसा कहा गया कि एक वास्तविक वित्तीय वर्ष राजस्व का सही मूल्यांकन करने के योग्य होना चाहिए तथा व्यय के समान विस्तार को सुविधाजनक बनाने वाला होना चाहिए। शताब्दियों तक, भारत के लोगों में यह रिवाज रहा कि वह अपने वित्तीय वर्ष का आरंभ दिवाली के दिन से करते थे। इस प्रथा की जड़ें उनकी जीवनशैली से जुड़ी हुई थी। व्यापारिक वर्ग तथा समाज के अन्य वर्ग दीपावली के दिन ही शुरुआत इस विचार से करते हैं कि उन्होंने गतिविधि की एक अवधि को पूरा कर लिया है तथा एक नई अवधि का शुभारंभ किया है। एक वित्तीय वर्ष को आवश्यक रूप से निम्नलिखित कार्य को निष्पादित करने में सहायता करनी चाहिए-

- राजस्व का सही अनुमान लगाना;
- व्यय के सही अनुमान लगाना;
- परियोजनाओं के संचालन को सुविधापूर्ण बनाना;
- प्रशासकों तथा व्यवस्थापक व्यवस्थापकों के लिए बजट सुविधाजनक भी होना चाहिए।

वित्तीय वर्ष क्या होना चाहिए इसका विश्लेषण करने वाले विभिन्न विशेषज्ञों ने विभिन्न तारीखों के सुझाव दिए। प्रथम जुलाई, प्रथम, प्रथम नवंबर या प्रथम जनवरी के सुझाव दिए गए। इन सब तथ्यों के अपने-अपने कुछ लाभ हैं तो कुछ नुकसान भी हैं। कोई भी प्रस्ताव परस्पर विरोधी मापदंडों को पूरा नहीं कर सकता। इसीलिए यह तर्क दिया जाता है कि लाभ का संतुलन वर्तमान व्यवस्था को ऐसे ही बनाए रखने में। इसमें कोई भी बदलाव प्रशासनिक समस्याएं उत्पन्न कर देगा।

7.4 आधुनिक सरकार के बजट संबंधी उत्तरदायित्व

जैसा कि आपने भारत में बजट व्यवस्था के विकास से संबंधित वर्णन में जाना होगा स्वतंत्रता प्राप्ति के उपरांत, वित्तीय प्रशासन के उद्देश्य, उद्देश्यों नीतिगत ढांचे तथा पर्यावरण में बहुत महत्वपूर्ण परिवर्तन हुए। यद्यपि भारत सरकार अधिनियम 1935 के मूलभूत लक्षणों को अन्य क्षेत्रों के अलावा वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में भी बनाए रखा गया, फिर भी इन साधनों एवं राष्ट्रीय प्राथमिकताओं के मध्य कोई असंगति नहीं थी। इन साधनों को परिवर्तित उद्देश्य के अनुसार बदला जा सकता था और ऐसा किया भी गया। जैसा कि आपने जाना की, बजट शब्द का भारतीय संविधान में कहीं उल्लेख नहीं किया गया है। भारत में बजट प्रक्रिया संविधान की अनुच्छेद- 112 से 117 तक में दिए गए प्रावधानों का पालन करती है। भारतीय संविधान का अनुच्छेद-112 (1) "वार्षिक वित्तीय विवरण" तैयार करने का उल्लेख करता है, जो आगामी वित्तीय वर्ष के लिए, "भारत सरकार के अनुमानित आय तथा व्यय का विवरण" है। इस विवरण में तीन प्रकार के विवरण शामिल होते हैं- राजस्व संबंधी विवरण, व्यय संबंधी विवरण तथा एक पूर्ण विवरण।

पहले सभी मंत्रालयों के लिए अनुदान की मांगें सामूहिक रूप में संसद के समक्ष प्रस्तुत की जाती थी। 1959- 60 से प्रत्येक मंत्रालय के लिए पृथक पृथक रूप में यह मांगे प्रस्तुत की जाने लगी है।

प्रत्येक मांग के 4 भाग होते हैं। प्रथम भाग में जिस सेवा के लिए वह मांग की जाती है, उस सेवा को और समग्र धन राशि के योग को प्रकट किया जाता है। दूसरे भाग में जय के विभिन्न आंकड़ों के सारांश दिए जाते हैं, जो संबंधित मंत्रालय के लिए भी नियोजित प्रमुख इकाइयों के क्रमवार व्यक्त व्यक्त करते हैं। उन मंत्रालयों को भी व्यक्त किया जाता है, जिनकी ओर से व्ययों की गणना की जाती है। तीसरे भाग में सामान्य रूप से व्यक्त धनराशि के विवरण दिए जाते हैं। चौथे भाग में मांग के नीचे एक पद-टिप्पणी मात्र होती है। भाग एक, दो एवं तीन में दिखाई गई धनराशि या कुल व्यय से संबंधित होती हैं, अतः अन्य सरकारों की तथा तदर्थ विधियों की बकाया वसूली तथा अंतर विभागीय समायोजन संबंधी बकाया मांगे मुख्य मांग में नहीं दर्शाई जाती है। संसद की सूचना हेतु इन्हें चौथे भाग में प्रदर्शित किया जाता है। किंतु व्यय कम होने की स्थिति में यह बकाया वसूली लेखों में समायोजित कर दी जाती है। संसद की स्वीकृति की दृष्टि से स्थूल धनराशि आवश्यक होती है। इन राशियों को संसद के अनुमोदन से संचित निधि के व्यय में सर्व प्रथम स्थान दिया जाता है।

सरकारी लेखे भी चार मुख्य भागों में विभाजित किए जाते हैं- राजस्व, पूंजी, ऋण तथा जमा राशि।

व्यय से संबंधित सभी अनुमानों को भी दो भागों में विभाजित किया जाता है, पहला भाग स्थायी व्ययों तथा दूसरा भाग नए व्ययों को प्रकट करता है। वित्तीय वर्ष 1962-63 से बजट तथा लेकर में कई परिवर्तन किए गए हैं। मुख्य परिवर्तन कुछ इस प्रकार से हैं-

संवैधानिक दृष्टि से राजस्व की कोई प्रत्यक्ष मांग नहीं की जा सकती है। अतः 'राजस्व पर प्रत्यक्ष मांग' वाली धारा की नामावली को बदल कर, 'करों, शुल्कों तथा अन्य मुख्य राजस्व संग्रह' कर दिया गया है। आय पक्ष की समांतर धारा की नामावली 'राजस्व के प्रधान शीर्ष' को भी बदल दिया गया है।

राज्यों के अंश का संघीय उत्पादन शुल्क में से भुगतान संघ से राज्यों को राजस्व का स्थानांतरण मात्र है, अतः यह भुगतान तथा प्राप्तियां, केंद्रीय सरकार के लेखों में 'II-Union Excise Duties' शीर्ष के अंतर्गत और 'II-Uni on Excise Duties' शीर्ष के अंतर्गत राज्यों के लेखों को अंकित किए जाने के तन पर 'L-Constitutions and Miscellaneous Adjustments' में प्रथक प्रथक मुख्य शीर्षों के अंतर्गत अंकित की गई हैं। शुल्क, सीमा कर, मनोरंजन कर, वाहन कर इत्यादि; जिन्हें केंद्रीय तथा राज्य सरकार एकत्र करती है और जिनकी आय स्थानीय निकायों को दी जाती है, संघीय उत्पादन शुल्क में राज्यों के हिस्से की भांति केंद्र तथा राज्य सरकार दोनों ही के लेखों में एक नए मुख्य शीर्ष हैं 'L-Constitutions and Miscellaneous Adjustments' के अंतर्गत समायोजित करने की व्यवस्था की गई है।

संघ की ओर से राज्यों के प्रति सभी और संवैधानिक अनुदान, जो अंतिम रूप में वे नहीं माने जाते बल्कि केंद्रों से राज्यों के लिए स्रोतों का केवल स्थानांतरण मात्र होते हैं, राज्यों के लेखों में मुख्य सी 'XLIX-Grants-in-aid from Central Government' के अंतर्गत समायोजित किए जाते हैं। केंद्रीय लेखों में मुख्य शीर्ष '61-Grants-in -aid to State Government' के अंतर्गत समायोजित किए जाते हैं।

राज्यों को दिए जाने वाले सभी अनुदानओं का प्रावधान वित्त मंत्रालय के नियंत्रण में 1962-63 की एक संयुक्त मांग में सम्मिलित किया गया है। नई मांगों से संबंधित अनुदान संबंधी विषयों के अनुसार प्रथक उप शीर्षों में दिखाई जाते हैं और उनके अर्थ संबंधी प्रशासकीय मंत्रालयों के खाते में रखे जाते हैं। इसी प्रकार राज्य पूंजी के अंतर्गत रखे जा सकने वाले अनुदान ओं के लिए एक पृथक संयुक्त मांग 1962-63 में प्रस्तुत की गई है।

व्यय का एक बड़ा भाग जो 'Civil Administration' शीर्ष के अंतर्गत अंकित किया जाता है, नागरिक प्रशासन पर ही व्यय नहीं किया जाता बल्कि, उसमें सामाजिक तथा विकास सेवाओं का भी प्रतिनिधित्व होता है। इस कारण इन दो प्रवर्गों के मध्य स्पष्ट विभाजन रेखा खींचने के लिए नागरिक प्रशासन दो प्रथम शाखा- प्रशासकीय

सेवाएं, तथा सामाजिक एवं विकास संबंधित सेवाओं में विभक्त कर दिया गया है। सामुदायिक विकास परियोजनाओं, राष्ट्रीय प्रचार सेवा तथा स्थानीय विकास कार्य पर व्यय, जो अब तक 'Extraordinary items' शाखा के अंतर्गत अंकित किए जाते थे, अब नई शाखा- 'Social and Development Services' के अंतर्गत स्थानांतरित कर दिए गए हैं।

श्रम तथा रोजगार संबंधी संपूर्ण व्यय 1962-63 के पश्चात एक पृथक नवीन मुख्य तीर्थ '47-Labour and Employment के अंतर्गत अंकित किया जाता है। अब तक यह व्यय '47-Miscellaneous Departments' तथा '57-Miscellaneous' खाते में अंकित किया जाता था।

7.5 बजट प्रक्रिया

यह उल्लेखनीय है कि संपूर्ण देश के लिए एक ही बजट नहीं होता। संघीय संविधान होने के कारण राज्यों के अपने प्रथक प्रथक बजट भी होते हैं। वित्त मंत्रालय, जो सरकार के वित्तीय मामलों की देखभाल करता है, बजट की रचना के लिए प्रधान रूप से उत्तरदाई होता है। वित्त मंत्री राष्ट्र के कोश का संरक्षक होता है। उसका यह सर्वोपरि कर्तव्य होता है कि वह राष्ट्रीय वित्त का उपयोग समझदारी तथा कुशलता से करें। वित्त मंत्रालय राज्य के लिए आवश्यक राजस्व एकत्र करने के लिए उत्तरदाई होता है; और धनराशि निश्चित करने तथा एक सीमा तक व्ययों का स्वरूप निश्चित करने में प्रमुख भूमिका निभाता है। संघीय सरकार के वित्तीय नियमों के अंतर्गत वित्त मंत्रालय को वित्तीय अधिकार प्रदान किए गए हैं। इस व्यवस्था के संबंध में भारतीय संविधान के अनुच्छेद- 77(3) में उल्लेख है। यह अनुच्छेद संघ के राष्ट्रपति को संघीय सरकार के संचालन संबंधी नियम बनाने का अधिकार प्रदान करता है। वित्त मंत्रालय वार्षिक वित्तीय विवरण(बजट) तैयार करने, संसद में उसका मार्गदर्शन करने, विभिन्न विभागों द्वारा इसके क्रियान्वयन के निरीक्षण, राजस्व एकत्र करने, प्रशासकीय विभागों को वित्तीय मंत्रणा देने तथा वित्तीय नियंत्रण के लिए उत्तरदाई होता है। इन अधिकारों का उपयोग वित्त मंत्रालय ने सदैव नहीं किया। अन्य मंत्रालयों तथा विभागों पर इसका नियंत्रण धीरे-धीरे ही बड़ा है। प्रारंभ में गवर्नर जनरल की परिषद के अन्य सदस्यों ने विभागीय स्वायत्तता तथा प्रतिष्ठा के नाम पर इसका विरोध किया था। सरकार पर क्रमशः लोक नियंत्रण बढ़ने और शासन के संसदीय स्वरूप के विकास में वित्त मंत्रालय की स्थिति को शक्तिशाली बना दिया है। 1919 के मोंटफ़ोर्ड सुधारों (Montford Reforms of 1919) ने वित्त विभाग तथा अन्य विभागों पर वित्तीय मामलों के नियंत्रण की व्यवस्था की थी। विधानमंडल की लोक सेवा समिति की रचना तथा विभागों के लेखकों की लेखा परीक्षा और परिनिरीक्षण करने के लिए लेखा नियंत्रक एवं महालेखा परीक्षक की नियुक्ति के फल स्वरुप वित्त विभाग या वित्त मंत्रालय की प्रतिष्ठा तथा शक्ति में बहुत वृद्धि हुई है।

भारत में प्रत्येक आगामी वित्तीय वर्ष के लिए (वित्तीय वर्ष 1 अप्रैल को आरंभ और 31 मार्च को समाप्त होता है) बजट अनुमान की तैयारी में शासन के चार विभिन्न अंग- वित्त मंत्रालय, प्रशासन मंत्रालय, योजना विभाग(नीति आयोग) और लेखा- नियंत्रक तथा महालेखा परीक्षक कार्य करते हैं। सामान्यतः बजट प्रक्रिया के तीन भाग माने जाते हैं- प्रथम, बजट का निर्माण; वित्तीय, बजट की स्वीकृति या संसद में अनुमोदन तथा तृतीय, बजट का क्रियान्वयन। इन तीनों भागों में भी कुछ उपकरण सम्मिलित होते हैं। भारत में बजट व्यवस्था के संबंध में बजट की संपूर्ण प्रक्रिया को हम इन तीन चरणों में विस्तृत रूप में जानने का प्रयास करेंगे।

7.5.1 बजट का निर्माण

बजट की रचना का सारा उत्तरदायित्व वित्त मंत्रालय पर होता है, परंतु प्रशासकीय आवश्यकताओं का व्यापक ज्ञान संबंधित प्रशासकीय मंत्रालयों को ही होता है। बजट योजना की प्राथमिकताओं को स्पष्ट करने के लिए वित्त मंत्रालय को योजना से संबंधित आयोग से निरंतर निकट संपर्क बनाए रखना पड़ता है। इसमें लेखा नियंत्रक तथा

महालेखा परीक्षक का भी महत्वपूर्ण योगदान रहता है। वही अनुमानों को तैयार करने में आवश्यक लेखन संबंधी सूचनाएं उपलब्ध कराता है।

भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया बहुत विस्तृत तथा गहन है, जिसमें सरकार के प्रत्येक कार्यालय का भी अपना एक विशेष योगदान होता। बजट निर्माण की पूरी प्रक्रिया के तीन चरण होते हैं- बजट के अनुमान तैयार करना, बजट अनुमानों को एकीकृत करना, मंत्री परिषद द्वारा स्वीकृति।

7.5.1.1 बजट के अनुमान तैयार करना

जैसा कि आपको अब तक की विवरण से स्पष्ट रूप से ज्ञात हो चुका होगा कि भारत में वित्तीय वर्ष का प्रारंभ 1 अप्रैल से होता है। भारत में वित्तीय वर्ष की शुरुआत के लगभग 7-8 माह पूर्व ही बजट अनुमानों की तैयारी का कार्य प्रारंभ हो जाता है। इस कार्य का श्रीगणेश वित्त मंत्रालय के द्वारा किया जाता है। वित्त मंत्रालय सभी मंत्रालयों तथा विभागों को आगामी वर्ष का बजट तैयार करने हेतु एक प्रपत्र भेजता है। नियम यह होता है कि प्रत्येक विभाग जो भी धन व्यय करता है उसे ही अपनी आवश्यकता अनुसार आगामी वर्ष के अनुमान भी तैयार करने चाहिए। 'प्रपत्र के ढांचे' वित्त मंत्रालय के द्वारा प्रदान किए जाते हैं, जिसमें अनुमान तथा अन्य आवश्यक सूचना संबंधित विभागों को भरनी पड़ती है। इस कार्य हेतु मंत्रालय के कार्यकारी विभागों के विभागाध्यक्ष अपने अधीनस्थ कार्यालयों के कार्यालय अध्यक्षों के पास सितंबर माह में बजट के अनुमान तैयार करने हेतु इस निर्धारित प्रपत्र को विश्व आते हैं। प्रत्येक कार्यालय की लेखा शाखा बजट मैनुअल में दिए गए नियमों के अनुसार अपनी अपनी इकाई के आय-व्यय आंकड़े एकत्र कर प्रपत्र में प्रस्तुत करती है। यह प्रपत्र मुख्यतः योजना तथा गैर-योजना मदों के लिए प्रथक प्रथक रूप से तैयार किए जाते हैं। इन परिपत्रों में लेखा शीर्षक, कार्मिकों के नाम, पद, वित्त, वेतन वृद्धि, संभावित आगामी व्यय, अन्य भत्तों तथा कार्यालयी व्यय आदि का वर्णन होता है। दूसरे प्रकार के प्रपत्र में कोषागार, मासिक राजस्व या नकद प्राप्ति का विवरण तथा साथ ही आय के मुख्य अनुमानों का वर्णन भी होता है। इसके पश्चात धन व्यय करने वाले अधिकारी अपने द्वारा तैयार किए हुए अनुमानों को विभाग के प्रधान के पास भेजते हैं। विभागाध्यक्ष अपनी सभी कार्यों या कार्यालयों के बजट अनुमानों को सामूहिक रूप से संकलित करते हैं और फिर अपने प्रशासनिक मंत्रालयों को प्रस्तुत करते हैं। इसके बाद इन अनुमानों को वित्त मंत्रालय के पास भेजा जाता है। विभागाध्यक्ष इन आंकड़ों को अग्र लिखित प्रारूपों में प्रस्तुत करते हैं- विनियोग के शीर्षक तथा उप-शीर्षक, गत वर्ष की वास्तविक आय तथा व्यय,वर्तमान वर्ष के स्वीकृत अनुमान, वर्तमान वर्ष के संशोधित अनुमान, आगामी वर्ष के बजट अनुमान तथा घटत-बढ़त का विवरण।

इस प्रकार प्रत्येक बजट में गत वर्ष, चालू वर्ष तथा आगामी वर्ष के आय तथा व्यय एवं लेन-देन का संपूर्ण विवरण प्रस्तुत किया जाता है।

7.5.1.2 बजट अनुमानों को एकीकृत करना

सभी प्रशासनिक विभागों द्वारा भेजे गए अनुमानों को प्राप्त करने के उपरांत वित्त मंत्रालय इन अनुमानों का सूक्ष्मता से परीक्षण करता है। इस संबंध में महालेखाकार कार्यालय से भी सहायता प्राप्त की जाती है। नवंबर माह में वित्त मंत्रालय प्रत्येक विभाग के अनुमानों के परीक्षण के समय मुख्यतः मितव्ययता, सरकार की नीति, नियमों तथा कार्य कुशलता आदि बातों को ध्यान में रखता है। इस उपकरण के अंतर्गत वित्त मंत्रालय द्वारा सभी विभागों के बजट अनुमानों को सामान्य तहत तीन भागों में विभक्त कर दिया जाता है-

1. **स्थाई प्रभार (व्यय)-** इस भाग के अंतर्गत संस्थान के वे सारे व्यय सम्मिलित किए जाते हैं जो स्थाई होते हैं, जैसे- वेतन, भत्ते, कार्यालय व्यय तथा संस्थापना इत्यादि। यह सभी ऐसे भी होते हैं जिनको विभाग के द्वारा स्थाई रूप से व्यय किया जाना होता है। संपूर्ण बजट का लगभग आधा हिस्सा सरकारी तंत्र के

रखरखाव तथा वेतन भत्तों पर ही होता है। सरकार के स्थाई व्यय को गैर-आयोजना व्यय कहा जाता है। इस गैर-आयोजना व्यय को दो भागों में बांटा जा सकता है- राजस्व व्यय तथा पूंजी व्यय।

राजस्व व्यय के अंतर्गत ब्याज का भुगतान, प्रतिरक्षा, राजस्व व्यय, बड़ी सब्सिडीयां, किसानों को ऋण राहत, डाक घटा, पुलिस पेंशन और अन्य सामान्य सेवाएं, सामाजिक सेवाएं, आर्थिक सेवाएं, राज राज्यों और संघ प्रदेश और विदेशी सरकारों को अनुदान देना भी शामिल है।

पूंजी व्यय में प्रतिरक्षा पूंजी व्यय, सार्वजनिक उद्यमों को ऋण, राज्यों, संघीय प्रदेशों और विदेशी सरकारों को ऋण आदि सभी सम्मिलित है।

2. **प्रवर्तित कार्यक्रम या योजनाएं-** इस भाग के अंतर्गत निरंतर वर्ष-दर-वर्ष चलने वाली योजनाओं का व्यय सम्मिलित होता है। वित्त मंत्रालय का व्यय विभाग प्रचलित योजनाओं की प्रगति, कुशलता तथा उपादेयता का समय समय पर मूल्यांकन करता है साथ ही यह भी देखता है कि निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति हो रही है अथवा नहीं।
3. **नए कार्यक्रम-** इस भाग में विभागों या सरकार के द्वारा प्रस्तावित नए कार्यक्रमों के अनुमानित व्यय का आंकलन किया जाता है। वित्त मंत्रालय का आर्थिक मामलों का विभाग, योजना से संबंधित आयोग तथा अन्य विशेषज्ञ अभी कारणों से परामर्श लेता है। ऐसा इसलिए होता है, क्योंकि नए कार्यक्रम या प्रस्ताव बजट या व्यय के बोझ को बढ़ाते हैं। अतः यह आवश्यक हो जाता है कि नए कार्यक्रमों से संबंधित खर्चों के अनुमानों का सूक्ष्म से सूक्ष्म परीक्षण किया जाए। इस क्रम में वित्त मंत्रालय संबंधित प्रशासनिक विभाग से अनेक प्रकार के प्रश्न पूछता है। इन प्रश्नों के माध्यम से वित्त मंत्रालय यह जानने का प्रयास करता है कि क्या प्रस्तावित वह वास्तव में आवश्यक है? इस प्रकार के खर्चों के संबंध में अन्यत्र कोई व्यवस्था है या नहीं? इस व्यय के परिणाम स्वरूप किस-किस को धन का अभाव तुरंत अनुभव होगा? आदि।

व्यावहारिक तौर पर नए कार्यक्रम या योजना व्यय मुख्यतः निर्माण कार्य, कार्यों मशीनों तथा उपकरणों की खरीद, तथा कार्मिकों की संख्या में वृद्धि से संबंधित ही होते हैं। अतः वित्त मंत्रालय स्थाई प्रभार के बजाय इन नए प्रस्तावित व्यय पर अधिक छानबीन करना आवश्यक समझता है।

सभी विभागों के व्यय अनुमानों को एकीकृत करने के पश्चात वित्त मंत्रालय आय के स्त्रोतों या राजस्व प्राप्ति के संबंध में भी अपना मंथन प्रारंभ कर देता है। नए करों का प्रस्ताव तथा प्रचलित करों में वृद्धि या कमी इत्यादि का निर्णय मुख्यमंत्री परिषद के द्वारा ही किया जाता है। इसका विस्तृत ब्यौरा वित्त मंत्रालय तैयार करता है। वित्त मंत्री बजट को अंतिम रूप देने से पहले औद्योगिक, व्यापारिक तथा अन्य वित्तीय संगठनों से भी विचार-विमर्श करता है। बजट निर्माण की प्रक्रिया प्रधानमंत्री की अध्यक्षता में बने एक शीर्ष समूह के द्वारा नियंत्रित की जाती है। इस समूह में वित्त मंत्री, योजना से संबंधित आयोग के उपाध्यक्ष, वित्त मंत्रालय के अधिकारी तथा आर्थिक क्षेत्र के अनेक विशेषज्ञ भी सम्मिलित होते हैं। यह समूह वित्त मंत्रालय के सलाहकारों तथा सचिवों से निरंतर संपर्क बनाए रखता है। वित्त मंत्रालय का व्यय विभाग तथा आर्थिक कार्य विभाग बजट के प्रस्तावों एवं योजनाओं पर सुझाव देते हैं जबकि दूसरी तरफ वित्त मंत्रालय की कर अनुसंधान इकाई राजस्व एकत्र के सुझाव देती है। बजट निर्माण के सारे कार्य एक संयुक्त सचिव के द्वारा समन्वित किए जाते हैं।

7.5.1.3 मंत्री परिषद द्वारा स्वीकृति

वित्त मंत्रालय द्वारा तैयार बजट अनुमानों के प्रत्येक भाग एवं मद पर मंत्रिपरिषद में विस्तृत चर्चा होती है। वित्त मंत्री प्रत्येक बिंदु पर अपनी टिप्पणी रखता है। सत्तारूढ़ राजनीतिक दल अपनी नीतियों, कार्यक्रमों, पंचवर्षीय योजना तथा जनसमस्याओं के अनुरूप बजट के आय-व्यय अनुमानों तथा नए कार्यक्रमों को वर्णित करता है। संसद में बजट प्रस्तुत करने से पूर्व उसे दो विवरण पत्रों में प्रस्तुत किया जाता है- वार्षिक वित्तीय पत्र तथा अनुदानों की मांगे।

7.5.2 बजट का संसद में अनुमोदन या स्वीकृति

यह संसदीय परंपरा का मूल सिद्धांत है कि संसद के पूर्व अनुमोदन के बिना कोई कर नहीं लगाया जा सकता है और न ही कोई व्यय किया जा सकता है। बजट या 'वार्षिक वित्तीय विवरण' का संसद द्वारा पारित किया जाना बजट प्रक्रिया का एक महत्वपूर्ण भाग होता है। सरकारी कार्यालयों, विभागों, वित्त मंत्रालय तथा मंत्री परिषद के हाथों से होता हुआ बजट विधानमंडल या व्यवस्थापिका में बहस एवं स्वीकृति हेतु प्रस्तुत किया जाता है।भारत में वर्तमान बजट पद्धति की शुरुआत प्रथम वाइसराय लॉर्ड कैनिंग के शासनकाल में हुई थी। उस समय जेम्स विलसन वित्त विशेषज्ञ हुआ करते थे। जेम्स विल्सन ने ही 18 फरवरी 1860 को वाइसराय अर्थात गवर्नर जनरल की परिषद में सबसे पहली बार बजट प्रस्तुत किया था। उस समय बजट पर बहस का प्रचलन नहीं था। यह सुविधा सन 1892 से मिली तथा सन 1935 से बजट पर मतदान होना प्रारंभ हुआ। सन् 1860 से ही भारत में अप्रैल से मार्च की बजट वर्ष या वित्तीय वर्ष प्रणाली का प्रारंभ हुआ। अधिकतर राष्ट्रमंडल देशों में बजट की यही अवधि प्रचलित है। भारत में सन 1921 से रेल बजट पृथक से प्रस्तुत होना प्रारंभ हुआ जबकि आम या सामान ने बजट सभी विभागों का सामूहिक राष्ट्रीय बजट होता है।

दोनों बजटों की प्रक्रियाएं समान होती है। और इसी प्रकार राज्य सरकारें अपना बजट पृथक से विधानसभाओं में प्रस्तुत करती हैं। बजट पारित करने संबंधी संसदीय अधिकारों का उल्लेख संविधान के अनुच्छेद-112 से लेकर अनुच्छेद-117 में किया गया है।

संसद में बजट प्रस्तुतीकरण एवं उसके अनुमोदन की सात अवस्थाएं या उप-चरण होते हैं- बजट का विधान मंडल के समक्ष प्रस्तुतीकरण, बजट पर सामान्य चर्चा, अनुदान की मांगों पर मतदान, मतदान, लेखानुदान, विनियोग विधेयक तथा वित्त विधेयक।

7.5.2.1 बजट का विधान मंडल के समक्ष प्रस्तुतीकरण

स्वतंत्रता के पश्चात भारत का प्रथम आम बजट 26 नवम्बर 1947 को प्रस्तुत किया गया था। इसे प्रस्तुत करने का श्रेय उस समय के वित्त मंत्री आर के षणमुखम शेट्टी को जाता है। भारत गणराज्य का प्रथम आम बजट (1959-51) जॉन मथाई ने प्रस्तुत किया था। इसी बजट में योजना आयोग के गठन का प्रस्ताव भी किया गया था।

सामान्य तौर पर केंद्र सरकार का आम बजट फरवरी माह के अंतिम दिन वित्त मंत्री द्वारा लोक सभा में प्रस्तुत किया जाता है। सन् 1999 तक आम बजट शाम के समय है संसद में प्रस्तुत करने की परंपरा रही थी। परंपरा से हटकर पहली बार 27 फरवरी1999 को वित्त मंत्री यशवंत सिन्हा ने दोपहर 11 बजे बजट प्रस्तुत किया था। इस बात का पूर्व वित्त मंत्री प्रोफेसर मधु दंडवते सहित कई लोगों ने विरोध किया था। उनका ऐसा मानना था कि चौकी बजट के कुछ प्रावधान उसी रात लागू हो जाते हैं अतः व्यापारियों को गड़बड़ करने का अब अधिक समय मिल सकेगा।

बजट प्रस्तुति के समय वित्त मंत्री अपना एक भाषण भी देता है। लोक सभा में बजट भाषण समाप्त हो जाने पर बजट को राज्य सभा के समक्ष रखा जाता है। संसद में बजट पेश हो जाने के बाद संसद लेखानुदान, अनुदानों की अतिरिक्त माँगें स्वीकार करती है। लेखानुदान की अवधि नए वित्त वर्षों के दो या अधिक महीने होती है। वित्त मंत्री संसद में बजट प्रस्तुत करने के साथ साथ निम्नलिखित पाँच प्रलेख भी प्रस्तुत करता है-1. बजट प्रलेखों की कुंजी, 2. बजट संक्षेप, 3. प्राप्ति बजट, 4. व्यय बजट (खंड- II) तथा 5. वित्त विधेयक की प्रक्रियाएं समझाने वाला ज्ञापन।

बजट प्रस्तुत होते ही उस पर तुरंत चर्चा शुरू नहीं होती है। यह अवसर कुछ दिन बाद आता है, जब बजट पर सामान ने बहस होती है।

7.5.2.2 बजट पर सामान्य चर्चा

बजट प्रस्तुत होने के एक दो दिन पश्चात दोनों सदनों में बजट के प्रावधानों, नीतियों तथा पूर्व के व्ययों पर सामान्य चर्चा होती है, लेकिन इस समय कोई भी प्रस्ताव नहीं लाया जा सकता है और न ही कोई मतदान हो सकता है। बजट पर चर्चा में प्राय दो-तीन दिन से एक सप्ताह तक का समय लग जाता है और अंत में वित्त मंत्री एक संक्षिप्त उत्तर भी देता है।

7.5.2.3 अनुदान माँगो पर मतदान

अगले चरण में एक एक विभाग की माँगों पर चर्चा तथा मतदान होता है। सभा का अध्यक्ष सदन के नेता से विचार विमर्श करके एक अवधि निश्चित करता है जिसमें अनुदान माँगो पर विचार विमर्श पूर्ण हो जाना चाहिए। यह अवधि सामान्यतया 26 दिन रहती है। प्रत्येक विभाग की अनुदान माँगें क्रमशः एक प्रस्ताव के रूप में लोक सभा के सम्मुख प्रस्तुत की जाती है। लोक सभा ब्यौरेवार प्रत्येक वेब पर चर्चा करती है तथा विपक्षी सदस्य इस समय बजट की तीखी आलोचना करते हैं। समय प्रतीकात्मक रूप से तीन प्रकार के कटौती प्रस्ताव आ सकते हैं-

1. **नीति संबंधी कटौती प्रस्ताव-** जब भी किसी अनुदान माँग के पीछे निहित सरकारी नीति को अस्वीकृत कराने की अनुशंसा के उद्देश्य से यह माँग की जाती है तो यह नीति संबंधी कटौती प्रस्ताव कहलाता है। इस प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य सरकार की नीति की आलोचना करना होता है। इसमें माँग की धनराशि एक रुपया घटाने का प्रस्ताव होता है तथा नीति संबंधी मुद्दों की समीक्षात्मक आलोचना करते हुए वैकल्पिक नीति की प्रतिस्थापना करने का प्रयास किया जाता है।
2. **मितव्ययता संबंधी कटौती प्रस्ताव-** सरकारी व यह में संभावित अपव्यय याद धन के दुरुपयोग की ओर सदन का ध्यान आकर्षित करने के लिए यह माँग की जाती है कि अनुदान माँग में विशिष्ट धन राशि कम कर देनी चाहिए। यह प्रस्ताव किसी माँग, विशेष मद में कमी, उसकी पूर्ण समाप्ति यह सम्पूर्ण अनुदान में से एक मुश्त धन राशि कम करने के लिए प्रस्तुत किए जाते हैं। वाद विवाद के समय केवल विचारनीय मुद्दे पर ही विचार रखने की अनुमति मिलती है।
3. **प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव-** सरकार का ध्यान किसी विशेष समस्या की ओर आकर्षित करने के लिए संबंधित अनुदान माँग में से सौ रुपया की कटौती का प्रस्ताव रखा जाता है तो ऐसा प्रस्ताव प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव कहलाता है।

भारत में आम तौर पर प्रतीकात्मक कटौती प्रस्ताव ही आते रहे हैं। संसदीय प्रणाली में बहुमत वाली सरकार अपने प्रस्तावित अनुदान माँगें स्वीकृत करा लेती है अत: कटौती प्रस्ताव कुछ महत्व नहीं रखते हैं। वस्तुस्थिति यही है कि वित्त मंत्री द्वारा प्रस्तुत बजट लगभग उसी रूप में स्वीकृत हो जाता है।

7.5.2.4 मतदान

अनुदान माँगो पर देर तक बहस या चर्चा हो जाने के बाद एक निर्धारित दिन शाम को पाँच बजे मतदान का कार्य प्रारंभ हो जाता है। इस प्रक्रिया में सभी विभागों की अनुदान माँगें गुजरती है, किन्तु पूरी बहस के लिए निर्धारित अंतिम दिन शेष बची सभी मार्गों पर मतदान हो जाता है चाहे उस विभाग की अनुदान माँगों पर बहस ना हुई हो। इसे गिलोटिन (Guillotine) या मुखबंद (बिना बहस) पारित प्रक्रिया कहा जाता है। भारत में प्रतिवर्ष अधिकांश अनुदान माँगें केवल मुख्य बंद पारित होती है।

इस समस्या से मुक्ति पाने हेतु भारत में 8 अप्रैल 1993 नई समिति व्यवस्था शुरू की गई जिसमें 17 विभागीय स्थायी समितियां बनायी गई हैं। सन 2004 से इन समितियों की संख्या बढ़ाकर चौबीस कर दी गई है। वर्तमान में प्रत्येक समिति में 21 सदस्य लोक सभा तथा 10 सदस्य राज्य सभा से लिए जाते हैं। ये सभी सदस्य एक वर्ष के लिए मनोनीत किए जाते हैं। 16 समितियों के अध्यक्ष लोक सभा से तथा आठ के राज्य सभा से लिए जाते हैं। इन

समितियों का मुख्य कार्य मंत्रालयों या विभागों की अनुदान माँगो पर विचार करना तथा सदनों को उन पर प्रतिवेदन देना होता है।

7.5.2.5 लेखानुदान

संविधान के अनुच्छेद-116 (1) के अंतर्गत यह प्रावधान है कि, संसद बजट-प्रक्रिया के पूरा होने से पहले ही वित्तीय वर्ष के प्रथम दो माह के लिए कार्यपालिका को अग्रिम अनुदान स्वीकृत करके व्यय करने की अनुमति प्रदान कर सकती है । इसे ही लेखानुदान कहा जाता है। यह लेखानुदान लोक सभा द्वारा अनुमानित बजट के छठे भाग के बराबर स्वीकृत किया जाता है, क्योंकि विनियोग विधेयक तथा वित्त विधेयक की स्वीकृति में समय लगता है। अतः लेखानुदान पारित होने पर बजट स्वीकृति 1 अप्रैल के पश्चात भी हो सकती है। लेखानुदान भी विनियोग विधेयक के रूप में पारित होता है। सामान्यतः लेखानुदान तथा अंतरिम बजट एक जैसे प्रतीत होते हैं किंतु, इनमें थोड़ा सा अंतर है। वस्तुतः अंतरिम बजट थोड़ा सा विस्तारित एवं अधिक प्रावधानों से युक्त होता है। लोक सभा को यह शक्ति भी प्राप्त है कि वह किसी सेवा पर चालू वर्ष में स्वीकृत राशि अपर्याप्त रहने पर अनुपूरक अनुदान (Supplementary Grant) भी स्वीकृत कर सकती है, जो विनियोग विधेयक की भाँति ही पारित होता है। प्रत्येक वित्तीय वर्ष की शुरुआत पर प्रस्तुत होने वाले बजट में पूर्ववर्ती वर्ष की अनुपूरक अनुमान माँगें भी प्रस्तुत होती हैं। युद्ध जैसी विषम परिस्थितियों में बिना व्यय अनुमान तैयार किए ही अग्रिम अनुदान (Vote on Credit) स्वीकृत किया जा सकता है। युद्ध जैसी विशेष परिस्थितियों में आकस्मिक निधि से राष्ट्रपति स्पेशल ग्रांट भी स्वीकृत कर सकते हैं। यह सभी अनुदान अंततः संसद द्वारा स्वीकृत होकर नियमित किए जाते हैं।

7.5.2.6 विनियोग विधेयक

संविधान के अनुच्छेद-110 (1) के अनुसार- "भारत की संचित निधि से कोई भी धनराशि बिना विधि द्वारा विनियोजन को नहीं निकाली जा सकती है।" अतः सभी अनुदान माँगो पर मतदान हो जाने के पश्चात संपूर्ण व्यय अनुमानों को विनियोग विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। लोक सभा में स्वीकृत होने पर 'धन विधेयक' के रूप में राज्यसभा को भेजा जाता है। स्पष्ट है कि राज्यसभा इसमें संशोधन या अस्वीकृति नहीं कर सकती है। अतः राज्यसभा की स्वीकृति के पश्चात विनियोग विधेयक राष्ट्रपति के पास स्वीकृति हेतु भेजा जाता है जो स्वीकृति के पश्चात अधिनियम का रूप धारण कर लेता है तथा कार्यपालिका को संचित निधि में से धन निकालने का अधिकार प्राप्त हो जाता है हो जाता है।

7.5.2.7 वित्त विधेयक

संविधान के अनुच्छेद-265 के अनुसार- "बिना क़ानूनी अधिकार के ना तो कोई कर लगाया जा सकता है और न ही वसूला जा सकता है। अतः व्यय करने के लिए आवश्यक धन राशि नये कर लगाकर या पुराने करों की दरों में वृद्धि करके जुटायी जाती है। कुछ कर स्थाई प्रकृति के होते हैं जबकि कुछ कर अस्थाई प्रकृति के होते हैं। करों को बढ़ाने तथा नए कर लगाने संबंधी प्रस्ताव राष्ट्रपति के पूर्व अनुमति के बिना सदन में प्रस्तुत नहीं किए जा सकते हैं। करों से संबंधित प्रस्ताव ही 'वित्त विधेयक' कहलाता है जो लोक सभा में प्रस्तुत होता है। जहाँ विनियोग विधेयक में बहस के दौरान कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकता है, वहीं वित्त विधेयक में बहस के समय कर घटाने के कटौती प्रस्ताव कई बार सरकार द्वारा स्वीकार कर लिए जाते हैं। लोक सभा में विचार विमर्श करने के पश्चात वित्त विधेयक को प्रवर समिति (Select Committe) को सौंपा जाता है, जिसकी समीक्षात्मक टिप्पणियाँ बहस का विषय बनती है।

अंतत: लोक सभा से स्वीकृत होकर वित्त विधेयक, राज्यसभा को भेजा जाता है जो 14 दिन के भीतर इसे पुन: लौटाने के लिए बाध्य होती है। राष्ट्रपति की स्वीकृति के पश्चात यह अधिनियम का रूप ले लेता है तथा सरकार को

राजस्व वसूलने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। संसद में प्रस्तुति के बाद वित्त विधेयक को 75 दिन में स्वीकृति मिलना अनिवार्य है। ऐसा 'Provisional Collection of Taxes Act, 1931' के अंतर्गत वर्णित है।

7.5.3 बजट का क्रियान्वयन

सांसद द्वारा बजट पारित होने के पश्चात सरकार को राजकोट से धान व्यय करने का अधिकार प्राप्त हो जाता है। यह अधिकार कई प्रकार के दिशा निर्देशों के अधीन रहता है। कार्यपालिका के लिए बजट अनुमानों के अनुसार आय-व्यय करना आवश्यक है और पूरी प्रक्रिया को निम्न बिन्दुओं में दर्शाया जा सकता है- वित्तीय साधनों का एकत्रीकरण, एकत्रित कोषों का संरक्षण तथा वितरण तथा लेखा संधारण।

7.5.3.1 वित्तीय साधनों का एकत्रीकरण

किसी भी संगठन में व्यय करने से पूर्व आय का होना प्राथमिक आवश्यकता होती है। अतः वित्त अधिनियम के अंतर्गत वित्त मंत्रालय तथा अन्य संबद्ध कार्यकारी संगठन विभिन्न करों, शुल्कों, ऋणों के माध्यम से राजस्व एकत्र करना शुरू करते हैं। वित्त मंत्रालय का राजस्व विभाग तथा उसके अन्य अभिकरण जैसे- केंद्रीय प्रत्यक्ष कर बोर्ड तथा केंद्रीय सीमा शुल्क एवं उत्पाद शुल्क बोर्ड इत्यादि प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष करों को एकत्र करवाने हेतु निर्देश एवं नियम प्रतिपादित करते हैं।

7.5.3.2 एकत्रित कोषों का संरक्षण तथा वितरण

सरकार के नाम से या सरकारी नियमों के अंतर्गत एकत्रित समस्त शुल्क, कर तथा अन्य प्राप्तियों राजकोष में जमा होती है। भारत में ब्रिटिश काल से ही राजकोष के माध्यम से ही सरकारी धन का लेन देन होता रहा है। देश भर में स्थापित विभिन्न राजकोष तथा उप राजकोष जिला एवं तहसील स्तर पर स्थापित होते हैं जो स्टेट बैंक ऑफ़ इंडिया तथा उसके सहायक बैंकों के माध्यम से समस्त वित्तीय लेन देन करते हैं। राजकोष की व्यवस्था संचालन में रिज़र्व बैंक ऑफ़ इंडिया भी सहायता प्रदान करता है। राजकोष के तीन प्रमुख उत्तरदायित्व होते हैं- वित्तीय साधनों के गठन या अनियमितता पर नियंत्रण रखना, वित्तीय लेन देन को सुविधाजनक तथा त्वरित रूप से संचालित करना एवं सरकारी आय-व्यय के लेखे नियंत्रित करना। राजकोष से धन निकालने के लिए हर कार्यालय में एक या उससे अधिक अधिकृत अधिकारी होते हैं जिन्हें आहरण एवं वितरण अधिकारी (Drawing and Disbursing Officer or DDO) की शक्तियां प्राप्त होती है। विधानमंडल में स्वीकृत बजट अनुमानों की सूचना वित्त मंत्रालय के द्वारा संबंधित विभाग तक तथा विभागाध्यक्षों से कार्यालय अध्यक्षत तक आ जाती है। अतः राजकोष से धन उसी मद से प्राप्त होता है जो नियमानुसार स्वीकृत होता है। राजकोष में प्रतिदिन चालान के माध्यम से धन जमा होता है तथा स्वीकृत बिलों के माध्यम से धन निकाला भी जाता है। इस प्रकार राजकोष आय तथा व्यय के 2 लेखे रखता है, जिन्हें निश्चित अवधि में राज्य के राज्य के महालेखापाल के पास भिजवाया जाता है।

7.5.3.3 लेखा संधारण

प्रत्येक प्रशासनिक कार्यालय का ये उत्तरदायित्व होता है कि वह समस्त वित्तीय लेन देन का पूर्ण हिसाब किताब तथा लेखे रखें। इन लेखों में समस्त औपचारिकताएं पूर्ण की जाती है। उप-राजकोष समस्त लेखे, राजकोष को तथा उसके बाद राजकोष इन्हें राज्य मुख्यालय स्थित महालेखापाल के पास भिजवा देता है, जिससे सम्पूर्ण क्षेत्र के विभागों द्वारा किए जा रहे व्यय पर नियंत्रण रहता है। केंद्र में रेलवे के अतिरिक्त सभी विभागों का एक महालेखापाल होता है। लेखांकन के समस्त नियम भारत के महालेखा परीक्षक द्वारा बनाए जाते हैं।

स्थूल रूप में लेखा संधारण का कार्य प्रथमत: संबंधित कार्यालय, द्वितीय राजकोष तथा इसके बाद महालेखा पाल के कार्यालय में रखा जाता है। लेखा संधारण में व्यस्य शीर्षों को छोटे शीर्ष, उपशीर्ष तथा बड़े शीर्ष में विभक्त किया जाता है। सरकारी आय-व्यय के लेखों का परीक्षण भी किया जाता है।

इस प्रकार 31 मार्च तक यदि स्वीकृत धनराशि कोई विभाग व्यय नहीं कर पाता है तो वह स्वतः ही समाप्त मानी जाती है तथा अगले वर्ष की स्वीकृति विधानमंडल से ही आती है। कभी कभी किसी विभाग में एक ही शीर्ष के अधीन किसी एक मद का धन समाप्त हो जाता है, किन्तु दूसरे मद में धन विद्यमान होता है तो विभागाध्यक्ष को यह शक्ति है कि वह एक सीमा तक मदों का व्यय हस्तांतरित (Transfer) कर पुनर्विनियोजित (Reappropriated) कर सकता है, किन्तु अनुदान शीर्ष में पुनर्विनियोजन केवल विधानमंडल भी कर सकता है। लेकिन भारत में इस प्रकार की स्थिति में बहुत विचित्रता देखने को मिलती है। बजट स्वीकृति की सूचना प्राय: देरी से आती है तथा बजट का अधिकांश हिस्सा फ़रवरी -मार्च माह में व्यय किया जाता है, अन्यथा स्वीकृत राशि समाप्त (Lapse) हो जाती है।

7.6 निष्कर्ष

बजट संबंधी प्रक्रिया को प्रशासन का केंद्र बिंदु माना जाता है। यह एक ऐसा लिखा पत्र होता है जिसके माध्यम से कार्यपालिका व्यवस्थापिका के सम्मुख आती है और विस्तार के साथ अतीत, वर्तमान तथा भविष्य की वित्तीय स्थिति का प्रतिवेदन कर प्रस्तुत करती है। विधानमंडल से बजट को स्वीकृति प्राप्त हो जाने के बाद बजट की क्रियान्वित ही की जाती है।

अभ्यास प्रश्न-

1. रेलवे बजट को सामान्य बजट से कब प्रकट किया गया?
2. भारत में प्रथम आधुनिक बजट कब प्रस्तुत किया गया था?
3. भारतीय संविधान के किस अनुच्छेद- में बजट प्रक्रिया का उल्लेख दिया गया है?
4. भारत में बजट प्रक्रिया कितने चरणों से होकर गुजरती है?
5. भारत में वित्तीय वर्ष की शुरुआत कब से होती है?

7.7 सारांश

प्राचीन भारत में भी बजट की प्रक्रिया अति विकसित की। 1860 में ब्रिटिश साम्राज्य के द्वारा ईस्ट इंडिया कंपनी से शासन अपने हाथ में लेने के साथ ही भारत में आधुनिक बजट व्यवस्था का प्रारंभ हुआ। भारतीय संविधान के अंतर्गत बजट की प्रक्रिया अनुच्छेद-112 से 117 में उल्लेखित प्रक्रिया का पालन करती है। बजट के द्वारा सरकार की समस्त आय तथा व्यय का लेखा जोखा प्रस्तुत किया जाता है। बजट कार्यपालिका के द्वारा ही तैयार भी किया जाता है और प्रस्तुत भी किया जाता है। संसदात्मक लोकतंत्र में बजट विधानमंडल के समक्ष वैधानिक स्वीकृति के लिए प्रस्तुत किया जाता है तथापि बजट क्रियान्वयन का दायित्व पुनः कार्यकारिणी का ही है, किंतु विधानमंडल बजट के क्रियान्वयन के पश्चात भी इस पर नियंत्रण रखता है। कार्यपालिका संचालन स्तरों को प्रत्यायोजित की गई शक्तियों के अनुसार ही धन को खर्च करती है। सरकार के द्वारा किए गए सभी खर्चों का लेखा परीक्षण सांविधिक परीक्षक द्वारा किया जाता है, ताकि यह जाता जा सके कि सार्वजनिक निधि का बजट के अनुसार किया गया है तथा नियमों एवं विनियमों का पालन किया गया है।

7.8 शब्दावली

प्रलेख- किसी विषय की सूचना या प्रामाणिक जानकारी देने वाला लेख।
हस्तान्तरित- संपत्ति या अधिकार जो एक के हाथ से दूसरे के हाथ में गया हो। जिसका हस्तांतरण हुआ है।
लेखानुदान- राजस्व और खर्चों का लेखा जोखा।
अनुदान- आर्थिक सहायता।

अंतरिम बजट- इसके जरिए सरकार को सीमित अवधि के लिए जरूरी खर्च की अनुमति मिलती है।
प्रवर्तित- आरंभ किया गया
मितव्ययता- नियत सीमा के भीतर खर्च करने की प्रक्रिया।

7.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 1921, **2.** 1860, **3.** 112-117 तक, **4.** 3, **5.** 1अप्रैल

7.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कटारिया, सुरेंद्र, 2009. भारतीय लोक प्रशासन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, दिल्ली।
2. शर्मा, प्रभुदत्त, 2007. प्रशासनिक सिद्धांत; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, नई दिल्ली, मुंबई।
3. अवस्थी, अवस्थी,2014. भारत में लोक प्रशासन; लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

7.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. पंत, जे.सी.2005.लोक अर्थशास्त्र; लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

7.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. भारत में बजट निर्माण की प्रक्रिया पर एक टिप्पणी लिखिए।
2. भारत में बजट व्यवस्था की पृष्ठभूमि पर एक टिप्पणी लिखिए।
3. भारत में बजट की संसद में प्रस्तुतीकरण की प्रक्रिया को विस्तार से बताइए।

इकाई- 8 सार्वजनिक/सरकारी व्यय का वर्गीकरण

इकाई की संरचना

8.0 प्रस्तावना
8.1 उद्देश्य
8.2 सर्वजनिक व्यय का अर्थ एवं महत्व
8.3 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण
8.3.1लाभ के आधार पर वर्गीकरण
8.3.2 आय के आधार पर वर्गीकरण
8.3.3 कार्यों के आधार पर वर्गीकरण
8.3.4 महत्व के आधार पर वर्गीकरण
8.3.5 मिल का वर्गीकरण
8.3.6 डाल्टन का वर्गीकरण
8.3.7 प्रोफेसर जे. के. मेहता का वर्गीकरण
8.3.8 रॉशर का वर्गीकरण
8.3.9 पीगू का वर्गीकरण
8.3.10 आर्थिक वर्गीकरण
8.4 निष्कर्ष
8.5 सारांश
8.6 शब्दावली
8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.10 निबन्धात्मक प्रश्न

8.0 प्रस्तावना

सार्वजनिक व्यय, वैयक्तिक व्यय की भांति राज्य की क्रियाओं का आदि और अंत, दोनों ही है। जिन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए सरकार विभिन्न क्रियाएं संपन्न करती है, उन उद्देश्यों का अध्ययन हम राजस्व के इसी विभाग में करते हैं और राज्य के व्यय के परिणामों और आकार से ही हम को यह ज्ञात होता है कि राज्य का क्या स्थान मनुष्य के जीवन में है और राज्य किस सीमा तक नागरिकों के संरक्षक के रूप में कार्य कर रहा है। राजकीय व्यय के आकार में बहुत वृद्धि हुई है। इस वृद्धि के वैसे तो अनेक कारण हैं, परंतु मुख्य कारण यही है कि राज्य की क्रियाओं का क्षेत्र पहले से कई गुना बढ़ गया है। यदि हम आधुनिक राज्यों के व्यय की ओर ध्यान दें और उन आंकड़ों का अध्ययन करें, तो यह ज्ञात होगा कि राज्य के कार्यों में केवल विस्तृत वृद्धि ही नहीं हुई है, बल्कि गहन वृद्धि भी हुई है। विस्तृत वृद्धि (extensive increase) से हमारा अभिप्राय यह है कि राज्यों के कार्यों की संख्या पहले से अधिक हो गई है और कई गुना बढ़ गई है। गहन वृद्धि (intensi veincrease) से हमारा आशय यह है कि पहले जो कार्य राज्य के मौलिक कार्य समझे जाते थे उनमें अब पहले की अपेक्षा अधिक व्यय की आवश्यकता है और पहले की अपेक्षा वे गत वर्षो में बहुत व्ययपूर्ण हो गए हैं। प्रस्तुत अध्ययन में हम सार्वजनिक व्यय के अर्थ को समझते हुए उसके वर्गीकरण पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

8.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सार्वजनिक व्यय के सामान्य अर्थ तथा महत्व को भली-भांति जान पाएंगे।
- सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण के विभिन्न आधार के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।

8.2 सर्वजनिक व्यय का अर्थ एवं महत्व

प्राचीन अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय को महत्व नहीं दिया था। प्रोफेसर रॉबर्ट पील (Robert Peel) ने कहा कि, "धन सरकार की अपेक्षा लोगों के हाथों में अधिक फलदाई सिद्ध हो सकता है।" फलत: लोक वित्त का क्षेत्र काफी संकुचित हो गया था। यह धारणा बहुत लंबे समय तक बनी रहे, परंतु 19वीं शताब्दी के बाद इस दिशा में एक नया मोड़ आया। अब अर्थशास्त्रियों के विचारों में परिवर्तन आना प्रारंभ हो चुका था। राजकीय हस्तक्षेप धीरे-धीरे बढ़ने लगा। समाजवादी विचारधारा, कल्याणकारी राज्यों की स्थापना तथा लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के कारण सरकारी हस्तक्षेप और अधिक व्यापक होने लगा। वैगनर, फ्रेडरिक लिस्ट, कार्ल मार्क्स तथा जे. एम. कीन्स आदि विद्वानों ने व्यक्तिगत विचारधारा की कटु आलोचना करते हुए सरकारी हस्तक्षेप की सराहना की और आज स्थिति यह हो गई है कि सरकारी हस्तक्षेप प्रगतिशील और कल्याणकारी राज्य की निशानी बन चुका है। आज राज्य का प्रवेश आर्थिक क्षेत्र में हो चुका है, परिणाम स्वरूप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होने लगी है।

सरल शब्दों में, सार्वजनिक व्यय, सरकारी अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले व्यय को कहते हैं। यह व्यय उन व्ययों का सूचक होता है जो प्रशासन के द्वारा अपने देश तथा देश के नागरिकों की भलाई के लिए किया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह व्यय देश के नागरिकों की रक्षा करने तथा उनके आर्थिक एवं सामाजिक कल्याण की वृद्धि हेतु किए जाते हैं।

सार्वजनिक व्यय सार्वजनिक वित्त का महत्वपूर्ण भाग ही नहीं है, बल्कि आज यह सार्वजनिक वित्त का केंद्र बिंदु भी बन चुका है। अर्थशास्त्र में जो स्थान उपभोग का है वही स्थान सार्वजनिक वित्त में सार्वजनिक व्यय का माना जाता है। सार्वजनिक आय और ऋणों की प्राप्ति सार्वजनिक व्ययों की पूर्ति के लिए की जाती है। सार्वजनिक व्यय के द्वारा लोक कल्याण के कार्यों की पूर्ति की जा सकती है। लोक कल्याणकारी राज्य से देश के नागरिक यह अपेक्षा करते हैं कि सरकार उन मुद्दों में व्यय करें जिन पर वे स्वयं व्यय करने की सामर्थ्य नहीं रखते हैं। कोई भी व्यक्ति सामूहिक शिक्षा, स्वास्थ्य, आवास, सड़क परिवहन, सुरक्षा आदि पर व्यय नहीं कर सकता है। अतः सार्वजनिक व्यय के द्वारा उन महत्वपूर्ण योजनाओं का संपादन किया जा सकता है। संक्षेप में, हम यह कह सकते हैं कि सार्वजनिक व्यय के द्वारा उन आवश्यकताओं को संतुष्ट किया जा सकता है जो व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट नहीं की जा सकती है।

8.3 सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण

सरल शब्दों में, सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण से हमारा अभिप्राय वैज्ञानिक तथा आर्थिक आधार पर राज्य द्वारा विभिन्न मदों के लिए किए गए व्यय की उस व्यवस्था से है, जिसके द्वारा विभिन्न प्रकार के सार्वजनिक व्ययों की प्रकृति तथा प्रभाव में अंतर किया जा सकता है। समय-समय पर राज्य द्वारा कुछ ऐसे कार्य किए जाते हैं, जिनमें कुछ वयय निहित होता है तथा जब सार्वजनिक व्यय को वर्गीकृत किया जाता है तो राज्य के कार्यों का स्वत: ही वर्गीकरण हो जाता है। सार्वजनिक व्यय की विभिन्न शाखाओं की प्रकृति तथा प्रभाव को स्पष्टतया समझने के लिए ऐसे वर्गीकरण की आवश्यकता है। फिर भी इसे अधिक उपयोगी तथा प्रभावशाली बनाने के लिए इस वर्गीकरण को बहुत अधिक औपचारिक नहीं बनाना चाहिए। इसमें सार्थक तथा व्यावहारिक खर्च को प्रकट किया जाना

चाहिए, ताकि विभिन्न व्ययों के प्रभावों और भार को समझा जा सके। इसके अतिरिक्त प्रत्येक मद पर किए गए व्यय के साक्षेप महत्व पर भी प्रकाश डाला जाना चाहिए।

वर्गीकरण विभिन्न मदों को क्रमबद्ध कर व्यवस्थित करना है। लोक व्यय के वर्गीकरण के द्वारा इस व्य के विभिन्न मदों को वैज्ञानिक एवं आर्थिक आधारों पर क्रमबद्ध किया जाता है। इससे विभिन्न प्रकार के लोक व्यय के प्रभावों का विश्लेषण करना संभव होता है। भिन्न-भिन्न लेखकों ने भिन्न-भिन्न आधारों पर लोक व्यय का वर्गीकरण किया है। कुछ महत्वपूर्ण वर्गीकरण को प्रस्तुत किया जा रहा है जिनका विस्तार से इन सभी वर्गीकरण की व्याख्या करके समझने का प्रयास करते हैं-

8.3.1 लाभ के आधार पर वर्गीकरण

19वीं शताब्दी में जर्मन अर्थशास्त्री काहन तथा अमेरिकी अर्थशास्त्री प्लेहन ने इस वर्गीकरण को दिया था। लाभ को ध्यान में रखते हुए उन्होंने सार्वजनिक व्यय को चार भागों में बांटा है-

1. समाज पर किया जाने वाला व्यय- जिसका लाभ सामान्य के संपूर्ण समाज को मिलता है। इस वर्ग में सुरक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, यातायात आदि पर किया गया व्यय सम्मिलित किया जा सकता है।
2. वर्ग विशेष पर किया जाने वाला व्यय- इस श्रेणी में उस व्यय को सम्मिलित किया गया है जो किसी वर्ग विशेष की आवश्यकता तथा समस्याओं पर किया जाता है। अल्पकाल में सरकार को ऐसे व्यय का विशेष लाभ तो नहीं मिल पाता है, परंतु दीर्घकाल में जिस वर्ग पर यह व्यय किया जाता है उसकी स्थिति अच्छी हो जाती है। इस प्रकार के व्यय के अंतर्गत बीमारी- बीमा, बेरोजगारी भत्ता, वृद्धावस्था पेंशन तथा अपाहिजों एवं विकलांगों को दी जाने वाली सुविधाएं आती है।
3. व्यक्ति विशेष तथा समाज पर किया जाने वाला व्यय- इस श्रेणी में उस व्यय को रखा गया है जो व्यक्ति विशेष को लाभ पहुंचाने के साथ समाज को भी लाभ पहुंचाता है; जैसे- पुलिस व न्यायालयों के प्रबंध पर किया जाने वाला व्यय।
4. संस्था विशेष पर किया जाने वाला व्यय- इस श्रेणी में उन व्ययों को शामिल किया जाता है जो व्यय ख़ास संस्थानों को ही लाभ पहुंचा सकते हैं; जैसे- सार्वजनिक उद्योगों पर किया जाने वाला व्यय।

यद्यपि यह वर्गीकरण सामान्य जनता के पक्ष में माना जा सकता है, परंतु इस सार्वजनिक व्यय को इन विभिन्न मदों से बांटना कठिन है। इसमें संदेह नहीं है कि यह वर्गीकरण अच्छा है, क्योंकि यह उन लाभों से संबंधित है जो सार्वजनिक व्यय के द्वारा सामान्य लोगों को दिए जाते हैं। वास्तव में साधारण व्यक्ति सार्वजनिक व्यय की तकनीकों में नहीं बल्कि उससे प्राप्त होने वाले लाभ में रुचि रखते हैं। परंतु यह सिद्धांत भी दोषों से मुक्त नहीं है। इसका सबसे गंभीर दोष यह है कि यह वर्गीकरण आपसी सहमति से नहीं किया गया है इसी कारण यह अवैज्ञानिक तथा अपूर्ण बन गया है। इसमें परस्पर अतिक्रमण का दोष है। ऐसी परिस्थितियों में ऐसे में जो केवल विशेष समूह को लाभ पहुंचाता हो तथा सामान्य समुदाय को लाभ पहुंचाने वाले व्यय में अंतर करना कठिन होता है। इसलिए वर्तमान व्यवस्था में इस सिद्धांत के लिए कोई स्थान नहीं है।

8.3.2 आय के आधार पर वर्गीकरण

यह वर्गीकरण प्रोफेसर निकोल्सन (Nicholson) ने किया है। उन्होंने विजय के वर्गीकरण का आधार आए को माना है। अर्थात सार्वजनिक व्यय से आए में जो वृद्धि होती है वही आए के वर्गीकरण का आधार है। इसे निम्नलिखित चार भागों में बांटा गया है-

1. प्रथम वह व्यय है, जिसके करने से राज्य को किसी प्रकार की आय प्राप्त नहीं होती है, जैसे- युद्ध पर होने वाला व्यय तथा बेरोजगारों एवं गरीबों की सहायता पर होने वाला व्यय।

2. दूसरे प्रकार के वे व्यय है जो सरकार को प्रत्यक्ष आय नहीं देते हैं, परंतु दीर्घकाल पर उन व्ययों से अप्रत्यक्ष रूप से आय प्राप्त होती है। शिक्षा पर किए जाने वाला व्यय इसका एक उदाहरण है, क्योंकि 'गरीबी प्रतीक्षा कर सकती है, शिक्षा नहीं।' दीर्घ काल में जब देश के नागरिक शिक्षित होंगे तो उनकी कार्यकुशलता बढ़ने से देश को लाभ मिलेगा और देश की प्रगति होगी।
3. तीसरी श्रेणी में वे व्यय आते हैं जिनसे सरकार को आंशिक आय प्राप्त होती है; जैसे- शुल्क सहित शिक्षा। इससे सरकारी व्यय को बड़े पैमाने पर किया जाता है, परंतु इन सेवाओं से सरकार को व्यय की अपेक्षा शुल्क बहुत कम मिलता है।
4. चौथी श्रेणी के व्यय वह हैं, जिनमें व्यय करने के बाद सरकार को आए होती रहती है; जैसे- यातायात, संचार व्यवस्था आदि पर किया गया व्यय।

8.3.3 कार्यों के आधार पर वर्गीकरण

एडम स्मिथ ने सार्वजनिक व्यय को सरकार के कार्यों के आधार पर वर्गीकृत किया है। इस वर्गीकरण का प्रोफेसर वेस्टेवल ने समर्थन किया है। यह वर्गीकरण कुछ इस प्रकार से है-

1. सुरक्षा व्यय- इसमें सरकार द्वारा हथियार, बारूद के क्रय, सुरक्षा, पुलिस प्रशासन, न्याय तथा जेल इत्यादि पर किया जाने वाला व्यय शामिल किया जाता है।
2. व्यवसायिक व्यय- जनहित में सरकार द्वारा व्यवसायिक गतिविधियों, जैसे- रेल, सड़क, राष्ट्रीय मार्ग इत्यादि पर किए गए व्यय को इसमें शामिल किया जाता है।
3. विकास व्यय- देश के सामाजिक तथा आर्थिक विकास के लिए शिक्षा, स्वास्थ्य, मनोरंजन, जन सुविधाओं पर किया गया व्यय इसमें शामिल है। ऐसे व्यय से राष्ट्रीय आय बढ़ती है। यह वर्गीकरण समाज लोगों के कल्याण के आधार पर सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण करता है। इस सिद्धांत में भी दोष यह है कि यह कह पाना संभव नहीं है कि अमुक व्यय सुरक्षा से संबंधित है तथा विकास से संबंधित नहीं है एवं अमुक व्यय व्यवसायिक है तथा विकास से संबंधित नहीं है।

8.3.4 महत्व के आधार पर वर्गीकरण

यह वर्गीकरण प्रोफेसर फिंडले शिराज (Shirras) के द्वारा किया गया है। इसे प्राथमिक एवं गौण व्यय का वर्गीकरण भी कहा जाता है। उन्होंने सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण को निम्न रूपों में बाँटा है- प्राथमिक व्यय और गौण व्यय प्राथमिक व्यय के अंतर्गत आंतरिक एवं बाहरी सुरक्षा संबंधी व्ययों को रखा गया है। इस व्यय के बारे में शिराज ने लिखा है कि, "प्रत्येक नाम मात्र के शासन तक को अन्य सब बातों से पहले इस पर वह करना होता है।" जहाँ तक गौण व्ययों का संबंध है, उसके बारे में शिराज़ का कहना है कि गौण व्यय में समाज, लोक उपक्रम व्यय और कुछ अन्य व्यय सम्मिलित हैं।

प्रोफेसर शिराज ने प्रधान तथा गौण व्यय को पुन: चार भागों में विभक्त किया है-

1. सुरक्षा व्यय, जिसमें सामुद्रिक, स्थल एवं हवाई सेना व सुरक्षा संबंधी व्यय भी सम्मिलित किए जाते हैं।
2. इस श्रेणी के व्यय के अंतर्गत न्याय व्यवस्था, पुलिस प्रशासन- व्यवस्था, जेल आदि पर किया जाने वाला व्यय आता है।
3. तीसरी श्रेणी के व्ययों में मुख्य रूप से विधानसभा, संसद तथा मंत्रालयों, देश-विदेश में भेजे जाने वाले राजनीतिज्ञों पर किया जाने वाला व्यय आता है।
4. इस श्रेणी में ऋण संबंधी व्ययों को जो उत्पादक तथा अनुत्पादक दोनों हो सकते हैं, रखा गया है।

8.3.5 मिल का वर्गीकरण

मिल ने सार्वजनिक व्यय को दो भागों में बांटा है- आवश्यक व्यय तथा ऐच्छिक व्यय।

आवश्यक व्यय वे होते हैं, जिनको हम गहन व्यय या परंपरागत व्यय कह सकते हैं। इन विषयों को सरकार प्राचीन काल से करती आ रही है और यह व्यय सरकार को अनिवार्य रूप से करने होते हैं, जैसे- सेना व नागरिक प्रशासन पर किया जाने वाला व्यय। ऐच्छिक व्यय वे होते हैं, जिन्हें करने के लिए सरकार को बाध्य नहीं किया जा सकता है। ऐसे बयानों के अंतर्गत सामाजिक कल्याण संबंधी कार्यों पर किया जाने वाला व्यय शामिल होता है।

मिल के वर्गीकरण का आधार भी वैज्ञानिक नहीं है, क्योंकि वर्तमान समय में हम सरकार के किस कार्य को आवश्यक और किस कार्य को अनावश्यक करें यह निर्धारित नहीं किया जा सकता है। लोक कल्याणकारी राज्य के अंतर्गत तो बेकारी भी और शिक्षा पर किया जाने वाला व्यय भी अनिवार्य है, ऐसी स्थिति में ऐच्छिक व्यय कौन सा होगा, कहना कठिन है। जो व्यय कभी ऐच्छिक था वह अब आवश्यक हो गया है।

8.3.6 डाल्टन का वर्गीकरण

प्रोफेसर डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय को इस आधार पर वर्गीकृत किया है कि, क्या सरकार को व्यय के बदले में कोई सेवाएं प्राप्त होती है या नहीं? उन्होंने सार्वजनिक व्यय को दो श्रेणियों में विभक्त किया- अनुदान और क्रय-विक्रय संबंधी व्यय।

यही कारण है की डाल्टन का वर्गीकरण राजस्व वसूली से भिन्न है। परंतु निकोलसन के वर्गीकरण पर आधारित है। वह दो प्रकार की स्थितियों बताता है। उदाहरण के लिए, जब राज्य धन व्यय करता है तथा बदले में उसे कुछ सेवाएं वस्तुएं प्राप्त होती हैं। उसे खरीद मूल्य कहा जाता है। जैसे कि, सरकारी कर्मचारियों का वेतन तथा फर्नीचर जो खरीद के लिए दिया गया 'खरीद मूल्य' इत्यादि। जब सरकार धन खर्च करती है तथा उसके बदले में कोई सेवाएं या वस्तुएं प्राप्त नहीं होती है तो उस व्यय को 'अनुदान' का जैसे कि, गरीबों को दी गई आर्थिक सहायता आदि। यदि कोई सार्वजनिक प्राधिकरण किसी वस्तु या सेवा हो प्रचलित बाजार मूल्य से उच्च मूल्य पर खरीद कर रहा है तो खरीद मूल्य में अनुदान का तत्व शामिल होगा। इसी प्रकार यदि सरकार किसी वस्तु या सेवा को उसकी लागत से कम मूल्य पर बेच रही है तो वह प्रथाओं के लिए अनुदान होगा। प्रोफेसर डाल्टन के अनुसार यदि भूतकाल के संदर्भ में देखा जाए तो सार्वजनिक ऋण पर ब्याज तथा पेंशन इत्यादि अनुदान ही है। इसी प्रकार पेंशन भूतकाल में किए गए कार्य के लिए किया जाने वाला भुगतान है। प्रोफेसर डाल्टन इसे अनुदान ही मानते हैं, हालांकि इसका विश्लेषण खरीद मूल्य के अनुरूप करना चाहिए।

डाल्टन ने प्रत्यक्ष तथा अप्रत्यक्ष अनुदान में भी अंतर किया है। उनके अनुसार अनुदान वह है जिसका सारा लाभ अनुदान प्राप्त करने वाले व्यक्ति को ही प्राप्त होता है (जैसे कि वृद्ध आयु पेंशन) जबकि अप्रत्यक्ष अनुदान वह है जहां पूरा लाभ या आंशिक लाभ अन्य व्यक्तियों को दे दिया जाता है। यह वर्गीकरण तर्कसंगत लगता है इसमें अंतर को स्पष्ट देखा जा सकता है। हालांकि यह निर्णय करना संभव नहीं है कि किसी भी सार्वजनिक व्यय का कितना अंश अनुदान के रूप में है तथा कितना खरीद मूल्य के रूप में है। वास्तव में अनुदान तथा खरीद मूल्य में बहुत कम तथा अस्पष्ट अंतर है। इसीलिए इस वर्गीकरण को भी सुघड़ व पूर्ण वर्गीकरण नहीं माना जा सकता है। परंतु फिर भी इस वर्गीकरण को सर्वाधिक संतोषजनक माना जाता है।

8.3.7 प्रोफेसर जे. के. मेहता का वर्गीकरण

प्रोफेसर मेहता ने सार्वजनिक व्यय को दो भागों में विभाजित किया है- स्थिर व्यय और अस्थिर व्यय।

1. स्थिर व्यय- जिन व्यक्तियों के लिए यह व्यय किया जाता है, यदि वे एक व्यय का अधिकाधिक उपयोग करते भी हैं, तो भी इस व्यय में वृद्धि नहीं की जा सकती है। उदाहरण के तौर पर, सुरक्षा संबंधी व्यय।

2. अस्थिर व्यय- यह व्यय विकास के कार्यक्रमों में किया जाता है और लगातार बढ़ता ही जाता है। जैसे- शिक्षा, डाक, तार आदि सेवाओं पर किया जाने वाला व्यय। इस वर्गीकरण की व्याख्या करते हुए प्रोफेसर मेहता ने कहा कि हमें यह नहीं समझ लेना चाहिए कि कोई एक व्यय पूर्णतया एक ही वर्ग में आ सकता है। प्रत्येक व्यय पूर्ण या आंशिक रूप से एक वर्ग में आ सकता है, जैसे, डाक सेवा का संपूर्ण व्यय अस्थिर नहीं है। यदि लोग अधिक पत्र लिखने लगे या अधिक लिफाफे और पोस्टकार्ड खरीदने लगे, तो इसके लिए सरकार को न तो अधिक पोस्टमैन रखने होंगे और ना ही अधिक डाकखाने खोलने होंगे। इस प्रकार प्रत्येक व्यय में आंशिक रूप से स्थिर व अस्थिर व्यय का भाग रहता है।

इस वर्गीकरण के आधार को स्पष्ट करते हुए प्रोफ़ेसर मेहता ने लिखा है कि "वर्गीकरण का आधार सार्वजनिक व्यय की प्रकृति है- यह व्यक्तियों के वर्गों के लिए है या व्यक्तियों के लिए, यह इस प्रकार का है कि लोग इसको नियंत्रित कर सकते हैं या नहीं कर सकते। यह वित्त शास्त्री के दृष्टिकोण से भी लाभदायक है, क्योंकि वह जानना चाहता है कि वह कहां तक अपने व्यय के अनुमान पर निर्भर रह सकता है और कहां तक व्यक्तियों को राज्य द्वारा प्रदान सेवाओं के उपयोग के निर्णय पर निर्भर करता है।"

इस वर्गीकरण की उत्कृष्टता यह है कि सरकार की दृष्टिकोण से सार्वजनिक व्यय लागत है। जैसे कि सार्वजनिक राजस्व के प्रकरण में आय हैं। सभी लागतों की तरह इनका विभाजन भी स्थिर तथा परिवर्तनशील लागतों में किया जाता है। यह याद रखने योग्य बात है कि हमारा निश्चित व्यय पूरक तथा परिवर्तनशील या प्रमुख लागतो के समान है। इसलिए यह वर्गीकरण संतोषजनक है। परंतु उसी समय बहुत से अर्थशास्त्रियों ने यह कहते हुए की आलोचना की हो कि यह त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि यह कल्पना करता है कि राज्य अन उत्पादक व्यय भी कर सकता है।

8.3.8 रॉशर का वर्गीकरण

रोशन ने सार्वजनिक व्यय को तीन भागों में वर्गीकृत किया है- आवश्यक व्यय, उपयोगी व्यय और अनावश्यक व्यय।

आवश्यक व्यय वह है जो राज्य सरकार को करना ही पड़ता है तथा उसे टाला नहीं जा सकता। उपयोगी व्यय वह है जो वांछित है पर उसे कुछ समय के लिए स्थगित किया जा सकता है। अनावश्यक व्यय वह है जिसे सरकार करें या ना करें।

सामान्य श्रेणियों से व्यय का यह वर्गीकरण वास्तव में सार्वजनिक व्यय की मूलभूत समस्या का समाधान करता है। सार्वजनिक व्यय के गुण-दोष राज्य के बदलते हुए दायित्व एवं गतिविधियों के साथ बदलते जा रहे हैं, जो व्यय कभी अनावश्यक माना जाता था वह अब आवश्यक एवं उपयोगी बन गया है। यह मानना ठीक नहीं है कि राज्य द्वारा अनावश्यक खर्च किया जाता है। यदि सरकार ऐसे व्यय करेगी तो वह आर्थिक कल्याण या अधिकतम सामाजिक लाभ को प्राप्त नहीं कर सकती है। वास्तव में आज कल किसी भी लोकतांत्रिक राज्य में अनावश्यक व्यय नहीं किया जाता। जो व्यय आवश्यक है वह उपयोगी है तथा जो व्यय उपयोगी नहीं है वह भी आवश्यक है। संक्षेप में यह वर्गीकरण स्वीकार नहीं किया जा सकता।

8.3.9 पीगू का वर्गीकरण

प्रोफेसर पीगू ने सार्वजनिक व्यय को दो भागों में बांटा है- हस्तांतरित होने वाला व्यय तथा (Transferable expenditure) और अहस्तांतरित व्यय (Non -Transferable expenditure)

प्रोफेसर पीगू के अनुसार हस्तांतरित व्ययव र्तमान राष्ट्रीय संसाधन सेवा की खरीद से संबंध होता है। सरकारी ऋण के ब्याज के भुगतान हेतु किया गया जो व्यय, पेंशन, बीमारी लाभ इत्यादि इस व्यय के अंतर्गत आते हैं। इसी प्रकार अहस्तांतरित व्यय वह होता है जो लोगों को अनुग्रह के रूप में भुगतान किया जाता है या वर्तमान संपदा

अधिकार के व्यय हेतु। उदाहरण के लिए फौज, नौसेना तथा वायु सेना के भवनों के रखरखाव पर किए जाने वाला व्यय, सिविल सेवाओं, शिक्षा सेवा, न्यायालयों, डाक घरों पर किया जाने वाला व्यय अहस्तांतरित व्यय कहलाता है। वास्तव में अहस्तांतरित व्यय का अर्थ है, सेवाओं तथा वस्तुओं का वास्तविक प्रयोग। जबकि हस्तांतरित व्यय, किसी प्रकार भी आय को उत्पन्न नहीं करते हैं। उदाहरण के लिए जब कोई भी राज्य सेना में किसी सिपाही की भर्ती करता है तो उसकी सेवाओं के लिए भुगतान करता है, परंतु उसकी सेवाओं का अन्य वैकल्पिक उपयोग के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता।

हस्तांतरित व्यय का अर्थ होता है सेवाओं वस्तुओं के अधिकार का अंतरण। अब सरकार के स्थान पर वह लाभ प्राप्त करता को प्राप्त होता है। दूसरी ओर, अहस्तांतरित व्यय राष्ट्र की वर्तमान सेवाओं और संसाधनों के वास्तविक उपयोग को संभव बनाता है। हालांकि पीगू का वर्गीकरण तर्कपूर्ण है, सार्वजनिक व्यय से संबंधित है फिर भी इसमें अनेक भ्रांतियां हैं तथा यह भी हस्तांतरित एवं अहस्तांतरित व्यय में स्पष्ट अंतर प्रस्तुत नहीं करता है।

8.3.10 आर्थिक वर्गीकरण

द्वितीय विश्व युद्ध के बाद विकासशील तथा विकसित देशों ने सामाजिक लेखा प्रणाली को अपनाया है। ताकि सरकार के बजट की व्यवहारों का वर्गीकरण किया जा सके और राज्य की राजकोषीय गतिविधियों की उपयोगी व्याख्या की जा सके। संयुक्त राष्ट्र संघ ने 1958 में अपने बजट के क्रियात्मक तथा आर्थिक वर्गीकरण के लिए 'A Manual For Economic And Functional Classification of Government Transactions' तैयार किया था, इसमें प्रत्येक शीर्ष का सार्वजनिक व्यय दो भागों में बांटा- राजस्व लेखा तथा पूंजी लेखा। अन्य शब्दों में इसका यह अर्थ है कि सरकारी आय को दो भागों में बांटा जा सकता है- राजस्व तथा पूंजी लेखा और सरकारी संवितरण को राजस्व व पूंजी लेखा के रूप में।

भारत में केंद्रीय बजट में बजटीय व्यवहार का वर्गीकरण 1957 -58 से लागू है। भारत में राजस्व व्यय में प्रशासन, सुरक्षा तथा सार्वजनिक व्यवसायिक संस्थानों जैसे- रेलवे, डाक, टेलीग्राफ इत्यादि पर होने वाले सभी चालू खर्च शामिल रहते हैं, जबकि पूंजी व्यय में सुरक्षा तथा सार्वजनिक व्यवसायिक संस्थानों की सभी पूंजी व्यवहारों को शामिल किया जाता है। पूंजी व्यय को सकल स्थिर पूंजी संपत्ति सूची में वृद्धि तथा अंतरण जैसे दो शीर्षों में बांटा जाता है। सकल स्थिर पूंजी में भवनों, निर्माण, मशीनरी, उपकरण इत्यादि पर होने वाला व्यय शामिल किया जाता है, जबकि वृद्धि शीर्ष में तो तथा खाद्यान्नों इत्यादि पर होने वाला खर्च शामिल किया जाता है। पूंजी अंतरण में पूंजी निर्माण के लिए राज्यों तथा संघीय शासित प्रदेशों को दी जाने वाली अनुदान राशि भी शामिल होती है।

8.4 निष्कर्ष

सार्वजनिक व्यय के अध्ययन का मुख्य उद्देश्य उन विषयों तथा वस्तुओं के प्रभावों और कार्यकुशलता का अध्ययन करना है, जिसके लिए धन आवंटित किया गया है। इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए सार्वजनिक व्यय का विभिन्न मदों में उचित वर्गीकरण तथा विभिन्न आवश्यक मदों की व्याख्या अत्यंत आवश्यक तथा पहली शर्त है।

अभ्यास प्रश्न-

1. ''धन सरकार की अपेक्षा लोगों के हाथों में अधिक फलदायी सिद्ध हो सकता है।" यह कथन किसके द्वारा कहा गया?
2. सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण के कोई दो आधार बताइए।
3. लाभ के आधार पर वर्गीकरण किसके द्वारा दिया गया था?
4. कौन सा वर्गीकरण सार्वजनिक व्यय को आवश्यक तथा ऐच्छिक विषय की श्रेणी में वर्गीकृत करता है?

5. प्रोफेसर मेहता ने सार्वजनिक व्यय को किन दो भागों में बांटा?

8.5 सारांश

सार्वजनिक व्यय केवल एक वित्तीय कार्यवाही ही नहीं है, बल्कि इसके कई सामाजिक लक्ष्य होते हैं। विभिन्न अर्थशास्त्रियों के द्वारा सार्वजनिक व्यय का भिन्न-भिन्न प्रकार से वर्गीकरण प्रस्तुत किया गया है। परंतु यह वर्गीकरण सार्वजनिक व्यय की परिवर्तित स्थिति की जांच नहीं करते। बल्कि यह एक ही वस्तु को ही अलग तरीके से प्रस्तुत करते हैं।

8.6 शब्दावली

राजस्व व्यय- सरकारी विभागों के सामान्य संचालन के लिए किया जाता है।
पूंजी बजट- इसके तहत पूंजी प्राप्तियां तथा भुगतान शामिल रहते हैं।
योजना व्यय- यह केंद्र सरकार के कुल व्यय का एक बड़ा हिस्सा होता है।
राजस्व बजट- इसके तहत सरकार की राजस्व प्राप्तियां तथा इस राजस्व में से किया गया व्यय शामिल रहते हैं।

8.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. रॉबर्ट पील, **2.** लाभ के आधार पर वर्गीकरण, कार्य के आधार पर वर्गीकरण, **3.** जर्मन अर्थशास्त्री काहन तथा अमेरिकी अर्थशास्त्री प्लेहन, **4.** मिल का वर्गीकरण, **5.** स्थिर व्यय तथा अस्थिर व्यय

8.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. लेखी,आर.के., 2009. लोक वित्त; कल्याणी पब्लिशर्स, नई दिल्ली।
2. पंत, जे.सी., 2005. लोक अर्थशास्त्र; लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

8.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. सिंह, एस.के.2009.लोक वित्त के सिद्धांत तथा भारतीय लोक वित्त; साहित्य भवन पब्लिकेशन: आगरा।

8.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक व्यय के वर्गीकरण पर एक विस्तृत लेख लिखिए।
2. सार्वजनिक व्यय के किन्ही दो वर्गीकरण को विस्तार से समझाइए।
3. सार्वजनिक व्यय के लाभ तथा कार्य के आधार पर वर्गीकरण पर एक लेख लिखें।

इकाई- 9 सार्वजनिक व्यय का सिद्धांत एवं विकास

इकाई की संरचना

9.0 प्रस्तावना
9.1 उद्देश्य
9.2 सार्वजनिक व्यय के लक्ष्य
9.3 सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत
9.3.1 सार्वजनिक व्यय के शुद्ध सिद्धांत
9.3.1.1 पीगू का भुगतान करने की क्षमता का सिद्धांत
9.3.1.2 लाभ सिद्धांत
9.3.1.3 सैम्यूल्सन का सिद्धांत
9.3.1.4 जोहनसन का सिद्धांत
9.3.2 सार्वजनिक व्यय के सामान्य सिद्धांत
9.3.3 अन्य सिद्धान्त
9.4 सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के कारण
9.5 निष्कर्ष
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
9.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.11 निबन्धात्मक प्रश्न

9.0 प्रस्तावना

सार्वजनिक वित्त में सार्वजनिक व्यय की अवधारणा एक महत्वपूर्ण भूमिका अदा करती है। 19वीं शताब्दी के अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय की ओर बहुत कम ध्यान दिया था। इसका कारण संभवत: यह रहा कि केंद्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारों के व्यय में कोई सार्थक वर्गीकरण नहीं किया गया था। सार्वजनिक व्यय के लिए कोई सिद्धांत नहीं बनाए गए थे। मूलतः सरकार के कार्य- न्याय, पुलिस एवं सुरक्षा तक ही सीमित थे। उनका भी विश्वास था कि सरकारी व्यय कुल मिलाकर फजूल खर्च है तथा उसे सरकार की अपेक्षा निजी लोगों के द्वारा बेहतर ढंग से खर्च किया जा सकता है। बदलते समय के साथ स्थितियाँ परिवर्तित हो गई तथा आर्थिक गतिविधियां भी जटिल हो गई जिससे अर्थशास्त्रियों को सार्वजनिक व्यय की ओर अधिक ध्यान देना पड़ा। इस प्रकार आधुनिक युग में सार्वजनिक व्यय को बहुत महत्व प्राप्त हुआ है। समाज कल्याण, आर्थिक प्रगति तथा नागरिकों की सामूहिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए केंद्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारों द्वारा किया जाने वाले व्यय को सार्वजनिक व्यय कहते हैं। विकास कार्यों में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य, सामाजिक सुरक्षा, सिंचाई, जल निकास, सड़कें, इमारतें इत्यादि शामिल है। सामाजिक कल्याण के इन कार्यों ने सार्वजनिक व्यय को बढ़ा दिया है। संक्षेप में, जिस प्रकार अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग महत्वपूर्ण है, बिल्कुल उसी प्रकार लोक वित्त के अध्ययन में सार्वजनिक व्यय ने महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। आज बीसवीं शताब्दी में सरकार की अवधारणा में

मूलभूत परिवर्तन हुआ है। वर्तमान युग में राज्य को कल्याणकारी राज्य कहा गया है, जिसमें सरकार को बहुत से कार्य करने होते हैं। प्रस्तुत अध्ययन में हम सार्वजनिक व्यय के विभिन्न सिद्धांतों पर चर्चा करेंगे।

9.1 इकाई का उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- सार्वजनिक व्यय के लक्ष्यों के बारे में जान पायेंगे।
- सार्वजनिक व्यय के शुद्ध एवं सामान्य सिद्धांतों को समझ पाएंगे।
- सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के विभिन्न कारणों के बारे में भी जानकारी प्राप्त कर पायेंगे।

9.2 सार्वजनिक व्यय के लक्ष्य

सार्वजनिक व्यय केवल एक वित्तीय कार्यवाही ही नहीं है बल्कि, इसके कई सामाजिक लक्ष्य भी होते हैं। परंपरावादी अर्थशास्त्रियों ने अपनी संकुचित विचारधारा में कहा है कि सरकार को सामान्य गतिविधियों में बहुत कम हस्तक्षेप करना चाहिए। सरकार ही केवल एक ऐसा माध्यम है जो राजनीतिक संगठन को उचित रूप से रख सकती है। परंतु सन 1930 के पश्चात जे.एम. केन्ज़ ने आर्थिक विचारों से क्रांति ला दी। केन्ज़ और उनके बाद के अर्थशास्त्रियों ने सोचा कि कुछ निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति में सार्वजनिक व्यय की महत्वपूर्ण भूमिका है।

प्रोफेसर डाल्टन ने सार्वजनिक व्यय के लक्ष्य तथा उद्देश्यों को दो भागों में बांटा है- बाहरी आक्रमण और आंतरिक व्यवस्था एवं अन्याय के विरुद्ध मानवीय सुरक्षा और समुदाय के अधिकतम सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहन।

इस प्रकार एक तरफ जहां इसका लक्ष्य सामाजिक और आर्थिक कल्याण को अधिकतम करना है, वहीं दूसरी ओर बाजार अर्थव्यवस्था में मंदी की प्रवृत्ति पर नियंत्रण करना भी है। सार्वजनिक व्यय का लक्ष्य अधिकतम निवेश करके पूर्ण रोजगार और वृद्धि की स्थिति को बनाए रखना भी होता है। इस की प्रवृत्ति आंतरिक संरचना का निर्माण करके और भविष्य में वृद्धि के लिए पूंजी निर्माण को प्रोत्साहित करके आर्थिक विकास में तेजी लाना भी होता है।

प्रोफेसर मुस्ग्रेव ने एक परिपक्व अर्थव्यवस्था में सार्वजनिक व्यय के कुछ दायित्व का निर्धारण किया है, जैसे-

1. संसाधनों के पुनः आवंटन को प्राप्त करना और मार्केट अर्थव्यवस्था की अपूर्णताओं को सीमित करना।
2. संसाधनों की असमानता को कम करने के तरीके अपनाना और साधनों का पुनः आवंटन करना।
3. व्यापारिक उतार-चढ़ाव को कम करके आर्थिक स्थिरता को बनाए रखना।
4. समुदाय के लाभ के लिए व्यवसायिक गतिविधियों को बनाए रखना।

9.3 सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत

पुराने समय में परंपरावादी सिद्धांतवादियो ने सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के किसी सिद्धांत पर अधिक ध्यान नहीं दिया। उन्होंने इसे केवल एक प्रशासनिक संस्था माना था, जिसका संबंध केवल कुछ सुरक्षात्मक कार्य से था। राज्यों को सार्वजनिक सेवाओं के लिए बहुत कम व्यय करना होता था। परंतु बीसवीं शताब्दी में सरकार की अवधारणा में मूलभूत परिवर्तन हुआ। वर्तमान युग में राज्य को कल्याणकारी राज्य कहा गया है। जिसमें सरकार को बहुत से कार्य करने होते हैं। सर्वप्रथम वैगनर (Adolph Wagner) ने अपने राजकोषीय सिद्धांत में कहा कि सरकार के आकार में अधिक वृद्धि होती है।

अतः बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय के सिद्धांतों को दो भागों में बांटा जा सकता है- सार्वजनिक व्यय के शुद्ध सिद्धांत और सार्वजनिक व्यय के सामान्य सिद्धांत।

9.3.1 सार्वजनिक व्यय के शुद्ध सिद्धांत

बढ़ते हुए सार्वजनिक व्यय के शुद्ध सिद्धांतों को चार भागों में बांटा गया है- पीगू का भुगतान करने की क्षमता का सिद्धांत, लाभ सिद्धांत, सैम्यूल्सन का सिद्धांत और जोहनसन का सिद्धांत। आईये इनकी चर्चा करते हैं-

9.3.1.1 पीगू का भुगतान करने की क्षमता का सिद्धांत

प्रोफेसर पीगू (Pigou)ने सार्वजनिक व्यय के अनुकूलतम स्तर के निर्धारण में भुगतान के क्षमता को बहुत अधिक महत्व दिया है।इन्होंने विचार व्यक्त किया है कि चालू अंतरण व्यय- ऋण सेवाएं, जैसे पेंशन, वृद्धावस्था पेंशन, व्यवहार में परंपरागत अपरिवर्तनीय संविदाओं के आधार पर संचालित होते हैं। लेकिन गैर-अंतरण व्यय का एक बड़ा भाग ऐच्छिक होता है। सार्वजनिक व्यय के ऐच्छिक भाग, जिसमें अंतरण और गैर-अंतरण व्यय दोनों शामिल होते हैं, को उस वित्तीय भाग के संदर्भ में नियमित करने की आवश्यकता है, जो उनकी वित्त व्यवस्था के संदर्भ में उठाना पड़ा। इसके लिए उन्होंने एक संतुलन सिद्धांत का प्रतिपादन किया जो सीमांत की अवधारणा पर आधारित है। सार्वजनिक व्यय की राशि को उस अनुकूलतम बिंदु पर निर्धारित किया जा सकता है। जहां पर खर्च किए गए रुपए से उतनी ही संतुष्टि प्राप्त हो जाती है, जितनी की रुपए को खोने में संतुष्टि की हानि हुई थी।

लिंदाहल के स्वैच्छिक विनियम सिद्धांत में लाभ सिद्धांत के आधार पर सार्वजनिक व्यय के अनुकूलतम बिंदु का निर्धारण किया गया है। जिसमें बाद में जोनसैन व वोओन(Johansen and Bowen) द्वारा सुधार किया गया। सैम्यूल्सन और मुसग्रेव (Samuelson and Musgrave) द्वारा नवीनतम विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

लिंदाहल के स्वैच्छिक विनियम सिद्धांत के अंतर्गत लिंदाहल के अनुसार, "समुदाय में समूहों के बीच करों के भार के वितरण के संबंध में सार्वजनिक व्यय का निर्धारण होता है। इस बार के लिए वितरण अनुपात वही भूमिका निभाता है जो साधारण बाजार में पूर्ति और मांग के मध्य मूल्य का सामंजस्य।''

9.3.1.3 सैम्यूल्सन का सिद्धांत

सार्वजनिक व्यय के आधुनिक सिद्धांत का प्रारंभ 1954 से माना जाता है, जब सैम्यूल्सन ने अपने सिर्फ 3 पृष्ठों के लेख "The Pure Theory Of Public Expenditure" को प्रकाशित किया। यह लेख सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत को गणितीय रूप में पेश करता है। एक वर्ष के पश्चात 1955 में इसे ज्यामिति की सहायता से प्रस्तुत किया गया, जिस कारण यह अधिक लोगों की पहुंच के अंदर आ गया। सैम्यूल्सन का कहना है कि विकसेल, लिंडल, मसग्रेव तथा बोवेन को छोड़कर अन्य अर्थशास्त्रियों ने अधिकतम सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत की उपेक्षा की है तथा अपना अधिकांश समय करारोपण के सिद्धांत में ही लगाया है। इस कमी को दूर करने के लिए उन्होंने अधिकतम सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत को अपने लेखों में प्रस्तुत किया। जिस रूप में इसे सैम्यूल्सन ने लिखा उसका विकास इडली, ऑस्ट्रिया तथा स्वीडन के अर्थशास्त्रियों ने 1880 तथा 1920 के मध्य किया था। किंतु सैम्यूल्सन का सिद्धांत इन अर्थशास्त्रियों के सिद्धांतों से इस अर्थ में भिन्न है कि सैम्यूल्सन ने लोक व्यय(अर्थात सामाजिक वस्तु) के सिद्धांत को पैरेटो के अधिकतम कल्याण की शर्तों के विस्तार के रूप में प्रस्तुत किया, बजट नीति के निर्धारण की प्रक्रिया में सुधार के रूप में नहीं। वस्तुतः बजट नीति के निर्धारण की प्रक्रिया से सैम्यूल्सन ने कार्यक्षमता की शर्तों को अलग ही रखा। सैम्यूल्सन के सामने समस्या यह थी कि वह अर्थव्यवस्था में साधनों का आदर्श आवंटन किस प्रकार होता है, जहां निजी वस्तुओं के साथ-साथ सार्वजनिक वस्तुओं का भी उत्पादन होता है। निजी वस्तुएं भी हैं जिनका उपभोग अलग-अलग मात्रा में विभिन्न उपभोक्ताओं द्वारा होता है तथा सभी उपभोक्ताओं के अलग-अलग उपभोग का कुल योग भी इन वस्तुओं की कुल उत्पत्ति होती है। सार्वजनिक वस्तुओं का उपयोग तभी उपभोक्ता सामान मात्रा में करते हैं। अतः विभिन्न उपभोक्ताओं के अलग-अलग उपभोग को जोड़कर इन वस्तुओं के कुल उत्पादन को प्राप्त नहीं किया जाता है। अब मान लें की उत्पत्ति संभावना सीमा तथा उपभोक्ता अधिमान दोनों प्रकार की वस्तुओं के लिए दिए हुए हैं। इस स्थिति में अधिकतम कल्याण संबंधी पैरेटो

द्वारा दी गई कार्यक्षमता की शर्तों को यहां लागू किया जा सकता है। किंतु, निजी वस्तुओं के संबंध में जिन शर्तों को लागू किया जाता है, वे सार्वजनिक वस्तुओं की शर्तों से भिन्न है। निजी वस्तुओं के अधिकतम उत्पादन के लिए आवश्यक है, उत्पादन में रूपांतर की सीमांत दर उपभोग में प्रतिस्थापन की सीमांत दर के बराबर हो तथा प्रतिस्थापन कि यह सीमांत दर सभी उपभोक्ताओं के लिए भी समान हो। सार्वजनिक वस्तुओं की स्थिति में रूपांतर की सीमांत दर प्रतिस्थापन की सीमांत दर ओं के योग के बराबर होती है तथा प्रतिस्थापन की सीमांत दर सभी उपभोक्ताओं के लिए समान नहीं होती है, बल्कि अलग-अलग होती है। इन शर्तों के आधार पर कोई एक अधिकतम समाधान नहीं मिलता है बल्कि कई समाधान मिलते हैं। सामाजिक कल्याण फलन के प्रयोग से सर्वोत्तम समाधान (The optimum of optima) प्राप्त होता है जिसे सैम्यूल्सन ने सुखद बिंदु (Bliss Point) कहा है।

9.3.1.4 जोहनसन का सिद्धांत

जोहनसन का सार्वजनिक व्यय का शुद्ध सिद्धांत दी गई प्राथमिकताओं और आय का वितरण के अंतर्गत दो समस्याओं को हल करता है। यह निजी और सार्वजनिक वस्तुओं में कुल उत्पादन का बंटवारा तथा निजी वस्तुओं की कुल पूर्ति का 2 उपभोक्ताओं के मध्य बंटवारा है। यह सभी समाधान पेरेटो अनुकूलतम है, क्योंकि किसी के भी अलग होने में या तो एक उपभोक्ता को हानि होगी अथवा दूसरे को। अनुकूल स्थितियों में अनुकूलतम का निर्णय अधिकतम कल्याण की सामान्य समस्या के अंतर्गत सामाजिक उपयोगिता के फलन के आधार पर होगा।

9.3.2 सार्वजनिक व्यय के सामान्य सिद्धांत

प्रोफेसर ए.जी. बुचर (A.G.Bucher) जैसे कुछ अर्थशास्त्रियों ने सार्वजनिक व्यय के संदर्भ में कुछ दिशा निर्देश दिए हैं, जिनका सरकारों को परिपालन करना चाहिए। उन्होंने कहा है "अभी तक कर नीति के अनुरूप व्यय नीति उपयुक्त रूप से विकसित नहीं हुई है, परंतु जब तक उपयुक्त स्तर का विकास नहीं हो जाता तब तक कुछ उद्देश्य और मूलभूत सिद्धांत विधायकों का मार्गदर्शन कर सकते हैं।"

इस प्रकार के नियम समस्या के समाधान में सहायक हो सकते हैं और यदि कोई रुकावट आती है तो उसे प्रथम चरण में ही रोका जा सकता है। इस संदर्भ में निम्नलिखित दिशा निर्देशों को अपनाया जाना चाहिए-

- यह समाज के कल्याण में वृद्धि करें।
- यह सामाजिक कल्याण को प्रोत्साहित करें।
- यह सुनिश्चित किया जाए कि निधि का उपयुक्त रूप से समाज कल्याण हेतु उपयोग हो रहा है।

वास्तव में सार्वजनिक व्यय के सिद्धांत व्यक्ति कुशलता और उपयुक्तता का निर्धारण करते हैं। प्रोफेसर शिरास (Prof. Shirras)ने सार्वजनिक व्यय के सिद्धांतों का सुझाव देकर महत्वपूर्ण योगदान दिया है। इन सिद्धांतों का विस्तृत विवरण कुछ इस प्रकार से है-

1. **लाभ का सिद्धांत-** प्रोफेसर शिरास के अनुसार, "अन्य बातें समान रहने पर, सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का होना चाहिए कि इससे महत्वपूर्ण सामाजिक लाभ प्राप्त हो, जैसे उत्पादन में वृद्धि संपूर्ण समाज की बाहरी आक्रमण तथा आंतरिक अशांति से रक्षा, तथा यथासंभव आय की विषमताओं में कमी। संक्षेप में लोक निधि का प्रयोग उन दिशाओं में किया जाना चाहिए जो कि सार्वजनिक क्षेत्र की दृष्टि से श्रेष्ठ हो अर्थात सार्वजनिक व्यय अधिकतम उपयोगिता प्राप्त हो।

   अतः इस नियम के अनुसार सार्वजनिक व्यय इस प्रकार किया जाना चाहिए जिससे अधिकतम सामाजिक लाभ प्राप्त हो। सार्वजनिक निधि किसी एक व्यक्ति विशेष समूह के लिए नहीं अपितु संपूर्ण समाज के हित के लिए व्यय होनी चाहिए। यह सिद्धांत अधिकतम कुल लाभ का पर्याय है।

सार्वजनिक व्यय का यह सामाजिक लाभ सिद्धांत उपभोक्ता के व्यवहार सिद्धांत सीमांत उपयोगिता के सिद्धांत के समान है। अतः सार्वजनिक अधिकारियों को साधनों का वितरण इस प्रकार से करना चाहिए ताकि उसके सभी प्रयोगों से प्राप्त सीमांत उपयोगिता बराबर हो। इस सिद्धांत का कोई विकल्प नहीं है। तथापि सार्वजनिक व्यय की कुछ मदों के लाभ का मापन कठिन है। संक्षेप में, लाभ सिद्धांत का लक्ष्य देश की उत्पादन और वितरण प्रणाली में सुधार लाना है।

2. **मितव्ययता का सिद्धांत-** इसका अर्थ है कि राज्य को मुद्रा के खर्च में मितव्ययी होना चाहिए। अर्थात फिजूलखर्ची तथा व्यर्थ के व्यय से बचना चाहिए। सार्वजनिक व्यय कुशल और उत्पादक होना चाहिए। अतः राज्य को आवश्यकता से अधिक खर्च नहीं करना चाहिए। उसे जहां तक संभव हो समाज के उत्पादन शक्तियों का विकास करना चाहिए। यही अर्थव्यवस्था का सही पहलू है। प्रोफेसर शिराज के अनुसार, "मितव्ययता का अर्थ है- करदाताओं के हितों की रक्षा के साथ-साथ राजस्व का विकास।" अतः राज्य द्वारा किए गए व्यय राजस्व में वृद्धि में सहायक होने चाहिए।
3. **स्वीकृति का सिद्धांत-** स्वीकृति का सिद्धांत सार्वजनिक व्यय से संबंधित नीति की सही प्रक्रिया और मध्यस्थों की समाप्ति तथा निर्धारित हितों के प्रभाव से संबंधित है। इसके अनुसार खर्च करने के लिए उच्च प्राधिकरण से अनुमति लेना आवश्यक है। दूसरे शब्दों में कोई भी सार्वजनिक व्यय बिना उपयुक्त अनुमति के नहीं होगा। इसका अर्थ है कि प्रत्येक सरकारी प्राधिकरण को एक सीमा तक करने की स्वतंत्रता है, परंतु इस सीमा से अधिक व्यय करने के लिए उसे सक्षम अधिकारी से सही तौर पर अनुमति प्राप्त करनी होगी। इस सिद्धांत का लक्ष्य बेकार के खर्चों को रोकना है। इस सिद्धांत में यह भी निहित है की स्वीकृत धन का उपयुक्त ढंग से खर्च किया जाए ताकि उसका उचित रूप से प्रयोग हो। प्रत्येक वित्तीय वर्ष के अंत में सार्वजनिक व्यय के लेखों का परीक्षण किया जाए। इससे बिना सोचे समझे और मध्यस्थों द्वारा किए गए खर्चों पर नियंत्रण स्थापित हो सकेगा।
4. **आधिक्य का सिद्धांत-** इस सिद्धांत का अभिप्राय है कि सरकार को घाटे से बचना चाहिए और आधिक्य का बजट बनाना चाहिए। उन्हें एक साधारण व्यक्ति की तरह आय से अधिक व्यय नहीं करना चाहिए। अतः हर एक को अपनी चादर के अनुसार ही पैर फैलाने चाहिए। इस संदर्भ में प्रोफेसर शिराज का मानना है कि, "सार्वजनिक प्राधिकरण को अपनी आय की प्राप्ति तथा वह साधारण व्यक्तियों के समान ही करना चाहिए। निजी वह के समान संतुलित बजट की सामान्य नीति होनी चाहिए। वार्षिक व्यय बिना नए साख के संतुलित किए जाएं।"

   यह सिद्धांत सुरक्षात्मक प्रतीत होता है। इसके अनुसार व्यक्ति को अपनी आय के अनुकूल ही व्यय करना चाहिए। इस प्रकार सार्वजनिक प्राधिकरणों के पास पर्याप्त राजस्व होना चाहिए जिससे ना केवल उनके वर्तमान खर्चे पूरे हों बल्कि उसमें भविष्य के लिए भी आधिक्य रहे। इसका अर्थ यह नहीं है कि राज्य को उधार नहीं लेना चाहिए बल्कि राज्य के पास ब्याज और ऋण चुकाने के लिए पर्याप्त राजस्व होना चाहिए। आधुनिक युग में संतुलित बजट को सदैव अच्छा नहीं माना जाता है। यह अर्थव्यवस्था की स्थिति पर निर्भर करता है। जब रोजगार और मूल्यों में स्थिरता की स्थिति हो तो वहां संतुलित बजट उपयुक्त रहता है। मूल्यों में वृद्धि की स्थिति में आधिक्य का बजट ज्यादा ठीक है, क्योंकि यह जनता की अतिरिक्त क्रय शक्ति को कम करता है। मंदी के समय घाटे का बजट की है, क्योंकि इससे जनता की क्रय शक्ति में वृद्धि होगी और प्रभावी कुल मांग में वृद्धि होगी और मांग तथा चालू उत्पादन में संतुलन होगा। परंतु आज के समय में आधिक्य के सिद्धांत का महत्व नहीं है।

9.3.3 अन्य सिद्धान्त

प्रोफेसर शिराज द्वारा बताए गए उपरोक्त सिद्धांतों के अलावा भी अन्य अर्थशास्त्रियों द्वारा कुछ और सिद्धांत भी सुझाए गए हैं। उन सभी सिद्धांतों का विस्तृत विवरण कुछ इस प्रकार है-

1. **लोच का सिद्धांत-** इसका अर्थ यह होता है कि सरकार की व्यय नीति में लोच होनी चाहिए। अर्थात देश की आवश्यकताओं के अनुसार सार्वजनिक व्यय के आकार और दिशा में परिवर्तन संभव होना चाहिए। दूसरे शब्दों में यह कठोर ना होकर लोचदार होनी चाहिए। सार्वजनिक व्यय इस प्रकार का होना चाहिए कि आपात स्थिति में संसाधनों को दूसरी ओर लगाया जा सके। परंतु इससे देश की अर्थव्यवस्था और अन्य विकास कार्यक्रमों पर बुरा प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए।
2. **उत्पादकता का सिद्धांत-** उत्पादकता का सिद्धांत का अभिप्राय होता है कि सार्वजनिक व्यय से देश के उत्पादन को बढ़ावा मिलना चाहिए। अर्थात देश के सार्वजनिक व्यय का ज्यादा भाग उत्पादन और विकास कार्यों पर आवंटित किया जाना चाहिए। डॉक्टर ब्राइट सिंह (Dr. Bright Singh) के अनुसार अल्प-विकसित क्षेत्रों के लिए यह ठीक है, क्योंकि सामाजिक और सार्वजनिक सेवाओं तथा समुदाय के उपभोग की वृद्धि के लिए इन व्ययों में विस्तार की आवश्यकता है। जब से अल्प विकसित देशों में विकास कार्य प्रारंभ हुए हैं तब से इस सिद्धांत को महत्व मिला है। यह सिद्धांत अधिकतम उत्पादन और रोजगार के लक्ष्य पर आधारित है।
3. **समान वितरण का सिद्धांत-** इसका अर्थ है कि सार्वजनिक व्यय इस प्रकार से होना चाहिए कि संपत्ति और आय का वितरण समान हो। जिन देशों में गंभीर असमानता की स्थिति है, वहां पर इसका विशेष महत्व है। इसे समाज के गरीब वर्ग के लिए अधिक लाभकारी योजनाएं बनाकर प्राप्त किया जा सकता है। उदाहरण स्वरुप सार्वजनिक व्यय चिकित्सा, शिक्षा, मकान, वृद्धों को पेंशन इत्यादि पर किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त यह समाज के कमजोर लोगों को प्राथमिकता देकर रोजगार के अवसरों में वृद्धि कर सकता है।
4. **अप्रभावीकरण का सिद्धांत-** इस सिद्धांत का अभिप्राय है कि सार्वजनिक व्यय का, उत्पादन, वितरण अथवा विनिमय के आर्थिक ढांचे पर कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ना चाहिए। सार्वजनिक व्यय से उत्पादन और उत्पादकता में वृद्धि होनी चाहिए। आय और संपत्ति की असमानता में कमी आए और आर्थिक गतिविधियों तथा विनिमय संबंधों में वृद्धि हो। अप्रभावीकरण (Neutrality) को यहां पर स्थैतिकता के अर्थ में प्रयोग नहीं किया गया है जिससे अर्थव्यवस्था में स्थिरता आये। बल्कि इसका अर्थ है कि सार्वजनिक व्यय से उत्पादन-वितरण- विनिमय संबंधों पर प्रभाव ना पड़े।
5. **निश्चितता का सिद्धांत-** इसका अभिप्राय है कि सार्वजनिक अधिकारियों को सार्वजनिक व्यय के उद्देश्य और सीमा का स्पष्ट बोध होना आवश्यक है। खर्च करने वाली इकाई को इसकी राशि एवं लक्ष्यों का ज्ञान होना चाहिए। इसके लिए खर्च करने से पहले उपयुक्त योजना का होना आवश्यक है। बजट बनाकर इसका अनुपालन किया जा सकता है। बजट के संपूर्ण वित्तीय वर्ष के लिए वित्तीय राशि एवं उद्देश्यों का पता लगता है। यह बजट ही है जिसके माध्यम से व्यय करने वालों को साधनों का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। इस निश्चिता की अनुपस्थिति में राजकोषीय अनुशासन नहीं बनाए रखा जा सकता है और साथ ही साथ अनावश्यक खर्च में भी वृद्धि होती है।
6. **कार्यक्रमों का सिद्धांत-** इस सिद्धांत के अनुसार सार्वजनिक व्यय को विशिष्ट कार्यक्रमों द्वारा नियोजित किया जाए। स्पष्ट कार्यक्रमों के अभाव में सार्वजनिक निधि का विवेकपूर्ण उपयोग संभव नहीं है, क्योंकि सार्वजनिक व्यय लोक कल्याण की कुछ योजनाओं के उद्देश्यों को प्राप्त करने के लिए किया जाता है।

अतः लोक निवेश के पूर्व निर्धारित कार्यक्रमों हेतु निश्चित धनराशि का आवंटन होना चाहिए। इसकी अनुपस्थिति में प्राथमिकता क्रम को बनाए रखना संभव नहीं होगा। ऐसा भी संभव है कि अधिक आवश्यक कार्यक्रमों के स्थान पर कम आवश्यक कार्यक्रमों पर सीमित साधनों को लगा दिया जाए।

7. **निष्पादकता का सिद्धांत-** यह सिद्धांत निष्पादन बजट की आवश्यकता पर बल देता है। जब किसी विशिष्ट लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सार्वजनिक वह किया जाए तो यह आवश्यक है कि समय समय पर उसके परिणामों का मूल्यांकन भी किया जाए और साथ ही जब आवश्यक हो तो आवश्यक कदम भी उठाए जाए। इस सिद्धांत के अनुपालन से निधि का सुचारु ढंग से उपयोग होगा और वे लक्ष्य प्राप्त हो सकेंगे जिनके लिए व्यय किया जा रहा है। निष्पादन पर पुनर्विचार प्राधिकरण को सदैव सतर्क रखेगा और निधि पर होने वाला व्यर्थ नहीं जाएगा और ना ही अधिक होगा।

9.4 सार्वजनिक व्यय की वृद्धि के कारण

पिछले कुछ वर्षों से लगभग संसार के सभी देशों में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि की प्रवृत्ति पाई गई है। अहस्तक्षेप नीति की समाप्ति ने इस अवधि में इस प्रवृत्ति में काफी योगदान दिया है। सी.सी. प्लेहम मैं उचित ही कहा है, "सार्वजनिक गतिविधियों में वृद्धि के कारण सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है। यह वृद्धि विस्तृत एवं दोनों प्रकार की होती है। हर एक प्रकार की सरकार, केंद्रीय, मध्यस्थ एवं स्थानीय लगातार नए कर्तव्य अपने हाथ में ले रही हैं और लगातार पुराने कार्यों को संपन्न कर रही हैं और वह भी निरंतर बड़े पैमाने पर।"

इसीलिए आधुनिक कल्याणकारी सरकारों के सार्वजनिक व्यय में लगातार वृद्धि हो रही है। अगले पृष्ठों में हम सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिए उत्तरदाई कारणों कारणों का विस्तृत निरीक्षण करेंगे।

1. **कल्याणकारी राज्य-** आधुनिक सरकारी कल्याणकारी हैं और अपने लोगों के आर्थिक सामाजिक और राजनीतिक जीवन में सुधार लाना उनका लक्ष्य होता है। आम जनता के जीवन स्तर को ऊपर उठाना उनका नैतिक कर्तव्य है। इस लक्ष्य की प्राप्ति हेतु इन्हें बहुत से कल्याणकारी कार्य जैसे शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ्य इत्यादि अपने हाथ में लेने पड़ते हैं। पूंजीवादी अथवा समाजवादी सभी प्रकार की सरकारों के लिए यह सत्य है। उत्पादन और वितरण प्रणाली में सुधार लाने के लिए विधि एवं प्रशासनिक माध्यमों द्वारा भी सरकारी हस्तक्षेप को बढ़ावा मिलता है। राज्य समाज की बहुत ही मांगों को सामूहिक रूप से पूरा कर देता है जो कि पहले व्यक्तिगत रूप से संतुष्ट की जाती थी। Keynes एवं कई अन्य विचारकों का ऐसा विचार है कि विकसित देशों में स्थिरता और अल्प विकसित देशों में विकास दर में वृद्धि लाने के लिए सरकार का हस्तक्षेप अत्यधिक आवश्यक होता है। सामाजिक बीमा, बेरोजगारी कम करना, सस्ती चिकित्सा सुविधाएं, वृद्धावस्था पेंशन, आवास सुविधा इत्यादि कुछ नए कार्य हैं जिन्हें सरकार ने अपने ऊपर ले लिया है। सरकार को समाज की सामाजिक असमानता को भी कम करना होता है। भारत जैसे अल्प विकसित देशों में राज्य का व्यय इन सभी कारणों के कारण अत्यधिक तेजी से बढ़ रहा है।
2. **सरकार का प्रजातांत्रिक और समाजवादी ढांचा-** विश्व में प्रजातंत्रात्मक समाजवादी ढांचे के प्रसार से भी एक बड़ी सीमा तक सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हुई है। सरकार का प्रजातांत्रिक स्वरूप अन्य स्वरूपों से ज्यादा महंगा होता है। उदाहरण के तौर पर भारत में प्रजातंत्र काफी महंगा सौदा है। चुनावों, उपचुनावों और प्रशासनिक व्यवस्था पर व्यय में निरंतर वृद्धि हो रही है। सत्ता दल को नई नीतियों पर अत्यधिक वह करके लोगों का मत अपनी और करने का निरंतर प्रयास करते रहना होता है। इसके अतिरिक्त उन्हें चुनावों में की गई घोषणाओं को भी पूरा करना होता है। इसी प्रकार पूंजीवादी विचारधारा से समाजवादी विचारअनुच्छेद- की ओर परिवर्तन के फलस्वरुप सरकार को बहुत से सामाजिक कार्य करने होते हैं। सार्वजनिक क्षेत्र और राष्ट्रीयकरण दोनों ही सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारण होते हैं।

3. **सुरक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति-** विज्ञान और तकनीकी में हुए तेजी से विकास के कारण आज विश्व के सभी राष्ट्रों को परमाणु अस्त्रों से बाहरी आक्रमणों का खतरा अधिक बढ़ गया है। संपूर्ण विश्व की राजनीतिक स्थिति अनिश्चित एवं असुरक्षित हो गई है। यदि एक देश अपने सुरक्षा साधनों को मजबूत बनाता है तो अन्य देशों को भी आत्मरक्षा में अपने सुरक्षा साधनों में वृद्धि करनी होती है। आधुनिक परमाणु अस्त्रों का निर्माण, प्रशिक्षण अथवा सेना का नियोजन बहुत ही महंगा काम है। युद्ध तकनीक में परिवर्तन आता रहता है और इस परिवर्तन के साथ-साथ सेना के लिए नए प्रकार के हथियारों की खरीद भी आवश्यक हो जाती है। यह सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक महत्वपूर्ण कारण माना जाता है। आधुनिक समय को देखते हुए जब महामारी ने विश्व के सभी देशों को अपनी चपेट में ले लिया है, ऐसे में यह भी एक कारण हो जाता है कि सरकार के सार्वजनिक व्यय में में अचानक से महत्वपूर्ण वृद्धि हो जाती है।
4. **कृषि विकास-** भारत जैसे विकासशील देश में अर्थव्यवस्था की प्रगति का मूल तत्व कृषि विकास में ही निहित है। सरकार को कृषि तथा औद्योगिकि क्षेत्र के प्रभाव का पता होना चाहिए। कृषि एवं गैर-कृषि क्षेत्रों के अंतर्संबंध दोनों क्षेत्रों के विकास का कारण होते हैं। कृषि क्षेत्र का विस्तार औद्योगिकीकरण को प्रोत्साहित करता है। औद्योगिकीकरण से कृषि को आधुनिक यंत्र मिलते हैं जो कृषि की उत्पादकता में सहायक होते हैं। सरकार कृषि क्षेत्र पर बहुत अधिक व्यय कर रही है जिससे ऋण, खाद, कीटनाशक इत्यादि सभी कृषि से संबंधित सामान कम मूल्य पर उपलब्ध हो सके। सरकार कृषि अनुसंधान और संरक्षण कार्यो पर भी बहुत व्यय कर रही है।
5. **शहरीकरण-** आधुनिक युग में बढ़ते हुए सापेक्ष सरकारी व्यय का एक और कारण शहरीकरण भी होता है। इन क्षेत्रों में जनसंख्या की वृद्धि के साथ नागरिक तथा प्रशासनिक व्ययों में वृद्धि की प्रवृत्ति भी पाई जाती है। आजकल जल आपूर्ति, बिजली, यातायात, सड़कों का रखरखाव, शैक्षिक संस्थान, यातायात नियंत्रण, सार्वजनिक स्वास्थ्य इत्यादि व्ययों में अत्यधिक वृद्धि हुई है। अतः नागरिक सुविधाओं में वृद्धि भी सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक कारण मानी जाती है।
6. **ग्रामीण विकास योजनाएं-** भारत जैसे विकासशील देशों में सरकार को ग्रामीण क्षेत्रों के विकास पर बहुत बड़ी राशि व्यय करनी होती है। ग्रामीण क्षेत्रों में जनसंख्या का एक बहुत बड़ा भाग निवास करता है। सरकार को ग्रामीण जनसंख्या के कल्याण हेतु समुदाय विकास परियोजनाएं एवं अन्य सामाजिक योजनाएं अपनानी होती है। भारत में गरीबी उन्मूलन हेतु बहुत सी योजनाएं अब तक अपनाई जा चुकी हैं।
7. **औद्योगिक विकास-** महामंदी के पश्चात सरकार ने औद्योगिक विकास में भी सक्रिय भागीदारी निभाई है। वास्तव में इससे बेहतर जीवन, उच्च स्तर, कुशलता में वृद्धि और पर्याप्त स्तर तक सभी वस्तुओं के उत्पादन में वृद्धि आती है। इसके अतिरिक्त सरकार एकाधिकार को भी नियंत्रित करती है और कम लागत पर उपभोक्ता को वस्तुएं एवं सेवाएं प्रदान करती है। इन सभी कारणों से सार्वजनिक व्यय में उल्लेखनीय वृद्धि हुई है।
8. **जनसंख्या में वृद्धि-** जनसंख्या में वृद्धि भी सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक कारण है, क्योंकि सरकार को विभिन्न कार्य करने के लिए मुद्रा की आवश्यकता होती है। वास्तव में भारत जैसे गरीब देश के लिए जनसंख्या में वृद्धि देश के विकास के लिए एक भयानक खतरा भी है। जनसंख्या वृद्धि के कारण सरकार को भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, चिकित्सा आदि सार्वजनिक व्यय का एक बड़ा भाग व्यय करना पड़ता है।

9. **यातायात और संचार में वृद्धि-** यातायात और संचार में विस्तार के साथ-साथ राज्य को कुशल यातायात प्रणाली का रखरखाव करना भी आवश्यक होता। सरकार को यह सभी सेवाएं बिना लाभ एवं बिना हानि के ही उपलब्ध करानी होती है। अल्पविकसित और पिछड़े देशों की सरकारों को रेलवे, सड़क और संचार पर बहुत बड़ा निवेश करना पड़ता है, ताकि आम जनता को इन सब सुविधाओं का लाभ मिल सके।
10. **व्यापारिक उतार-चढ़ाव पर रोक-** जैसा की आपको विदित होगा कि चक्रीय उतार-चढ़ाव के दौरान राजकोषीय नीति नियंत्रक का कार्य करती है। अतः मंदी की अवधि में सरकार को बड़ी मात्रा में सार्वजनिक व्यय करना पड़ता है। विकसित अर्थव्यवस्था में पूर्ण रोजगार को बनाए रखने की नीति अपनाई जाती है। अर्ध-विकसित अर्थव्यवस्था में कार्यात्मक सिद्धांत के अंतर्गत सार्वजनिक व्यय की वृद्धि से पूर्ण रोजगार की स्थिति को प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है।
11. **नियोजन को अपनाना-** आधुनिक संसार की सभी सरकारें देश के विकास के लिए किसी ना किसी प्रकार की योजनाएं बनाती हैं। विकासशील देश में जब सार्वजनिक क्षेत्र अपनी भूमिका का विस्तार करता है तो उसी के साथ सार्वजनिक व्यय में भी वृद्धि होती है।
12. **मूल्य स्तर में वृद्धि-** विश्व में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का दूसरा कारण द्वितीय विश्व युद्ध के बाद होने वाली मूल्यों में वृद्धि भी है। मूल्य स्तर में वृद्धि से सरकार पर दो महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ते हैं। पहला, सरकार को सभी वस्तुओं और सेवाओं को खरीदने के लिए उसके दाम देने पड़ते हैं। और अपने बढ़ते व्यय को पूरा करने के लिए बड़े वित्तीय स्रोतों को खोजना पड़ता है।
13. **राष्ट्रीय आय में वृद्धि-** राष्ट्रीय आय में वृद्धि भी सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक कारण माना जाता है। ऐसा इसलिए क्योंकि इससे देश का आर्थिक विकास होता है। कर राजस्व में वृद्धि से सार्वजनिक राजस्व में वृद्धि होती है और इससे पुनः सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है।
14. **सामाजिक प्रगति-** समाजवादी समाज की स्थापना के लक्ष्य की पूर्ति के लिए राज्य ने बहुत से कार्य अपने हाथ में लिए हैं। जैसे कि, अनुसूचित जातियों, जनजातियों, जनजाति क्षेत्रों के विकास, पिछड़ी जातियों और आर्थिक रुप से कमजोर व्यक्तियों के विकास के कार्य आदि। सरकार ने इन क्षेत्रों के विकास के लिए अनुसूचित जाति कल्याण मटका, पिछड़ी जाति विकास बोर्ड और अन्य इसी प्रकार के कई संगठनों का गठन किया है। सरकार ने निर्धन वर्ग के कल्याण के लिए भी उसे बहुत सारी सुविधाएं प्रदान की है जिसके परिणाम स्वरुप अमीरी और गरीबी का अंतर कुछ हद तक दूर हुआ है और सामाजिक प्रगति भी हुई है।
15. **त्रुटिपूर्ण प्रशासन-** सरकारी कार्यालयों में फिजूलखर्ची और बर्बादी के कारण भी प्रशासन के सार्वजनिक व्यय में भारी मात्रा में वृद्धि हुई है।

इस प्रकार सार्वजनिक व्यय में विकास के लिए कुछ महत्वपूर्ण कारक हैं। इन कारकों के अलावा एडोल्फ वैगनर (Adolph Wagner) ने भी अपनी परिकल्पना में सार्वजनिक व्यय में लगातार वृद्धि के कई घटक बताएं। सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के वैगनर द्वारा बताए गए घटक कुछ इस प्रकार से हैं-

- **सामाजिक क्रियाकलापों में लगातार विस्तार-** वैगनर ने इस बात को स्वीकार किया है कि सामाजिक गतिविधियों में लगातार विस्तार सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक मूल कारण है। भूतकाल में सरकार के कार्य बाहरी सुरक्षा और देश की आंतरिक सुरक्षा और कानून के रखरखाव तक ही सीमित थे। परंतु आधुनिक एवं परिवर्तनशील युग में इस पुराने विचारधारा में बदलाव आया है और सरकार अपने नागरिकों के हित के लिए आर्थिक, राजनीतिक और सामाजिक सभी प्रकार के कार्य करने लगी है। इसके

अतिरिक्त वे व्यापारिक उतार-चढ़ाव को कम करने और देश में पूर्ण रोजगार के लिए भी कार्य करने लगी है। इस प्रकार सरकार के कार्यों में वृद्धि से उनकी निरपेक्ष तथा सापेक्ष आर्थिक गतिविधियों का विस्तार हुआ है।

- **युद्ध और युद्ध के लिए तैयारी-** वर्तमान शताब्दी में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एकमात्र सबसे महत्वपूर्ण कारण युद्ध है। कुल व्यय का आधा भाग राष्ट्रीय सुरक्षा पर खर्च होता है। युद्ध और युद्ध संबंधी अफवाहें देशों को हर समय युद्ध के लिए तैयार रहने के लिए बाध्य करती हैं। अतः सैनिक भक्तों में प्रगति इतनी तेजी से हो रही है कि वर्तमान समय में यह सबसे अधिक खर्चीला कार्य बन गया है।
- **जनसंख्या में वृद्धि और नगरीकरण-** सरकारी गतिविधियों और सार्वजनिक व्यय में वृद्धि का एक और कारण जनसंख्या और शहरीकरण में वृद्धि है। शहरीकरण की प्रक्रिया में इस प्रकार के बयान में वृद्धि होती है जिससे जीवन और संपत्ति का संरक्षण हो सके। यह सरकार पर अतिरिक्त जिम्मेदारी डालता है। सरकार खाद्य पदार्थों का निरीक्षण, आवश्यक वस्तुओं का वितरण, सार्वजनिक स्वास्थ्य में वृद्धि, अस्पतालों का निर्माण एवं रखरखाव, शिक्षा और जीवन की अन्य आवश्यकताओं के लिए कार्य करती है। इसके अतिरिक्त आधुनिक समाज ज्यादा जटिल होते जा रहे हैं। जहां उनकी मांगों को पूरा करने के लिए ज्यादा राशि की आवश्यकता होती है।
- **विश्व मंदी-** वर्ष 1929 से 1933 की महान विश्वव्यापी मंदी भी सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिए एक मुख्य कारण है। इस मंदी ने सरकारी हस्तक्षेप की आवश्यकता को उजागर कर दिया। इस कारण विभिन्न क्षेत्रों में सरकारी क्रियाकलाप बढ़ गए। अतः आधुनिक सरकार की निवेश गतिविधियां सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिए एक और कारण पैदा करती है।
- **मूल्यों में वृद्धि-** स्वतंत्रता के बाद से सार्वभौमिक स्तर पर मूल्यों में वृद्धि भी सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिए समान रूप से भागीदार है। मूल्यों में वृद्धि के दो प्रभाव होते हैं। प्रथम, सरकार को उन सभी वस्तुओं और सेवाओं के लिए उच्चतर मूल्य प्रदान करने पड़ते हैं जो वह खरीदती है। द्वितीय, उसे अपने बढ़ते हुए व्यय के लिए वित्तीय संसाधनों की आवश्यकता होती। इस प्रकार बढ़ता हुआ सार्वजनिक व्यय स्वयं में मूल्यों में वृद्धि के लिए जिम्मेदार घटक बन जाता है।
- **प्रजातांत्रिक संस्थाएं-** सार्वजनिक व्यय को बढ़ाने में प्रजातांत्रिक संस्थान प्रत्यक्ष घटक नहीं है। परंतु यह इस पर अप्रत्यक्ष रूप से प्रभाव डालते हैं। आधुनिक प्रजातांत्रिक राज्य को राज्य का संवैधानिक प्रमुख बनाना पड़ता है, और यह केंद्र, राज्य और स्थानीय करों के संसद व विधान मंडलों पर भी व्यय करता है। इसके अतिरिक्त उसे संपूर्ण संसार के साथ राजनैतिक संबंध और मैत्री संबंध भी बनाने होते हैं। इस संदर्भ में यह नोट करना आवश्यक है कि विकसित देशों में अल्प विकसित देशों की स्थिति को समझा और इन देशों के लिए अपने संसाधनों का आवंटन की प्रारंभ किया। अतः बीसवीं शताब्दी में सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के लिए यह भी एक महत्वपूर्ण घटक बना है।
- **आर्थिक योजना की भूमिका-** वर्तमान युग में सभी देशों की सरकारें आर्थिक योजनाएं अपनाती हैं, जिससे देश का आर्थिक विकास हो सके। इस कारण भी सार्वजनिक व्यय में अत्यधिक वृद्धि हुई है।
- **जीवन की आधुनिक उलझनें-** आधुनिक जीवन की बढ़ती हुई जटिलताएं सरकार को साधारण जनता के हित में बहुत से गुणात्मक एवं संख्यात्मक कार्य करने पर बाध्य करती है जिससे सार्वजनिक व्यय में वृद्धि होती है।

- **सार्वजनिक क्षेत्र की भूमिका-** प्रोफेसर डेल्टन के अनुसार, "सार्वजनिक क्षेत्र की बढ़ती हुई कुशलता निजी संगठनों की तुलना में, सार्वजनिक व्यय को बढ़ाती है। यह सर्वविदित है कि व्यक्तिगत निजी संगठन सदैव अधिकतम लाभ देखते हैं, जबकि सार्वजनिक क्षेत्र देश का सामाजिक है।"

9.5 निष्कर्ष

वर्तमान युग में राज्यों और केंद्र के कार्यों में उत्तरोत्तर वृद्धि होती जा रही है, जिसके परिणाम स्वरुप सार्वजनिक व्यय में वृद्धि हो रही है। वर्तमान समय में युद्ध संबंधी व्यय तो बहुत अधिक बढ़ गया है। यह व्यस्त शीत युद्ध के कारण और भी अधिक बढ़ने लगा है। सरकार दिन प्रतिदिन नई-नई विभाग खोलती जा रही है। उन विभागों की व्यवस्था पर भारी मात्रा में होने लगा है। प्रजातंत्र में स्थानीय निकायों जैसे ग्राम पंचायतों, जिला-परिषदों, नगरपालिकाओं, विधानसभा तथा सांसदों पर भी वह दिनों दिन बढ़ता जा रहा है।

अभ्यास प्रश्न-

1. सार्वजनिक व्यय के सिद्धांतों को मूलतः कितने भागों में बाँटा गया है?
2. किन्ही दो शुद्ध सिद्धांतों के नाम लिखिये।
3. "The Pure Theory of Publ c Expend ture" लेख किसने लिखा?
4. प्रो. शिराज द्वारा बताये गये किन्ही दो सामान्य सिद्धांतों के नाम लिखिये।
5. सार्वजनिक व्यय की वृद्धि की कोई दो कारण बताइये।

9.5 सारांश

समाज कल्याण, आर्थिक प्रगति तथा नागरिकों की सामूहिक आवश्यकताओं की संतुष्टि के लिए केंद्रीय, राज्य तथा स्थानीय सरकारों द्वारा किए जाने वाले व्यय को सार्वजनिक व्यय कहते हैं। विकास कार्यों में शिक्षा, सार्वजनिक स्वास्थ, सामाजिक सुरक्षा, सिंचाई, नेहरें, जल निकास, सड़कें, इमारते आदि शामिल है। सामाजिक कल्याण के इन कार्यों में सार्वजनिक व्यय को बहुत अधिक बढ़ा दिया है। संक्षेप में, जिस प्रकार अर्थशास्त्र के अध्ययन में उपभोग महत्वपूर्ण है ठीक उसी प्रकार लोक वित्त के अध्ययन में सार्वजनिक व्यय में महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त कर लिया है। राज्य की बढ़ती हुई गतिविधियां तथा सार्वजनिक व्यय की प्रकृति और मात्रा देश के आर्थिक जीवन को अनेक प्रकार से प्रभावित करती है अर्थात यह उत्पादन, वितरण और आर्थिक गतिविधियों के सामान्य स्तर को प्रभावित करती है।

9.6 शब्दावली

चालू अंतरण- धन का एक खाते से दूसरे खाते में जाने की क्रिया, सीमांत- हद, सीमा , प्रतिस्थापन- वस्तु के नष्ट होने पर या हट जाने पर उसी स्थान पर वस्तु का रखा जाना, रूपांतर- एक रूप से दूसरे रूप में आने या लाए जाने की प्रक्रिया

9.7 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. दो (शुद्ध सिद्धांत, सामान्य सिद्धांत), **2.** पीगू का भुगतान करने की क्षमता का सिद्धांत, लाभ का सिद्धांत, **3.** सैमुल्सन, **4.** लाभ का सिद्धांत, मितव्ययता का सिद्धांत, **5.** कल्याणकारी राज्य की अवधारणा और सरकार का प्रजातांत्रिक एवं समाजवादी ढाँचा

9.8 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. लेखी, आर. के. 2009. लोक वित्त नई कल्याणी पब्लिशर्स,नई दिल्ली।
2. पन्त, जे. सी.2005. लोक अर्थशास्त्र, लक्ष्मी नारायण अग्रवाल, आगरा।
3. सिंह, एम. के.2009. लोक वित्त के सिद्धांत तथा भारतीय लोक वित्त, साहित्य भवन पब्लिकेशन: आगरा।

9.9 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हजेला, टी. एन. 1996. राजस्व के सिद्धांत, कोणार्क पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड।

9.10 निबन्धात्मक प्रश्न

1. सार्वजनिक व्यय के सिद्धांतों पर एक लेख लिखिए।
2. सार्वजनिक व्यय के सामान्य सिद्धांतों की विवेचना कीजिए।
3. सार्वजनिक व्यय में वृद्धि के कारणों की समीक्षा कीजिए।

इकाई- 10 निष्पादन बजट प्रणाली, शून्य आधारित बजट प्रणाली

इकाई की संरचना

10.0 प्रस्तावना
10.1 उद्देश्य
10.2 बजट के प्रकार
10.3 निष्पादन बजट प्रणाली
10.3.1 निष्पादन बजट प्रणाली का अर्थ एवं परिभाषाएं
10.3.2 निष्पादन बजट की विशेषताएं
10.3.3 निष्पादन बजट के उद्देश्य
10.3.4 निष्पादन बजट की प्रक्रिया
10.3.5 निष्पादन बजट के लाभ
10.3.6 निष्पादन बजट की हानियां या सीमाएं
10.4 शून्य आधारित बजट प्रणाली
10.4.1 शून्य आधारित बजट का अर्थ एवं परिभाषाएं
10.4.2 शून्य आधारित बजट की विशेषताएं
10.4.3 शून्य आधारित बजट की प्रक्रिया
10.4.4 शून्य आधारित बजट के लाभ
10.4.5 शून्य आधारित बजट की हानियां/सीमाएं
10.5 निष्कर्ष
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

10.0 प्रस्तावना

आधुनिक लोक प्रशासन के अंतर्गत कार्य निष्पादन बजट के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में यह एक महत्वपूर्ण प्रयोग है। वर्तमान परंपरागत बजट आंकड़ों का विस्तृत जाल मात्र बनकर रह गया है। परंपरागत बजट से इस बात का पता नहीं चल पाता है कि लो हित के लिए कौन सी सेवाएं कितनी मात्रा में की गई है और उनके क्या परिणाम सामने आए हैं। वस्तुतः बजट द्वारा किए जाने वाले कार्य तथा कार्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और बजट बनाते समय इन पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। निष्पादन बजट परंपरागत बजट से भिन्न होता है। परंपरागत बजट के द्वारा केवल यह पता चलता है कि कितना रुपया कर्मचारियों पर खर्च हुआ, कितना सामानों की खरीद पर खर्च हुआ और कितना विभिन्न योजनाओं को दिया गया है लेकिन निष्पादन बजट सरकारी क्रियाओं को कार्य, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं में प्रकट करने की एक क्रिया है। वहीं दूसरी ओर शून्य आधार बजट निर्माण, बजट निर्माण के प्रबंधकीय उपकरण के रूप में एक नवीन तकनीक है। शून्य आधारित बजट निर्माण में को यह उचित सिद्ध करना पड़ता है कि वह क्यों खर्च करना चाहता है।

प्रस्तुत अध्याय में हम निष्पादन बजट प्रणाली एवं शून्य आधारित बजट प्रणाली पर विस्तार से चर्चा करेंगे।

10.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- बजट के विभिन्न प्रकारों के बारे में ज्ञान प्राप्त कर पाएंगे।
- निष्पादन बजट प्रणाली के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, प्रक्रिया, लाभ एवं हानि के बारे में विस्तार से जान पाएंगे।
- शून्य आधारित बजट प्रणाली के अर्थ, परिभाषा, उद्देश्य, प्रक्रिया, लाभ एवं हानि के बारे में विस्तार से जान पाएंगे।

10.2 बजट के प्रकार

बड़े-बड़े देशों के दीर्घकालीन अनुभव से अनेक ऐसे सिद्धांत निकले हैं जो बजट बनाने में सहायक हैं। विगत अध्यायों में अपने बजट निर्माण के विभिन्न सिद्धांतों आदि का विस्तार से विवरण किया। बजट निर्माण में उन सभी सिद्धांतों का यदि अनुसरण किया जाए तो आवश्यकता के अनुसार कायदे का बजट बन सकता है। यह अवश्य है कि उक्त सिद्धांत ऐसे नहीं हो सकते कि प्रत्येक स्थिति में अभीष्ट फल ही दे दें। विशेष परिस्थितियों में उनमें संशोधन करना आवश्यक होता है परंतु फिर भी सार रूप में उनका पालन एक अच्छे बजट के लिए अत्यधिक आवश्यक माना जाता है।

जिन आधारों पर आय और व्यय का वर्गीकरण होता है, उनके अनुसार बजट भिन्न-भिन्न प्रकार के होते हैं। मोटे तौर पर बजट का वर्गीकरण चार प्रकार का होता है-

- संस्था या उसके विभागों के आधार पर,
- प्रयोजन या कार्य के आधार पर,
- विधि-विधान के आधार पर,
- उद्देश्य के आधार पर।

संस्था या विभाग को आधार मानने पर विभागीय प्रकार का बजट बनता है। बजट में प्रत्येक विभाग के आयों तथा व्ययों का विवरण होता है। ऐसे आय-व्यय अन्य विभागों से भी संबंधित हो सकते हैं, परंतु जो विभाग वास्तव में उन विषयों को कार्य रूप देता है, उसी के नाम पर वह बजट होता है। उदाहरण के लिए, किसी भी विद्यालय के भवन का व्यय सार्वजनिक निर्माण विभाग के बजट में दिखाया जाएगा, क्योंकि निर्माण का कार्य और तत्संबंधी लेनदेन वही करता है। यद्यपि, भवन शिक्षा विभाग का है। पर, इस विभागीय बजट से जनता यह नहीं जान पाती कि किसी विशेष कार्य पर या सेवा में कितनी लागत लगी है। एक ही विभाग के कार्य अनेक विभागों के पास हो सकते हैं। यह उसके भिन्न-भिन्न स्वरूपों से जुड़े होते हैं। सरकारों को इस प्रकार के विभागीय बजट से सुविधा होती है। इंग्लैंड और भारत में यही मुख्य रूप से प्रचलित है। वैसे अनेक अन्य देशों में भी इस प्रकार के बजट को अपनाया जाता है। ब्रिटिश बजट में नीचे टिप्पणी के रूप में उन विभागों का निर्देश होता है जिनके लिए कोई विशेष विभाग खर्च करता है। जैसे- सार्वजनिक निर्माण विभाग स्कूल, सरकारी ऑफिस, सार्वजनिक उपयोग के भवन आदि बनवा सकता है। वह टिप्पणी में निर्देश कर देता है कि किस कार्य पर कितना खर्च हुआ है। इससे इस प्रकार के बजट का दोष निकल जाता है और आय-व्यय का ठीक-ठीक चित्र मिल जाता है।

प्रयोजन-बजट में आय-व्यय के प्रत्येक कार्य और प्रयोजन को लेकर आंकड़े दिए जाते हैं। इसलिए इस प्रकार के दूसरे बजट का नाम निष्पादन बजट का कार्यक्रम बजट भी है। ऐसे बजट में यह दिखाया जाता है कि रक्षा, शिक्षा, स्वास्थ्य, भवन-निर्माण, तथा अन्य ऐसे कार्यों पर कितना-कितना होगा और उसकी आयें क्या क्या है। उसमें प्रत्येक के साथ यह भी उल्लेखित होता है कि उसका विकास कैसे होने वाला है। साधारण व्यक्ति यही जानना चाहता है। उसको इससे प्रयोजन नहीं कि किस-किस मुद्दे पर कितना कितना खर्चा हो रहा है। अमेरिका की हूवर (Hoover) समिति ने सिफारिश की थी, "यहां का सरकारी बजट- उपलब्धि अथवा कार्यक्रम बजट बने। आज का संपूर्ण बजट-विधान पुनः निर्मित होना चाहिए" कार्यों, क्रिया-व्यापारी तथा योजनाओं के आधार पर बजट बनने चाहिए। यह 'निष्पादन-बजट' है।

कोई सरकार केवल प्रयोजन और लक्षणों के आधार पर बजट नहीं बनाती, परंतु व्यवहार में होता यही है, क्योंकि प्रत्येक विभाग का एक-एक कार्य-विशेष होता है। अतः विभागीय बजट वास्तव में उद्देश्य बजट की होता है। व्यक्ति की प्रकृति और स्वरूप को ध्यान में रखकर जो बजट बनाए जाते हैं, उनको राजस्व तथा पूंजीगत बजट कहते हैं। इसका तात्पर्य विस्तार से जितना प्रकट होता है, उतना नाम से नहीं हो सकता है। स्वरूप का अर्थ यहां उस काल से है जो योजना या कार्य को पूरा करने में लगता है। कभी-कभी कोई ऐसा उत्तर दायित्व होता है जो पहले से चला आ रहा होता है और जिसे चालू वर्ष में जारी रखना, या पूरा करना होता है या उन योजनाओं की पूंजी से जिन पर कई वर्षों में खर्च होने वाला है।

बजट का अंतिम वर्गीकरण प्रयोजन के विचार से होता है। सामान खरीदने, वेतन में वितरण करने, पारिश्रमिक देने, भूमि स्वायत्त करने और भवन निर्माण करने, आदि पर धन व्यय होता है। यह भिन्न-भिन्न प्रयोजन या लक्ष्य हैं जिन पर खर्च किया जाना है।

व्यवहार में कोई एक बजट एक ही विशुद्ध प्रकार का नहीं होता। चाहे संस्था, चाहे प्रयोजन और चाहे स्वरूप, जो बजट किसी एक आधार पर बनाया जाता है, वह सर्वांगीण नहीं हो सकता है। वास्तविक बजट मिश्रित प्रकार का होता है। किसी भी मुख्य आधार को ले लीजिए, किंतु दूसरे प्रकार भी उसमें आ ही जाते हैं। भारत के बजट में जो प्रधान, अप्रधान अथवा उप प्रधान शीर्षक होते हैं,वे प्रायः विभागों को भी सूचित करते हैं। उनमें से कुछ उद्देश्य, अथवा प्रकृति अथवा खर्च के लक्ष्य की ओर संकेत करते हैं।

बजट के इन सब स्वरूपों को और अच्छे से समझने के लिए आइए बजट के विभिन्न स्वरूपों का बिंदुवार विवरण देख लेते हैं-

1. **वार्षिक एवं अर्द्ध वार्षिक बजट-** बजट को फोन किए जाने की अवधि के आधार पर बजट वार्षिक एवं अर्धवार्षिक श्रेणियों में बांटा जाता है। प्रायः एक वर्ष की अवधि के लिए आय-व्यय का लेखा-जोखा रखने वाले बजट को वार्षिक बजट कहा जाता है। यह विश्व के अधिकांश देशों में बनाया जाता है। भारत, इंग्लैंड तथा अन्य राष्ट्रमंडल यह देशों में यह बजट 1 अप्रैल से 31 मार्च तक की अवधि का होता है, जबकि अमेरिका, स्वीडन, इटली, ऑस्ट्रेलिया आदि देशों में 1 जुलाई से 30 जून तक की अवधि का होता है। किंतु कतिपय देशों में एक से अधिक वर्ष के लिए भी बजट बनाए जाते हैं, जिन्हें द्विवार्षिक, त्रिवार्षिक, पंचवर्षीय, सप्तवर्षीय बजट आदि नामों से संबोधित किया जाता है। इस प्रकार बजट प्रायः लंबी अवधि की योजनाओं, कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के क्रियान्वयन हेतु बनाए जाते हैं। जैसे रूस में सप्तवर्षीय बजट बनाया जाता है।
2. **नकद एवं आय बजट-** नकद बजट वह बजट कहलाता है, जिसमें एक वित्तीय वर्ष में जो भी आय तथा व्यय के अनुमान में वास्तविक आय और व्यय हुआ हो। जैसे- भारत, अमेरिका, ब्रिटेन में नकद बजट बनाया जाता है। जबकि आय बजट वह बजट कहलाता है जिसमें किसी एक वित्तीय वर्ष में जो आय तथा

व्यय हुआ हो उस संबंधी वित्तीय वर्ष में दर्शाया तो जाता है, लेकिन वास्तव में उसे प्राप्त ना किया गया हो। जैसे- फ्रांस तथा कतिपय यूरोपियन देशों में आय बजट बनाया जाता है।

3. **संतुलित, घाटे एवं अतिरेक बजट-** जब किसी बजट में आय तथा व्यय संबंधी मदों की अनुमानित राशि बराबर होती है तो उसे संतुलित बजट कहा जाता है, लेकिन जब बजट में अनुमानित आय, अनुमानित व्यय से कम होती है तो वह बजट घाटे का बजट कहलाता है। इस के विपरीत जब बजट में अनुमानित आय, अनुमानित व्यय से अधिक होती है तो वह बजट अतिरिक्त अथवा लाभकारी कहलाता है।
4. **कार्यकारी बजट-** इस प्रकार का बजट बीसवीं शताब्दी में अस्तित्व में आया। इससे पूर्व इसका अस्तित्व नहीं था। इस प्रकार का बजट कार्यपालिका द्वारा बनाया जाता है तथा विधान मंडलों एवं व्यवस्थापिका द्वारा इसे पास किया जाता है।लेकिन इस प्रकार का बजट बनाने, उसे पास कराने तथा इसका उत्तर दायित्व वहन करने संबंधी सभी जिम्मेदारी कार्यपालिका पर ही होती है।
5. **सूत्र मदीय बजट-** सूत्र मदीय बजट वह बजट कहलाता है जिसमें प्रत्येक एकल स्थिति एवं उपकरण को व्यय के आकलन में प्रथक प्रथक सूत्रों में सूचीबद्ध किया जाता है तथा प्रथक प्रथक मदो को विधानमंडल या तो काट देता है अथवा स्वीकृति प्रदान करता है। यदि स्वीकृति प्राप्त हो जाती है तो अनुमानित व्यय उसी मद पर उतनी ही राशि में करना पड़ता है। सरकार द्वारा कोई भी मद, उपकरण अथवा सेवा क्रय की जाती है। उन सबकी गणना प्रथक प्रथक की जाती है। इस प्रकार का बजट एक पारस्परिक बजट है। द्वितीय विश्वयुद्ध से पूर्व प्रायः यह प्रयोग में लाया जाता था,लेकिन आज भी इस प्रकार के बजट का प्रचलन है। जैसे भारत एवं अमेरिका में पी.पी. बी.एस. के साथ अभी भी इस प्रकार के बजट का प्रचलन है।
6. **एकमुश्त राशि बजट-** एकमुश्त राशि बजट को पिंड राशि। इस बजट के अधीन कोर्स का स्थानांतरण ना केवल वस्तुओं के मध्य होता है, बल्कि संस्थागत इकाईयों एवं स्वीकृत कार्यों की गतिविधियों के मतलबी हो सकता है। कार्यकारी बजट के प्रथम वर्षों में वे संबंधित त्रुटियों को दूर करने के लिए एकमुश्त राशि बजट को अपनाया जाता है।
7. **कार्यक्रम बजट-** इस प्रकार का बजट पारंपरिक बजट की त्रुटियों को दूर करने के लिए बनाया जाता है क्योंकि पारंपरिक बजट में परिणामों की उपलब्धियों पर कोई केंद्रीय करण नहीं होता है। कार्यक्रम बजट के उद्भव के साथ अब बजट में परिणामों की उपलब्धियों पर केंद्रीकरण किया जाता है। इस प्रकार के बजट की यह विशेषता होती है कि यह प्रबंध के दृष्टिकोण रखता है। अतः कार्यक्रम नियोजन परिचालन विभागों में प्रारंभ हो जाता है तथा यह उच्चतर स्तर पर अत्यधिक केंद्रीकरण के प्रति सुरक्षा का कार्य करता है। अमेरिका के इस प्रकार के बजट को प्रबंध किए बजट कहा जाता है।
8. **निष्पादित बजट-** इस प्रकार के बजट में बजट विधियों के माध्यम से कार्यक्रमों का क्रियान्वयन करने हेतु नियंत्रण किया जाता है। इस प्रकार के बजट में सरकार के क्रियाकलापों को विभिन्न गतिविधियों, परियोजना आदि के माध्यम से व्यक्त किया जाता है।
9. **पी0पी0बी0एस0-** इस बजट की कार्य प्रणाली के अंतर्गत एक संघीय विभाग में एक ब्यूरो अध्यक्ष होता है। वह अपने बजट का निर्माण करते समय इसे 1 वर्ष के लिए निश्चित करता है तथा इसे कार्यक्रमों के बहुउद्देश्यों में बदला जाता है। मूल्य एवं लाभों में बदल दिया जाता है। बजट के परिणामों को प्राप्त करने के लिए अनेक तरीकों का इस्तेमाल करता है।
10. **शून्य आधारित बजट-** शून्य आधारित बजट वह बजट होता है, जिसमें वर्ष भर के संपूर्ण कार्यक्रमों तथा व्ययों का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें प्रत्येक प्रबंधक को अपने बजट की आवश्यकताओं का विस्तृत

विवरण तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना होता है। इसके अंतर्गत प्रत्येक विभागाध्यक्ष को ना केवल नवीन प्रस्तावों तथा कोषों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है, बल्कि जो कार्यक्रम एवं नीति जारी है उनका भी औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। अतः प्रबंधक को अपने विभाग की चलने वाली एवं सभी नवीन गतिविधियों का पुनर्निरीक्षण करना पड़ता है।

इस प्रकार बजट के अनेक स्वरूप होते हैं। प्रस्तुत अध्याय में हम केवल निष्पादन बजट प्रणाली एवं शून्य आधारित बजट प्रणाली पर ही विस्तार से चर्चा करेंगे। आइए, सर्वप्रथम अब हम निष्पादन बजट प्रणाली या कार्य निष्पादन बजट पर विस्तार से चर्चा करते हैं।

10.3 निष्पादन बजट प्रणाली

आधुनिक लोक प्रशासन के अंतर्गत निष्पादन बजट के अध्ययन पर विशेष ध्यान दिया जाने लगा है। वित्तीय प्रशासन के क्षेत्र में यह एक नया प्रयोग है। वर्तमान परंपरागत बजट आंकड़ों का एक विस्तृत जालसा बनकर रह गया है। परंपरागत बजट से इस बात का पता नहीं चल पाता है कि लोकहित के लिए कौन सी सेवाएं कितनी मात्रा में की गई हैं तथा उनके क्या परिणाम सामने आए हैं। वस्तुतः बजट द्वारा किए जाने वाले कार्य कार्यक्रम अधिक महत्वपूर्ण होते हैं और बजट बनाते समय इन पर अधिक ध्यान दिया जाना चाहिए। पहले विस्तृत कार्यक्रम तैयार कर लिया जाना चाहिए और यह देखा जाना चाहिए कि कार्यक्रम कितनी धनराशि में किस प्रकार से पूरे किए जा सकते हैं। कार्य के परिणामों या निष्पादन को आधार बनाकर निर्मित होने वाला बजट 'निष्पादन बजट' कहलाता है। इसे 'कार्यक्रम बजट', 'आउटकम बजट', 'नियोजन एवं निष्पादन बजट', 'कार्यक्रम सह-निष्पादन बजट' तथा 'नियोजन, कार्यक्रम तथा बजट प्रणाली'(PBBS) भी कहा जाता है। निष्पादन बजट का प्रथम प्रयोग संयुक्त राज्य अमेरिका के नगर प्रशासन में किया गया। यह इन सरकारों का कार्यात्मक संगठन ही था जिसके कारण कार्य निष्पादन बजट की दिशा में कार्य करना सुगम हो सका। इस क्षेत्र में रिचमंड तथा न्यूयॉर्क के नगर अग्रणी कहे जा सकते हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका में प्रशासनिक सुधारों के लिए बने प्रथम हूवर आयोग (1949) ने सरकार के कार्यों, कार्यक्रमों एवं गतिविधियों पर आधारित बजट बनाने की अनुशंसा की थी। आयोग ने स्पष्ट रूप से यह कहा था कि बजट का उद्देश्य केवल वस्तुएं एवं सेवाएं करना ही नहीं है बल्कि बजट प्रणाली में इस तथ्य पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि प्रस्तावित व्यय करना क्यों आवश्यक है? हूवर आयोग की इस अनुशंसा को स्वीकारते हुए संयुक्त राज्य अमेरिका की संघीय सरकार ने वर्ष 1950-51 में निष्पादन बजट बनाना प्रारंभ किया। संयुक्त राज्य अमेरिका के तत्कालीन राष्ट्रपति हैरी एस ट्रूमैन के नेतृत्व में रक्षा मंत्री रॉबर्ट मैकन्मारा ने इस बजट प्रणाली को पर्याप्त बढ़ावा दिया था क्योंकि वे रक्षा व्यय में आर्थिक औचित्य सिद्ध करना चाहते थे। द्वितीय हूवर आयोग (1956) ने पुनः इस बजट प्रणाली के समर्थन में तर्क दिए। धीरे-धीरे निष्पादन प्रणाली विश्व के अन्य देशों में भी लोकप्रिय होने लगी। सन 1965 में राष्ट्रपति जॉनसन ने इसे कार्यक्रम बजट प्रणाली के नाम से प्रारंभ किया। इसके बाद 1971 में यह प्रयोग समाप्त हो गया।

बजट का परंपरागत नमूना कुछ समय पूर्व तक भारत के साथ-साथ कई अन्य देशों में भी काम करता रहा, तथा यह राजस्व संबंधी जवाबदेही के उद्देश्य को पूरा करता था। 1940-1950 से प्रारंभ होने वाले दशकों में ध्यान, कुशलता के मुद्दों की ओर मुड़ा। अतः कार्य निष्पादन बजट जैसी तकनीकों का विकास किया गया। कार्य निष्पादन बजट की अधिकतर तकनीकी और प्रकृति मूल्य रेखा विधि (Cost Accounting) और वैज्ञानिक प्रबंध से ली गई है। कार्य निष्पादन बजट पर जो साहित्य उपलब्ध होता है, उसमें बजटिंग को प्रबंध का औजार बताया गया है और बजट को एक गुण कार्यक्रम' (Worth Programme) बताया गया है। इस प्रकार कार्य निष्पादन बजट का दिशा निर्देशन प्रबंध है। इसका मुख्य बल प्रशासकों की सहायता करना है ताकि वह कार्य करने वाली इकाइयों की कार्यकुशलता का अनुमान कर सके।

भारत में निष्पादन बजट के संबंध में अप्रैल, 1954 में लोकसभा में वित्त मंत्रालय की व्यय-नियंत्रण बहस के समय यह मांग उठी कि निष्पादन बजट प्रणाली की शुरुआत की जाए। संसद की अनुमान समिति ने अपने 20वें प्रतिवेदन (1957-58) में सुझाव दिया था कि, भारत में कुछ चयनित मंत्रालयों की परियोजनाओं का निष्पादन बजट बनाया जाना चाहिए। इस संबंध में सन 1961 में भारत सरकार ने सार्वजनिक उपक्रमों को आदेश जारी करके कहा था कि वे सामान्य व्यापारिक बजट अनुमानों के साथ कार्यक्रम तथा निष्पादन आधारित बजटीय अनुमान भी प्रस्तुत करें। इस विषय पर सन 1964 में भारत सरकार ने एक अमेरिकी विशेषज्ञ फ्रैंक डब्ल्यू क्रॉसकी परामर्श सेवाएं ली थी। इसी प्रकार प्रशासनिक सुधार आयोग (प्रथम) ने भी सन 1968 में सुझाव दिया था कि भारत सरकार के मंत्रालय वर्ष 1969-70 से निष्पादन या उपलब्धि बजट प्रणाली को अपनाना शुरू करें। इस अनुशंसा से पूर्व ही वित्त मंत्रालय ने अप्रैल, 1968 में लोकसभा में 'चुने हुए संगठनों में उपलब्धि बजट' नामक मसौदा प्रस्तुत कर दिया था जिस के अनुसरण में केंद्रीय विभागों ने बजट बनाने शुरू किए किंतु भारत में यह प्रणाली पूर्ण निष्पादन बजट प्रक्रिया पर आधारित न होकर केवल परंपरागत बजट प्रणाली की पूरक विधि के रूप में क्रियान्वित की जा रही है। वर्ष 2000-01 में भारत सरकार के भूतल परिवहन मंत्रालय ने निष्पादन बजट निर्मित किया था। 25 अगस्त, 2005 को भारत की संसद में प्रथम बार 44 मंत्रालयों का परिणाम बजट (Outcome Budget) प्रस्तुत किया गया था। इसमें वित्त मंत्री पी. चिदंबरम ने इन मंत्रालयों की मापन योग्य तथा निगरानी योग्य लक्ष्य निर्धारित करने वाले दस्तावेज को प्रस्तुत किया था।

10.3.1 निष्पादन बजट प्रणाली का अर्थ एवं परिभाषाएं

कार्य निष्पादन बजट को सामान्यत:यह समझा जाता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है जिसमें सार्वजनिक खर्च को कार्यों, कार्यक्रमों, कार्यान्वयन इकाइयों अर्थात क्रियाओं, परियोजनाओं आदि की शब्दावली में प्रस्तुत करता है जो प्राथमिक तौर पर सरकार के उत्पादन अथवा निर्गत तथा इसकी लागत को प्रतिबिंबित करता है। निष्पादन बजट प्रणाली की तकनीकें मुख्यतः लागत लेखा तथा वैज्ञानिक प्रबंध पर आधारित हैं। यह मूल्यांकन की एक ऐसी विधि है जिसमें बजट की व्यय राशि को अंतिम परिणामों अर्थात कार्य निष्पादन से संबद्ध किया जाता है। निष्पादन बजट बजट में सम्मिलित व्यक्तिगत मदों के भौतिक एवं वित्तीय पक्षों को संबद्ध करने की एक ऐसी तकनीक भी है जो किसी संगठन के द्वारा प्राप्त किए जाने वाले लक्षणों या उद्देश्यों को केंद्र बिंदु मानती है ना कि उन लक्ष्यों के लिए किए जाने वाले व्यय की राशि महत्वपूर्ण होती है।

एस. एस. विश्वनाथन के अनुसार, "निष्पादन बजट कार्यक्रमों, परियोजनाओं तथा क्रियाकलापों, जिनके वित्तीय एवं भौतिक पक्ष घनिष्ठता से अंतर संबंधित है, के रूप में विचारित परिचालन दस्तावेज (Operational Document) है। "

यूनाइटेड नेशंस हैंडबुक ऑन पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन में दी गई परिभाषा के अनुसार, "सारांश रूप में निष्पादन बजट एक कार्य योजना है जिसमें एक वित्तीय वर्ष में सरकार द्वारा प्राप्त किए जाने वाले निश्चित उद्देश्यों का ब्यौरा होता है। यह सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्यों या दी जाने वाली सेवाओं के आधार पर सूत्रबद्ध किया जाता है तथा इन्हें इनकी लागतो के साथ प्रस्तुत करता है। कार्यक्रमों के क्रियान्वयन की अवधि के दौरान संपादित किए जाने वाले कार्य एवं व्ययों के संबंध में सूचना देने हेतु प्रतिवेदन एवं लेखांकन की पद्धति की रूपरेखा तैयार की जाती है।... निष्पादन बजट में बजट का कार्यों, कार्यक्रमों एवं क्रिया या परियोजनाओं के अनुसार वर्गीकरण निहित है जो सर्वाधिक महत्वपूर्ण है।''

जैसी बुकहैड इन शब्दों में- "विस्तृत रूप से निष्पादन बजट को बजट वर्गीकरण के साथ संबद्ध किया जाना अधिक उपयुक्त है, जिसमें सरकार द्वारा किए जाने वाले कार्यों का अधिक उल्लेख रहता है, बजाय की सरकार द्वारा किए जाने वाले क्रय के।"

प्रशासनिक सुधार आयोग (प्रथम) निष्पादन बजट की परिभाषा कुछ इस प्रकार से भी है- "निष्पादन बजट सामान्यतः सरकारी प्रक्रियाओं को कार्यों, कार्यक्रमों, गतिविधियों तथा परियोजनाओं के रूप में प्रस्तुत करने की तकनीक के रूप में जाना जाता है। व्यवहारों के इस सार्थक वर्गीकरण से सरकारी गतिविधियों की वित्तीय एवं भौतिक रूप से बजट में पहचान की जाती है जिसमें की विनियोग एवं उत्पादन में उपयुक्त संबंध स्थापित किया जा सके एवं लागतो के संदर्भ में निष्पादन का मूल्यांकन किया जा सके।"

बजट सुधारों पर अनुमान समिति के अनुसार- "निष्पादन बजट कार्यों, कार्य किया क्रियाओं तथा परियोजनाओं पर आधारित बजट है जो निष्पादन के साधनों, जैसे- कार्मिक, सेवा, आपूर्ति तथा उपकरण इत्यादि की अपेक्षा निष्पादन तथा की जाने वाली सेवाओं पर ध्यान केंद्रित करता है। इस प्रणाली के अंतर्गत विभिन्न संगठनात्मक इकाइयों के कार्यों की क्रिया, कार्यक्रमों, उप कार्यक्रमों एवं संघटक योजना इत्यादि में विभक्त किया जाता है तथा प्रत्येक के लिए अनुमान प्रस्तुत किए जाते हैं।"

उपरोक्त वर्णित सभी परिभाषाओं के आधार पर निष्पादन बजट के बारे में कहा जा सकता है कि यह एक ऐसी तकनीक है जो-

1. यह निश्चित करती है कि संगठन के लक्षण एवं उद्देश्यों के अनुरूप बजट का निर्माण हो,
2. संगठन या विभाग के लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए कार्यक्रमों के एक समूह का निश्चय कराती है,
3. कार्यक्रमों को क्रियान्वित कराती है,
4. कार्यों एवं कार्यक्रमों का सफलतापूर्वक संचालन करती है तथा
5. संगठन के प्रत्येक घटक की वास्तविक निष्पत्ति तथा लक्ष्यों की प्राप्ति में उनके योगदान का मूल्यांकन करती है।

इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि निष्पादन बजट मूलतः लक्षयोन्मुखी तथा उद्देश्यपरक प्रणाली पर आधारित है जिसमें केवल संगठनात्मक आय-व्यय का हिसाब ही नहीं बल्कि प्राप्त हुए निष्कर्षों या कार्य निष्पादन मूल्यांकन का आधार बनाया जाता है।

10.3.2 निष्पादन बजट की विशेषताएं

निष्पादन बजट की निम्नांकित विशेषताएं हैं-

1. इसमें संस्था या संगठन के लक्षण एवं उद्देश्यों को स्पष्ट रूप से निर्धारित एवं वर्गीकृत किया जाता है ताकि उसके अनुसार परियोजनाएं या कार्यक्रम बनाए जा सकें।
2. इसमें व्यय का कार्यात्मक वर्गीकरण किया जाता है अर्थात उद्देश्यों के अनुसार कार्यक्रम, परियोजना तथा उप कार्यक्रम निर्धारित किए जाते हैं, जैसे- शिक्षा व्यय के अंतर्गत ऑपरेशन ब्लैक बोर्ड, अनौपचारिक शिक्षा, प्रौढ़ शिक्षा तथा उच्च शिक्षा इत्यादि।
3. इस प्रणाली में उद्देश्य एवं लक्ष्य के अनुसार निर्धारित कार्यक्रमों या परियोजनाओं के लिए वित्तीय आवंटन करते समय 'लागत लाभ विश्लेषण' को आधार बनाया जाता है। अतः लाभ देने वाली परियोजनाएं ही प्राथमिकता पर रहती हैं।
4. निष्पादन बजट दीर्घकालीन आधार पर होता है, जिसमें अल्पकालीन या तात्कालिक उद्देश्य के अतिरिक्त भविष्यगामी लक्ष्यों को भी पूर्ण महत्व प्रदान किया जाता है।
5. इस प्रणाली में एक सुव्यवस्थित लेखा तथा प्रतिवेदन प्रणाली के माध्यम से निष्पत्ति या परिणाम का मूल्यांकन किया जाता है।

6. निर्धारित लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए यह भी आवश्यक है कि संगठन में इकाइयों एवं पदाधिकारियों के मध्य अधिकारों तथा उत्तरदायित्वों का प्रत्यायोजन किया जाए। निष्पादन बजट में यह विकेंद्रीकृत व्यवस्था पाई जाती है।

10.3.3 निष्पादन बजट के उद्देश्य

निष्पादन बजट प्रणाली का प्रयोग कुछ विशेष उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए किया जाता है, जो कुछ इस प्रकार से हैं-

1. संगठन के लक्षण एवं उद्देश्यों को अधिक स्पष्टता से प्रस्तुत करने हेतु।
2. प्रत्येक कार्यक्रम, परियोजना तथा गतिविधि के भौतिक एवं वित्तीय पक्षों को संबद्ध करने हेतु।
3. विकास परियोजना तथा वार्षिक बजटों में घनिष्ठ संबंध स्थापित करने हेतु।
4. निष्पादन, मूल्यांकन एवं अंकेक्षण को अधिक प्रभावशाली बनाने हेतु।
5. प्रबंध किया प्रशासन या फिर सरकार के विभिन्न स्तरों पर बजट ने निर्माण तथा निर्णय-प्रक्रिया में सुधार लाने हेतु।
6. सरकार या प्रबंध की मूल्यांकन एवं समीक्षा प्रक्रिया में सहायता करने हेतु।
7. प्रबंध के उत्तरदायित्व में वृद्धि करने और वित्तीय प्रक्रिया के नियंत्रण हेतु प्रबंध एवं प्रशासन को अतिरिक्त उपकरण प्रदान करने हेतु।
8. इसका अंतिम उद्देश्य दीर्घकालीन योजना तैयार करना होता है।

1968 में भारतीय प्रशासनिक सुधार आयोग ने वित्त, लेखा, विधि तथा लेखा परीक्षण पर दी गई अपनी वार्षिक रिपोर्ट में कहा था कि वास्तव में कार्य निष्पादन बजट सरकारी प्रचलन के कार्यों, कार्यक्रमों, क्रियाओं तथा परियोजनाओं में पेश करने की कार्य विधि है और यह अन्य उद्देश्यों के साथ-साथ निम्नलिखित उद्देश्यों को प्राप्त करने का प्रयत्न करती है-

- जिन उद्देश्यों और लक्ष्यों के लिए धन की मांग की जा रही है, उनको अधिक सुस्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना तथा कार्यक्रमों एवं उपलब्धियों को वित्तीय सामग्री की शब्दावली में प्रस्तुत करना।
- बजट को विधानमंडल के द्वारा अधिक अच्छी तरह समझने और अधिक अच्छा पुनरीक्षण करने में सहायता करना।
- बजट बनाने के कार्य में सुधार करना और सरकार के सभी स्तरों पर निर्णय लेने की प्रक्रिया को सरल बनाना।
- उपलब्धियों के लेखा-परीक्षण को अधिकाधिक उपयोगी तथा प्रभावी बनाना।

इस प्रकार निष्पादन बजट प्रणाली आधुनिक प्रशासनिक कार्यों तथा प्रबंध किए दायित्वों को वैज्ञानिक एवं तार्किक स्वरूप प्रदान करती है।

10.3.4 निष्पादन बजट की प्रक्रिया

निष्पादन बजट के निर्माण एवं निर्धारण में कुछ चरणों या अवस्थाओं से होकर गुजरना पड़ता है, जिनका वर्णन कुछ इस प्रकार से है-

1. **लक्ष्यों एवं उद्देश्यों का निर्धारण-** प्रथम चरण में किसी भी संस्था या संगठन के लक्ष्यों तथा उद्देश्यों का स्पष्ट निर्धारण किया जाता है ताकि बजट के निर्माण में भी सरलता एवं स्वच्छता रह सके। लक्ष्यों के अनुरूप नीतियां तथा वित्तीय अनुमान तैयार किए जाते हैं। इसी चरण में संसाधनों की उपलब्धता एवं उनकी सीमाएं, आयात निर्यात प्रतिबंध, श्रमिक विशिष्टता, विदेशी विनिमय और आर्थिक-वित्तीय समंक

इत्यादि का संकलन एवं विश्लेषण कर लिया जाता है। इस प्रक्रिया के दौरान ही संगठन के पदाधिकारी यह जान लेते हैं कि क्या प्राप्त करना है, क्यों प्राप्त करना है, कब तथा कैसे प्राप्त करना है।

2. **कार्यक्रमों का निर्धारण-** संगठन के लक्ष्य और उद्देश्यों के निर्धारण के पश्चात उनकी प्राप्ति के लिए उन्हें व्यवसाय के कार्यों, कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं में वर्गीकृत किया जाता है। कार्यक्रमों के अंतर्गत योजनाओं का निर्माण, उत्पादन तथा बिक्री के लक्ष्यों का निर्धारण, वित्तीय लागत एवं लाभ का पूर्वानुमान इत्यादि को सम्मिलित किया जाता है। कार्यक्रम के निर्धारण के पश्चात प्रत्येक साधन के लिए वित्तीय अनुमान लगाए जाते हैं तथा कुल व्यय को उद्देश्य अनुसार व्यय के रूप में विभाजित किया जाता है। इस प्रक्रिया में गत वर्ष, चाल एवं भविष्य के अनुमान उपयुक्त वर्गीकरण के रूप में स्पष्ट किए जाते हैं।
3. **संसाधनों का आवंटन-** निष्पादन बजट-निर्माण के इस तीसरे चरण में निर्धारित कार्यक्रमों एवं योजनाओं के लिए मानव श्रम, सामग्री, मशीन तथा अन्य वित्तीय संसाधनों इत्यादि का आवंटन किया जाता है। कार्यकारी अधिकारियों के कार्य, दायित्व एवं अधिकार भी स्पष्ट किए जाते हैं। संसाधनों का आवंटन करते समय गत वर्ष का निष्पादन, कार्यक्रम के वार्षिक लक्ष्य, वित्तीय एवं भौतिक पक्षों के बीच संबंध, कार्य क्षमता की आय, लागत समंकों सहित वर्तमान बजट अनुमान तथा आगामी कुछ वर्षों के लिए बजट अनुमानों इत्यादि को ध्यान में रखा जाता है।
4. **प्रमापों की स्थापना-** निष्पादन बजट की क्रियाशीलता, निर्गत तथा निवेश के संबंध में मापन करने की तकनीक पर निर्भर करती है। अतः ऐसे प्रमाप निर्धारित किए जाते हैं जो लोचशील,व्यावहारिक, प्रभावी तथा त्रुटि रहित तथा विगत शोध एवं अनुभवों पर खड़े हो।
5. **बजट क्रियान्वयन-** निष्पादन बजट का मुख्य उद्देश्य कार्यक्रमों के क्रियान्वयन के द्वारा लक्ष्यों को प्राप्त करना होता है। अतः स्वीकृत बजट प्रावधानों की सूचना विभिन्न मंत्रालय, विभागों या संगठनों को दी जाती है, ताकि कार्यक्रमों एवं परियोजनाओं के क्रियान्वयन की कार्यवाही सफलतापूर्वक प्रारंभ हो सके। परंपरागत बजट के विपरीत इस प्रणाली में प्राप्त भौतिक उपलब्धियों पर विशेष ध्यान दिया जाता है। इस चरण में प्रबंधक एवं कार्यकारी अधिकारी इस बात का ध्यान रखते हैं कि बजट राशि का उपयोग उसी उद्देश्य के लिए किया जाए जिनके लिए इसका प्रावधान किया गया था।
6. **निष्पादन मूल्यांकन-** निष्पादन बजट का यह अंतिम चरण होता है। इस अंतिम चरण में परियोजना तथा कार्यक्रम की निष्पत्ति या परिणाम का मूल्यांकन किया जाता है। इस हेतु बीच-बीच में प्रगति रिपोर्ट तथा मॉनिटरिंग की निर्धारित प्रमाणों के अनुसार की जाती रहती है, किंतु अंतिम मूल्यांकन ही सफलता का निर्णय करता है तथा भविष्य के कार्यक्रमों के लिए आधार बनता है।

10.3.5 निष्पादन बजट के लाभ

आधुनिक प्रबंधकीय तकनीकों तथा व्यवसायिक बजट के संदर्भ में निष्पादन बजट प्रणाली को एक प्रभावी विधि के तौर पर जाना जाता है। इस संबंध में प्रोफेसर एस. एल. गोयल कहते हैं, "यह सरकारी कार्यकलापों को जनता एवं विधायिका को अधिक बोधगम्य प्रस्तुतिकरण के लिए बेहतर कार्यक्रम निर्धारण, निर्णयन, समीक्षा तथा नियंत्रण में सहायता करता है।" निष्पादन बजट के विभिन्न लाभों को अगर लिखित बिंदुओं में स्पष्ट रूप से समझाया जा सकता है-

1. यह उद्देश्यों के द्वारा प्रबंध को लागू करने का सशक्त माध्यम है।
2. निष्पादन बजट यह बताता है कि गत वर्ष कौन से कार्य पूरे किए गए और कितने खर्च पर। परिव्यय का ज्ञान विभिन्न कार्यों की तुलनात्मक मूल्यांकन में भी सहायक होता है।

3. यह प्रशासन में उत्तरदायित्व को सुनिश्चित करता है। कौन किस कार्य के लिए उत्तरदाई है तथा किस को क्या क्या अधिकार प्राप्त है।
4. यह दीर्घकालीन उद्देश्यों की पूर्ति का माध्यम है।
5. इससे प्राथमिकताओं के निर्धारण में सहायता मिलती है।
6. बजट से निष्पत्ति मूल्यांकन सहजता से हो जाता है।
7. निष्पादन बजट नियोजन, नियंत्रण तथा लागत लेखांकन में प्रबंध का महत्वपूर्ण उपकरण साबित होता है।
8. यह सरकारी व्यय का अत्यंत स्पष्ट रूप प्रस्तुत करता है। ऐसा करने से विकल्प निकालना भी आसान हो जाता है।

भारतीय प्रशासकीय सुधार आयोग ने भी निष्पादन बजट के कुछ लाभ बताएं जो इस प्रकार हैं-

- निष्पादन बजट उन उद्देश्यों और लक्ष्यों को पूर्ण स्पष्टता से प्रकट करता है, जिन पर व्यय किया जाना है।
- यह बजट कार्यक्रमों तथा उपलब्धियों पर केंद्रित रहता है। अतः यह स्पष्ट हो जाता है कि उपलब्धियां कितनी हुई तथा उन पर कितना धन खर्च हुआ।
- विधानमंडल निष्पादन बजट से सरकार के कार्यक्रमों को अच्छी तरह से समझ सकता है। इससे यह कार्यपालिका का सही रूप आंक सकता है,और उसकी आलोचना भी कर सकता है।
- निष्पादन बजट, बजट निर्माण एवं निर्णय प्रणाली में सुधार करता।
- इससे कार्यपालिका का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। साथ ही शासक वर्ग अपने वित्तीय कार्य करने में निष्पादन बजट को अति लाभ कर पाता है। साथ ही निष्पादन बजट प्रबंधन का एक उपकरण भी माना जाता है।
- निष्पादन बजट लेखा परीक्षण को अधिक उद्देश्य पूर्ण एवं प्रभावी बनाता है।

अमेरिकी राष्ट्रपति निष्पादन बजट को अत्यधिक महत्वपूर्ण मानते हुए इससे इसे अमेरिकी प्रशासन ने व्यापक रूप से लागू करवाया था। प्राथमिकता निर्धारण, सूक्ष्मता तथा निरंतरता के आधार पर राष्ट्रीय लक्ष्यों की पहचान, न्यूनतम लागत पर अधिकतम लाभ, भविष्य गामी सोच तथा व्यय एवं लाभ के अंतर संबंधों के क्रम में इसे महत्वपूर्ण विधि माना जाता है।

10.3.6 निष्पादन बजट की हानियां या सीमाएं

निष्पादन बजट अन्य सभी प्रक्रियाओं की तरह से पूर्ण रूप से त्रुटि रहित नहीं होता है। इस प्रणाली या बजटीय विधि की भी अपनी कुछ सीमाएं या हानियां हैं, जो कुछ इस प्रकार से हैं-

1. निष्पादन बजट स्पष्ट वर्गीकरण की मांग करता है जबकि वर्तमान लेखांकन पद्धति में व्यय शीर्षक विभाग अनुसार बनाए हुए हैं। भारत में व्यय के प्रकार पर ध्यान दिया जाता है ना कि व्यय के कार्यक्रम या उद्देश्य पर। निष्पादन बजट के लिए कार्यक्रम या क्रिया या उद्देश्य अनुसार वर्गीकरण आवश्यक है जो अभी प्रवर्तित नहीं है।
2. इस बजट के कार्यक्रमों तथा परियोजनाओं का परिमाणात्मक मूल्यांकन हो पाता है। गुणवत्तात्मक मूल्यांकन इसमें संभव नहीं है।
3. इस बजट यह प्रणाली में सुदृढ़, आधुनिक तथा त्वरित सूचना प्रणाली आवश्यक होती है जो अभी संगठनों में विकसित नहीं हो पाई है।

4. यह तकनीक पुलिस, कानून, कार्मिक तथा शोध इत्यादि कार्य क्षेत्रों की परियोजनाओं का सही-सही मापन नहीं कर सकती है, क्योंकि इनमें भौतिक निष्पत्ति दिखाई नहीं पड़ती है।
5. इस प्रणाली से प्रशासन, संगठन तथा संस्थाओं में व्याप्त अव्यवस्था गत कमियां दूर नहीं हो सकती है।
6. निष्पादन बजट के लिए ऐसे विभागों का होना आवश्यक है जो चित्र अनुसार कार्यक्रम या परियोजना चलाते हो किंतु व्यवहार में यह सब संभव नहीं है।
7. परियोजना के लागत-अनुमानों का निर्धारण करना कठिन एवं सम से भरा कार्य है जो प्रायः सटीक सिद्ध नहीं होता है, क्योंकि कई अन्य कारक प्रभाव दिखाते हैं।
8. मूल्यांकन की विधियां त्रुटि रहित नहीं है जबकि निष्पादन बजट का मूल उद्देश्य है उद्देश्य परक मूल्यांकन करना है।

इस प्रकार उपरोक्त वर्णन से यह तो स्पष्ट है कि निष्पादन बजट प्रणाली में भी अन्य प्रणालियों की भांति कुछ लाभ होते हैं तो कुछ हानियां भी होते हैं। परंतु इस प्रणाली की विभिन्न बाधाएं एवं सीमाएं वास्तव में इस प्रणाली की सीमाएं नहीं बल्कि प्रवृति प्रशासनिक व्यवस्था एवं उनकी प्रक्रियाओं की सीमाएं अधिक है। अतः प्रशासनिक सुधारों के माध्यम से निष्पादन बजट प्रणाली को प्रभावी ढंग से उपयोग में लाया जा सकता है।

10.4 शून्य आधारित बजट प्रणाली

शून्य आधारित बजट प्रणाली, बजट निर्माण के प्रबंध किए उपकरण के रूप में एक नवीनतम तकनीक है। इस तकनीक का प्रथम प्रयोग अमेरिका में सन 1962 में किया गया। अमेरिका के भूतपूर्व राष्ट्रपति जिम्मी कार्टर ने इस तकनीक का प्रयोग राज्य व्यय को नियंत्रित करने के लिए तब किया था जब वह जॉर्जिया के राज्यपाल थे।

शून्य आधारित बजट नियोजन तथा निर्णय की एक नई विधि है। यह विधि अमेरिका में ही विकसित हुई है। इस पद्धति के जनक एक निजी कंपनी के प्रबंधक पीटर ए. पेर माने जाते हैं जिन्होंने 'हार्वर्ड बिजनेस रिव्यू' पत्रिका में 'शून्य आधारित बजट' प्रणाली पर लेख लिखकर प्रशासकों, व्यवसायियों तथा उद्योगपतियों का ध्यान अपनी और आकर्षित किया था। टैक्सास इंस्ट्रूमेंट्र कॉरपोरेशन नामक कंपनी ने इसे सर्वप्रथम (1969) निजी क्षेत्र में लागू किया, जबकि सन 1973 में जॉर्जिया प्रांत के तत्कालीन गवर्नर जिम्मी कार्टर ने राज्य के बजट में शून्य आधारित बजट प्रणाली अपनाई। कार्टर जब संयुक्त राज्य अमेरिका के राष्ट्रपति बने तक संघीय सरकार के बजट में इस प्रणाली के प्रयोग के लिए 1979 में जनमत संग्रह करवाया था। उसके बाद वह प्रणाली अमेरिका के संघीय एवं कुछ प्रांतों के बजट में अपनाई गई। कनाडा में उसको पर्याप्त लोकप्रियता एवं समर्थन प्राप्त है जबकि भारत में राजीव गांधी सरकार के वित्त मंत्री वी.पी. सिंह ने वर्ष 1987-88 के बजट के लिए इस प्रणाली को अपनाने का प्रयास किया था। किंतु अभी तक इसका देश में व्यापक प्रचलन नहीं है। इससे पूर्व भारत में श्रीमती इंदिरा गांधी ने सन 1983 में विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी विभाग में शून्य आधारित बजट बनवाया था। जुलाई, 2000 में भारत सरकार ने सभी मंत्रालयों को शून्य आधारित बजट निर्मित करने तथा गैर योजना मद में 10प्रतिशत कटौती करने के निर्देश जारी किए थे।

10.4.1 शून्य आधारित बजट का अर्थ एवं परिभाषाएं

शून्य आधारित बजट, परंपरागत बजट से एकदम विपरीत होता है। परंपरागत बजट में पूर्व के समंको में हर वर्ष वृद्धि होती रहती है, जबकि शून्य आधारित बजट में हर बार शुरुआत से प्रारंभ की जाती है। उदाहरण के लिए परंपरागत बजट में किसी कार्यालय में कल्याण कार्यों के लिए गत वर्ष 200 करोड़ रुपए आवंटित किए गए थे तो इस वर्ष 250 या 400 करोड़ रुपए कर दिए जाते हैं, जबकि शून्य आधारित बजट में ऐसा नहीं होता बल्कि प्रत्येक वर्ष नए अनुमान लिखे जाते हैं तथा इनका औचित्य सिद्ध करना पड़ता है कि आखिर यह राशि क्यों आवश्यक है?

सरल शब्दों में, शून्य आधारित बजट निर्माण नीचे से बजट संबंधी प्रार्थना को न्यायसंगत ठहराने का मार्ग है, तथा वैकल्पिक कार्यक्रमों के पैकेजों के मूल्यांकन तथा कार्यक्रमों को क्रमानुसार व्यवस्थित करने की प्रक्रिया है। शून्य आधारित बजट प्रक्रिया की अलग-अलग विद्वानों द्वारा अनेक व्याख्या की जाती है। कुछ विद्वान यह मानते हैं कि यह एक ऐसी प्रक्रिया है जिसमें हर चीज को बाहर फेंक दिया जाता है और उसके बाद नए सिरे से हर वस्तु को प्रारंभ से शुरू किया जाता है या यह पहिए की फिर से खोज करने जैसा होता है स्पष्टत: यह धारणाएं ठीक नहीं है।
शून्य आधारित बजट वह बजट है जिसमें वर्ष भर के संपूर्ण कार्यक्रमों तथा व्ययों का मूल्यांकन किया जाता है। इसमें प्रत्येक प्रबंधक को अपने बजट की आवश्यकताओं का विस्तृत विवरण तर्कपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करना होता है। इसके अंतर्गत प्रत्येक विभागाध्यक्ष को ना केवल नवीन प्रस्ताव तथा कोषों का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है बल्कि जो कार्यक्रम एवं निधि जारी है उनका भी औचित्य सिद्ध करना पड़ता है। अतः प्रबंधक को अपने विभाग की चलने वाली एवं सभी नवीन गतिविधियों का पुनर्निरीक्षण करना पड़ता है।
प्रोफेसर आर. ए. मुसग्रेव इसे परिभाषित करते हुए कहते हैं कि, "एक दल बजट को केवल वृद्धि संबंधी परिवर्तनों की जांच करने के स्थान पर संपूर्ण बजट पर विचार करने का सुझाव देती है।"
पीटर ए. पेयर के शब्दों में, "यह एक परिचालन, नियोजन एवं बजटन की प्रक्रिया है जिसमें प्रत्येक प्रबंधक को अपनी संपूर्ण बजट मांगों के प्रारंभिक (शून्य आधार) से विस्तार में औचित्य सिद्ध करना होता है। प्रत्येक प्रबंधक यह बतलाता है कि वह आखिर कोई धनराशि क्यों व्यय करें। इस विचारधारा के अनुसार सभी क्रियाएं निर्णय पैकेज में अभिव्यक्त की जाती है, जिन्हें महत्व के अनुसार क्रम देकर सुव्यवस्थित विश्लेषण द्वारा मूल्यांकन किया जाता है।"
रोनाल्ड सी. वॉग के अनुसार, "शून्य आधारित बजट एक प्रबंधकीय उपकरण है जो सभी चालू या नवीन क्रियाओं एवं कार्यक्रमों के मूल्यांकन के लिए सुव्यवस्थित विधि प्रदान करता है, विवेकपूर्ण तरीके से बजट में कमी या वृद्धि स्वीकृत करता है तथा निम्न से उच्च प्राथमिकता वाले कार्यक्रमों में साधनों के पुनः आवंटन की स्वीकृति देता है।"
पीटर सारंत के अनुसार, "शून्य आधारित बजट एक ऐसी तकनीक है जो वर्तमान नियोजन, बजट एवं पुनर्निरीक्षण प्रक्रियाओं को परस्पर जोड़ती है और इन्हें पूर्ण बनाती है। यह चयनित लाभों की प्रभावी प्राप्ति हेतु सीमित साधनों की उपयोग की वैकल्पिक एवम् दक्ष विधियों की पहचान करती है। यह एक लचीली प्रबंध पद्धति है जो निधिकरण के औचित्य एवं व्यवस्थित पुनरीक्षण और चालू कार्यक्रमों या गतिविधियों के निष्पादन स्तरों पर संकेंद्रण द्वारा संसाधनों के पुनर्वितरण के लिए विश्वसनीय तर्काधार उपलब्ध कराती है।"
चार्ल्ज़ टी. हॉर्नग्रेन के शब्दों में "शून्य आधारित बजट एक विस्तृत एवं समय साध्य पद्धति है जिसमें प्रबंधकों को अपनी गतिविधियों एवं लागतो के औचित्यों को इस प्रकार सिद्ध करना पड़ता है मानो वे पहली बार प्रारंभ की जा रही है।"

10.4.2 शून्य आधारित बजट की विशेषताएं

उपरोक्त बताई गई विभिन्न परिभाषाओं के आधार पर शून्य आधारित बजट की कुछ विशेषताओं को निम्नांकित बिंदुओं के आधार पर दर्शाया जा सकता है-

1. इसमें बजट का निर्माण हर बार शून्य को आधार मानकर ही किया जाता है।
2. निर्णयन इकाई के प्रबंधक या उत्तरदाई अधिकारी को बजट आवंटन का औचित्य सिद्ध करना पड़ता है।
3. इसमें प्रत्येक क्रिया की निर्णयन खंडों में पहचान की जाती है।
4. निर्णयन खंडों को एक क्रम प्रदान किया जाता है।
5. लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर चयन किया जाता है।

6. बजट निर्णयन प्रक्रिया में सभी स्तर के अधिकारी भाग लेते हैं।
7. निर्णय खंडों को संस्था के उद्देश्यों के साथ जोड़ा जाता है।
8. उपलब्ध संसाधनों को विकल्पों के साथ जोड़कर श्रेष्ठ विकल्प का चयन किया जाता है।

10.4.3 शून्य आधारित बजट की प्रक्रिया

शून्य आधारित बजटिंग में दो मूल प्रश्न पर ध्यान केंद्रित किया जाता है-

- क्या वर्तमान क्रियाएं कुशल तथा प्रभाव कारी हैं?
- क्या वर्तमान क्रियाओं को समाप्त कर दिया जाए अथवा कम कर दिया जाए, ताकि उच्च प्राथमिकता वाले नए कार्यक्रमों को धन दिया जा सके अथवा वर्तमान बजट को कम कर दिया जाए?

शून्य आधारित बजट कार्य पद्धति में यह अनिवार्य है कि प्रत्येक संगठन अभी अपने सभी कार्यक्रम और क्रियाओं को चाहे वह चल रही है अथवा नयी हैं ,व्यवस्थित ढंग से उन पर पुनर्विचार करें और उनका मूल्यांकन करें, क्रियाओं पर पुनर्विचार उत्पादन अथवा उपलब्धि तथा लागत के आधार पर किया जाए, ताकि प्रबंध किए निर्णय करने पर बल दिया जा सके, संख्योन्मुख बजट बन सके और विश्लेषण को बढ़ाया जा सके। शून्य आधारित बजट प्रणाली एक दृष्टिकोण है। यह एक जड़ कार्यविधि नहीं है जिसको सभी संगठनों में समान रूप से लागू किया जा सके। इस प्रक्रिया को प्रत्येक संगठन की विशेष आवश्यकताओं के अनुरूप ढालना जरूरी होगा।

शून्य आधारित बजट के निर्माण के समय कतिपय विशिष्ट चरणों या अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है जिनका विवरण कुछ इस प्रकार से है-

1. **बजट उद्देश्य का निर्धारण-** इस बजट के निर्माण का प्रथम चरण उद्देश्य के निर्धारण से संबंधित है ताकि अन्य चरणों में उसके अनुसार कार्यवाही की जा सके। यह उद्देश्य लागत की कमी, किसी संयंत्र को हटाना या कमी या विस्तार करना या परिव्यय में कटौती करना इत्यादि से संबंधित हो सकते हैं।
2. **क्षेत्र का निर्धारण-** संगठन के संपूर्ण स्तरों या इकाइयों अथवा कुछ चुनिंदा इकाइयों में शून्य आधारित बजट को लागू करना इसके फैलाव क्षेत्र या प्रभावित क्षेत्र को इंगित करता है। अतः निर्माण के समय यह निर्धारित किया जाता है कि इस बजट प्रणाली का प्रभाव क्षेत्र कितना होगा।
3. **निर्णय इकाई का निर्धारण-** बजट निर्माण के इस चरण में संगठन को अनेक निर्णय इकाइयों में विभक्त किया जाता है तथा प्रत्येक निर्णय इकाई के प्रबंध को बजट प्रस्तावों का औचित्य सिद्ध करना होता है। निर्णय इकाइयों का विभाजन उत्पादन, बाजार, ग्राहक समूह, भौगोलिक क्षेत्र, पूंजी तथा परियोजना इत्यादि आधारो पर किया जाता है।
4. **निर्णय पैकेजों का विकास-** शून्य आधार बजट का अगला कदम है 'निर्णय पैकेज' का निर्माण। एक निर्णय पैकेज "एक प्रलेख है जो किसी विशेष गतिविधि की पहचान किस प्रकार प्रकट करता है कि प्रबंधन मूल्यांकन कर सके तथा इसकी अन्य गतिविधियों के प्रति कोई क्रम व्यवस्था कर सके।'' अर्थात इस महत्वपूर्ण चरण में प्रत्येक निर्णय इकाई का प्रबंधक अपनी क्रियाओं का विश्लेषण करता है तथा उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए वैकल्पिक विधियों की खोज करता है एवं विधियों की लागत-लाभ विश्लेषण के आधार पर जांच करता है। इसके पश्चात वह निर्णय पैकेज निर्मित कर लेता है। इस पैकेज में निर्णय, योजनाएं तथा उन पर होने वाले संसाधनों को सम्मिलित किया जाता है। इस प्रकार प्रत्येक प्रक्रिया के उद्देश्य, संसाधन, वैकल्पिक क्रिया विधियां, निष्पादन के माप, लाभ, विकल तथा हानि इत्यादि पैकेज में सम्मिलित रहती है। इस प्रकार इस निर्णय पैकेज में संपूर्ण जानकारियां एकत्र रहती हैं जिसमें तथ्यों की

पहचान, कार्यक्रम, उनकी संख्या, दिनांक, वैकल्पिक प्रविधियां, अदृश्य लाभ-हानि तथा सुगमता मूल्यांकन इत्यादि वर्णित होते हैं।

5. **निर्णय पैकेजों की क्रमबद्धता-** इस चरण में पूर्व में एकत्र किए गए विभिन्न निर्णय पैकेज महत्व, लाभ एवं उपादेयता की दृष्टि से घटते क्रम में क्रमबद्ध किए जाते हैं। प्रबंधकों द्वारा बनाई जाने वाली संबद्धता का एक उच्च अधिकार समिति द्वारा परीक्षण किया जाता है।
6. **बजट निर्माण-** इस अंतिम चरण में निर्णय पैकेजों को क्रम प्रदान करते हुए एक अंतिम बिंदु तय कर लिया जाता है। इस बिंदु तक आए सभी प्रस्ताव स्वीकृत किए जाते हैं जिनके लिए संसाधनों का आवंटन कर दिया जाता है।

वस्तुतः शून्य आधारित बजट प्रणाली कठोर परिश्रम तथा उच्च विश्लेषण क्षमता की मांग करती है अन्यथा यह विधि पूर्ण सफल नहीं हो पाती है।

10.4.4 शून्य आधारित बजट के लाभ

शून्य आधारित बजट एक क्रांतिकारी धारणा है तथा गतिविधियों की योजना बंदी और नियंत्रण के लिए अपेक्षाकृत एक नया प्रबंधन उपकरण है। यह एक संगठन सब तरह के लोगों में सहयोग पूर्ण भावना का प्रसार करता है। शून्य आधारित बजट पर आधारित योजनाएं एवं बजट पारंपरिक निर्माण पर आधारित बजट की तुलना में बहुत सुधरे हुए होते हैं।

शून्य आधारित बजट के कुछ लाभ निम्नानुसार बताए जा सकते हैं-

1. यह प्रबंधन को कार्यक्रम के अधिकार क्षेत्र के अनुसार कोष निर्धारित करने के योग्य बनाता है। विभिन्न गतिविधियों के लिए प्राथमिकता आधारित की जाती है तथा उनका क्रियान्वयन भी उसी क्रम में होता है।
2. शून्य आधारित बजट निर्माण प्रबंध की कौशल पूर्णता में सुधार लाता है। प्रत्येक प्रबंधक को साधनों से संबंधित अपनी मांग को न्यायोचित साबित करना होता है। केवल वही कार्य आरंभ किए जाते हैं जो तर्क संगत है तथा व्यापार के लिए आवश्यक है।
3. बजट की सहायता से मितव्यई और व्यर्थ था उन क्षेत्रों की पहचान की जा सकती है। मितव्ययी गतिविधियों को प्राथमिकता दी जाती है तथा कार्य के वैकल्पिक मार्ग का भी अध्ययन किया जाता है।
4. इस बजट के माध्यम से प्रबंध साधनों का अनुकूलतम प्रयोग किया जा सकता है। वह तभी किया जाता है जब वह तर्कसंगत सिद्ध हो जाता है। प्राथमिकताओं की एक सूची के आधार पर लागत लाभ विश्लेषण प्राथमिकता निर्धारित करने का मार्गदर्शन इसके द्वारा प्राप्त होता है।
5. यह बजट उन क्षेत्रों में बहुत उचित होता है जहां उपज को उत्पादन से संबंधित नहीं किया जाता है। उन दिशाओं के निष्पादन का मूल्यांकन कठिन हो जाता है जो स्पष्ट रूप से उत्पादन से संबंधित ना होकर अन्य गतिविधियों में व्यस्त होती है। यह तकनीक व्यापार की प्रत्येक गतिविधि की उपयोगिता निर्धारित करने में सहायक होती है।
6. इस बजट प्रारूप के द्वारा बजट निर्माण को संगठनात्मक लक्ष्यों से संबंधित किया जा सकता है। कोई भी कार्य इस आधार पर नहीं करने दिया जा सकता कि वह भूतकाल में भी होता था। केवल उन्हीं कार्यों की इस बजट के द्वारा अनुमति दी जाती है जो कि संस्थागत लक्ष्यों की प्राप्ति में सहायक होते हैं।
7. यह तकनीक उपलब्ध विकल्पों का तर्क संगत विश्लेषण करती है तथा संसाधनों का आवंटन भी प्राथमिकता के अनुसार ही करती है।
8. इस तकनीक में प्रबंधकों द्वारा हाथ में लिए जाने वाले सभी कार्यक्रमों को महत्वपूर्ण मानते हुए उन्हें भली-भांति क्रियान्वित करने पर बल दिया जाता है।

9. यह पद्धति लागत नियंत्रण पर बल देती है।
10. इसमें उत्तरदायित्व लेखांकन का प्रयोग होता है। अतः निर्णय इकाइयों के प्रबंधक बजट कार्यक्रमों के लिए उत्तरदाई ठहराया जा सकते हैं।
11. यह प्रणाली बजट तथा संगठन को उद्देश्यों के साथ जोड़ती है। संगठन के उद्देश्यों के विपरीत कोई बजट में संभव नहीं है।
12. यह तकनीक 'उद्देश्यों के द्वारा प्रबंध' को लागू करने एवं उसके क्रियान्वयन को प्रयोग में लाती है।
13. इसमें अनुवर्तन एवं पुनरीक्षण पर अधिक बल दिया जाता है।

10.4.5 शून्य आधारित बजट की हानियां/सीमाएं

विभिन्न लाभों के बावजूद इस विधि में कुछ रुपया भी है, जो कि मुख्यतः शून्य आधारित बजट के क्रियान्वयन की कठिनाइयों से उत्पन्न होती है। इन सीमाओं का वर्णन कुछ इस प्रकार है-

1. यह प्रणाली अत्यधिक समय, श्रम तथा उच्च विश्लेषण समता की मांग करती है।
2. इस प्रणाली में समन्वय एवं संचार की समस्या सभी प्रशासनिक संगठनों के बनी रहती है।
3. इस तकनीक पर निर्णय इकाइयों की पहचान एक जटिल कार्य होता है।
4. तर्कसंगत निर्णयों की पहचान करना तथा निर्णय पैकेजों का निर्धारण करना भी एक समस्या होती है।
5. निर्णय पैकेजों को क्रमबद्ध करना भी सहज नहीं होता है, क्योंकि एक निर्णय कई कारणों से प्रेरित रहता है। कम लागत तथा मितव्ययिता के निर्णय विकास को प्रभावित करते हैं।
6. शून्य आधारित बजट पर नियंत्रण करता है किंतु इसमें आय पक्ष की उपेक्षा की गई है।
7. इस तकनीक में प्राथमिकता क्रम निर्धारित होने से निम्न प्राथमिकता की इकाई एवं उसके कार्मिक छटनी की समस्या का सामना करते हैं।
8. इस तकनीक सफलता उच्च प्रशिक्षण तथा कुशल प्रबंधकों पर निर्भर करती है।
9. प्रभावी सूचना प्रणाली के अभाव में शून्य आधारित बजट प्रणाली अल्प प्रभावी हो जाती है।

उपरोक्त सभी समस्याओं के अतिरिक्त गार्ड पीटर्ज़ दो समस्याओं का उल्लेख करते हैं जो शून्य आधारित बजट की राजनीतिक मान्यता को सीमित करती है। प्रथम, यह स्पष्ट है कि संगठन यह नहीं चाहते कि बाहर वाले यह जान पाए कि उनको जीवित रहने के लिए कितना न्यूनतम खर्च आवश्यक है। दूसरा, यदि परिकल्पना यह है कि किसी संगठन के लिए जीवित रहने के लिए न्यूनतम खर्च को प्रतिवर्ष चुनौती दी जा सकती है तो राजनीतिक झगड़े स्थाई बन जाएंगे और पुराने झगड़े प्रति वर्ष प्रारंभ हो जाया करेंगे। इससे ऐसे सामाजिक कार्यक्रमों को खतरा हो जाएगा जिनको शक्तिशाली जनसमर्थन प्राप्त नहीं है। इसके अतिरिक्त मुख्य समस्या उस खतरे की भी है जो कई नौकरशाह उस प्रक्रिया में महसूस करते हैं जो उनके कार्यक्रम की प्रभावकारिता का मूल्यांकन करती है। इसके अतिरिक्त शून्य आधारित बजट के लिए एक प्रभाव कारी प्रशासन संचार साधन तथा प्रबंधकों के प्रशिक्षण की आवश्यकता होती है, जिनको विश्लेषण में लगाया जाएगा।

शून्य आधारित बजट को वित्तीय ढीलेपन के लिए एक का उपचार समझना खतरनाक होगा। अमेरिका के उद्योग में शून्य आधारित बजट की सफलता मुख्यतः उसके लाभ प्राप्ति के लक्ष्य और संगठनात्मक लचीलेपन के कारण है। यह दोनों तत्व की सरकारी पर्यावरण में काम नहीं करते हैं। इसके अलावा नौकरशाही स्वभाव विकास- तरंग में ढला होता है और पहले से बड़े बजट की मांग करता है,ना कि अधिक चुनौतीपूर्ण कार्य की। एक और बात भी है- राजनीतिक दबावों का वित्तीय निर्णय करने पर शक्तिशाली प्रभाव शून्य आधारित बजट के भविष्य को बहुत अनिश्चित बना देता है।

10.5 निष्कर्ष

कार्य निष्पादन बजट को सामान्य तरह समझा जाता है कि यह एक ऐसी व्यवस्था है, जिसमें सार्वजनिक खर्च को कार्यों, कार्यक्रमों, कार्यान्वयन इकाइयों अर्थात क्रियाओं, परियोजना आदि की शब्दावली में प्रस्तुत करता है जो प्राथमिक तौर पर सरकार के उत्पादन अथवा निर्गत तथा इसकी लागत को प्रतिबिंबित करता है।

कार्य निष्पादन अथवा कार्यक्रम बजट की भांति जीरो बेस बजट भी युक्ति प्रधान बजट होता है। इसे निजी क्षेत्र से लोक प्रशासन में अपनाया गया है जो अभी तक संयुक्त राज्य अमेरिका तक ही सीमित रहा है। शून्य आधारित बजट एक उभरती हुई प्रक्रिया है जिसे अमेरिका में विभिन्न प्रकार के औद्योगिक संगठन तथा राज्य और नगर की सरकारों ने अपनाया है।

अभ्यास प्रश्न-

1. मोटे तौर पर बजट के कितने प्रकार होते हैं?
2. निष्पादन बजट प्रणाली के कोई दो और प्रचलित नामों को बताइए।
3. निष्पादन बजट की प्रक्रिया के कोई दो चरण लिखिए।
4. शून्य आधारित बजट प्रणाली का सबसे प्रथम बार उपयोग कहां किया गया था?
5. निजी क्षेत्र में शून्य आधारित बजट का प्रयोग सबसे प्रथम बार कब किया गया था?

10.6 सारांश

निष्पादित बजट में अंतिम सेवाओं को कार्य भारत पर निष्पत्ति की इकाइयों में बांट दिया जाता है, जिससे परिणाम की इकाइयां उपलब्ध हो जाती हैं तथा इनका कार्यक्रमों के उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए श्रम एवं सामग्री के निवेश की गणना करने के लिए प्रयोग किया जाता है। एक बार उद्देश्य तथा इकाइयां स्पष्ट हो जाने पर लेखांकन तथा अंकेक्षण के द्वारा प्रभावी नियंत्रण रखा जा सकता है। भारत तथा दूसरे देशों में परंपरागत बजट की प्रक्रिया के अधीन प्रथा यह है कि यह जाने बिना की क्या योजना अच्छी तरह चल रही है अथवा नहीं और क्या इसको जारी रखना उचित भी है अथवा नहीं, बड़ा स्त्री के आधार पर ध्यान दे दिया जाता है। शून्य आधारित बजट प्रक्रिया में योजना के प्रभाव, लक्ष्यों, निशानों, उपलब्धि के मानकों, मूल्यांकन और विभिन्न प्रकार की क्रिया संबंधी पारस्परिक तुलना में संबंधित भारी मात्रा में संख्यात्मक आंकड़ों की आवश्यकता होती है। भारत की स्थिति में शून्य आधारित बजट की सहायता से सरकार बड़ी संख्या में ऐसी योजनाओं और उनसे संबंधित उपक्रमों को समाप्त कर सकती है, चाहे वह वार्षिक योजना में सम्मिलित की गई हैं अथवा नहीं, जबकि उनकी उपयोगिता समाप्त हो चुकी है अथवा कर्मचारियों तथा संरचना पर पूंजी लगाने के बावजूद भी वह प्रभावकारी ढंग से शुरू नहीं हो पायी। यदि इस प्रक्रिया को ठीक प्रकार से लागू किया गया तो इससे केंद्रीय सरकार के राजस्व खाते में जो भारी घाटे की प्रवृत्ति चल रही है, उसको बदलने में सहायता मिलेगी।

10.7 शब्दावली

निर्गत- निर्यात (output), निवेश- आयात (input), समंक संकलन- समंको को एकत्रित किया जाना, मानव श्रम- शारीरिक तथा मानसिक श्रम, प्रमाप- साक्ष्य, पुनरीक्षण- दोबारा देखना या पुनरावलोकन, विगत- बीता हुआ निष्पत्ति- आविर्भाव या उत्पत्ति, पूर्णता, बोधगम्य- समझ में आने लायक, परिव्यय- खर्च, लागत, परिमाणात्मक मूल्यांकन- Quantitative Evaluation, गुणवत्तात्मक मूल्यांकन- Qualitative Evaluation

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. 4, **2.** कार्यक्रम बजट और आउटकम बजट, **3.** लक्ष्य एवं उद्देश्यों का निर्धारण तथा कार्यक्रमों का निर्धारण,**4.** अमेरिका, **5.** 1969

10.9 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. कटारिया, सुरेंद्र. 2009. भारतीय लोक प्रशासन; नेशनल पब्लिशिंग हाउस, जयपुर, नई दिल्ली।
2. लेखी, आर.के. 2009. लोक वित्त; कल्याणी पब्लिशर्स, लुधियाना।
3. दुबे, आर. के.2004. आधुनिक लोक प्रशासन; लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा।

10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. शर्मा, सदाना, कौर. 2015.लोक प्रशासन सिद्धांत एवं व्यवहार; किताब महल, नई दिल्ली।
2. शर्मा, प्रभु दत्त, 2007. प्रशासनिक सिद्धांत; कॉलेज बुक डिपो, जयपुर।

10.11 निबन्धात्मक प्रश्न

1. निष्पादन बजट का अर्थ एवं परिभाषा बताते हुए एक टिप्पणी लिखिए।
2. निष्पादन बजट के विभिन्न लाभ एवं हानियां/ सीमाओं का वर्णन कीजिए।
3. शून्य आधारित बजट प्रणाली का अर्थ एवं विशेषताएं बताइए।
4. शून्य आधारित बजट प्रणाली की विभिन्न समस्याएं बताइए।

इकाई- 11 राजस्व के स्रोत कर एवं करों के अतिरिक्त आय

इकाई की संरचना

11.0 प्रस्तावना
11.1 उद्देश्य
11.2 लोक वित्तः परिचय
    11.2.1 राजस्व का विकास
11.3 लोक वित्त का क्षेत्र
11.4 सार्वजनिक आय: आशय और श्रोत
    11.4.1 करः परिभाषा व विशेषताएं
    11.4.2 वैट (मूल्य वर्धित कर प्रणाली) क्या है?
    11.4.2.1 वैट के अन्तर्गत कर-दायित्व
    11.4.2.2 वैट का औचित्य/प्रचलन के कारण
    11.4.2.3 वैट की विशेषताएं
    11.4.2.4 वैट का परम्परागत कर प्रणाली से श्रेष्ठता
    11.4.2.5 वैट के गुण व दोष
11.4.3 वस्तु व सेवा कर Goods and Services Tax (GST)
    11.4.3.1 वस्तु एंव सेवा कर के अंतर्गत वस्तुओ और सेवाओ पर कर की दरें
    11.4.3.2 इनपुट टैक्स क्रेडिट
    11.4.3.3 वस्तु एंव सेवाकर के अर्न्तगत रिवर्स चार्ज तंत्र
    11.4.3.4 जी0एस0टी0 रिटर्न समय पर न दाखिल करने पर लेट फीस सम्बन्धित नियम
11.5 सार्वजनिक आय का वर्गीकरण
11.6 करों के अतिरिक्त आय
    11.6.1 शुल्क
    11.6.2 लाइसेन्स शुल्क
    11.6.3 जुर्माना
    11.6.4 विशेष निर्धारण
    11.6.5 मूल्य
11.7 सारांश
11.8 शब्दावली
11.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.10 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
11.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.12 निबन्धात्मक प्रश्न

11.0 प्रस्तावना

लोक वित्त में हम सरकार द्वारा व्यय करने तथा इसके लिए धन जुटाने से सम्बन्धित उद्देश्यों, सिद्धान्तों, समस्याओं तथा परिणामों का अध्ययन करते हैं। आज विभिन्न देशों में लोकतान्त्रिक व्यवस्था है जिसमें राजा का स्थान जनता

के चुने हुए प्रतिनिधियों ने ले लिया है। लोकतन्त्र में जनता से लिया गया कर जनता के हित में प्रयोग किया जाता है तब 'राजस्व' का अर्थ 'राजा का धन न रहकर' 'जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों का धन' हो जाता है। अतः 'राजस्व' के लिए 'लोक वित्त' शब्द का प्रयोग अधिक उपयुक्त होगा। सत्य तो यह है कि आज की लोकतान्त्रिक व्यवस्था में 'राजस्व' विकसित होकर 'लोक वित्त' बन गया है। सार्वजनिक व्यय करने के लिए आवश्यक धन-राशि जुटाना नितांत आवश्यक है। अतः सार्वजनिक आय भी राजस्व का प्रमुख अंग है। इस इकाई में आप राजस्व की प्रकृति व क्षेत्र, सार्वजनिक आय का अर्थ, श्रोत व वर्गीकरण का अध्ययन करेंगे साथ ही वैट का आशय, विशेष ताएं व गुण-दोषों, वस्तु व सेवा कर, व करों के अतिरिक्त आय के बारे में भी जानेगे।

11.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- राजस्व की प्रकृति व क्षेत्र क्या है, को समझ सकें।
- सार्वजनिक वित्त और निजी वित्त में क्या अन्तर है, को स्पष्ट कर सकेंगे।
- सार्वजनिक आय के अर्थ, श्रोत व वर्गीकरण को स्पष्ट कर सकेंगे।
- वैट का आशय, विशेषताएं व गुण-दोषों का वर्णन कर सकेंगे।
- वस्तु व सेवा कर को स्पष्ट कर सकोगे।
- करों के अतिरिक्त आय की व्याख्या कर सकोगे।

11.2 लोक वित्तः परिचय

लोक वित्त के लिए 'राजस्व' शब्द का प्रयोग किया जाता रहा है। 'राजस्व' शब्द दो शब्दों से मिलकर बना है: राजन् + स्वः, जिसका अर्थ होता है- 'राजा का धन' राजतन्त्र में राजा समाज का प्रमुख होता था, अतः 'राजस्व' वास्तव में राजा का धन होता था। राजा जो कर वसूल करता था वह उसकी सम्पत्ति मानी जाती थी और वह उसको मनमाने ढंग से व्यय कर सकता था। न तो उसे बजट बनाने की आवश्यकता थी, नहीं किसी के अनुमति की।

अंग्रेजी शब्द 'Public Finance' भी दो शब्दों से मिलकर बना है, Public तथा Finance यहाँ 'Public' शब्द से तात्पर्य है, Public Authorities (सार्वजनिक सत्तायें अथवा सरकारें) तथा 'Finance' शब्द का अर्थ है- आय प्राप्त करना तथा व्यय करना।

डाल्टन के अनुसार, ''लोक वित्त सार्वजनिक अधिकारियों के आय तथा व्यय एवं इनके पारस्परिक समन्वय का अध्ययन है।''

भारत के प्रमुख प्रोफेसर, फिन्डले सिराज के अनुसार, लोक वित्त का सम्बन्ध सार्वजनिक अधिकारियों द्वारा आय प्राप्त करने व व्यय करने के तरीके से है।''

सार्वजनिक अधिकारियों से अभिप्राय विभिन्न प्रकार की सरकारों से होता है, उदाहरणार्थ भारतवर्ष में सार्वजनिक अधिकारियों के अन्तर्गत केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें तथा स्थानीय सरकारें जैसे- नगर निगम, नगर पालिकायें, जिला परिषद, ग्राम पंचायतें आदि सम्मिलित हैं।

आधुनिक काल में सरकारों की आय-व्यय लगभग पूर्णतया धन के रूप में ही होती है। अमौद्रिक आय-व्यय की मात्रा नगण्य होती है।

लोक वित्त को कुछ अन्य नामों से भी पुकारा गया है, जैसे- सार्वजनिक वित्त, राजकीय वित्त, राजस्व।

11.2.1 राजस्व का विकास

प्राचीन काल में राजस्व- राजस्व की विचारधारा को लगभग उतना ही प्राचीन कहा जा सकता है, जितना प्राचीन 'स्वयं' 'राज्य' का अस्तित्व है। भारत, मिश्र, यूनान आदि प्राचीन देशों में राजस्व के नियमों व नीतियों का प्रादुर्भाव हो गया था। प्राचीन सभ्यताओं की राजस्व प्रणालियाँ प्रमुखतः पराजित देशों से वसूल किये गये करों पर निर्भर करती थी। इसके अलावा, अप्रत्यक्ष कर, जैसे भूमि हस्तांतरणों तथा व्यापारिक सौदों पर कर भी लगाये जाते थे। रोम साम्राज्य में उत्तराधिकार कर तथा सामान्य बिक्री कर भी लगाया जाता था।

भारत में 'मनुस्मृति' तथा चाणक्य के अर्थशास्त्र में हमें करारोपण तथा राजकीय व्यय की व्यवस्था के बारे में सिद्धान्तों का विवरण मिलता है। ग्रीक युग की एक छोटी पुस्तक 'Athenian Revenues' जिसके लेखक Xenophon थे उल्लेखनीय है। प्लेटो तथा एरिस्टाटिल के लेखों में भी राजकोषीय विषयों पर टिप्पणियाँ प्राप्त होती हैं। रोम के इतिहासकारों के लेखों में भी रोमन राजकोषीय प्रणालियों का विश्लेषण तथा समालोचना मिलती है। सत्रहवीं शताब्दी में इग्लैंड में व्यापारवादियों ने करारोपण के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त किए; इस सम्बन्ध में सर बिलियम पेट्ठी (Shri William Petty) की कृति Treastise of Taxes and Contributions (1662) उल्लेखनीय है।

18वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एडम स्मिथ ने राजस्व के सिद्धान्तों को एक और व्यवस्थित रूप प्रदान किया। उन्होंने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'वैल्थ आफ नेशन्स' (1776) में राजस्व सम्बन्धी विषयों पर अपने विचार प्रगट किए। एडम स्मिथ ने सार्वजनिक व्यय का विस्तृत विश्लेषण किया तथा सार्वजनिक ऋण पर सर्वप्रथम अपने विचार प्रस्तुत किए। बीसवीं शताब्दी में, विशेष कर, तीसा (1930's) के महामन्दी काल के बाद आर्थिक जीवन के विभिन्न क्षेत्रों व पहलुओं में राज्य का हस्तक्षेप स्वीकार किया गया तथा फलस्वरूप राजस्व के अध्ययन को विशेष महत्व प्राप्त हो गया। जनतन्त्रात्मक गणराज्यों के उद्भव, समाजवादी विचाराधारा की प्रधानता तथा विश्व के विभिन्न भागों में होने वाली राजनैतिक व आर्थिक क्रान्तियों ने एक अधिक प्रगतिशील आय-नीति तथा अधिक उदार राजकीय व्यय-नीति को जन्म दिया।

राजस्व का उद्देश्य अब सरकार के लिए धन एकत्र करना मात्र नहीं रहा, बल्कि आर्थिक स्थायित्व प्राप्त करने, आर्थिक विकास को प्रोत्साहन देने, सामाजिक न्याय प्राप्त करने और पूर्ण रोजगार की स्थिति लाने का उसे एक शक्तिशाली साधन माने जाने लगा। इस सम्बन्ध में कीन्स, हैन्सन एवं लर्नर के विचार उल्लेखनीय है। कीन्स एवं हैन्सन ने राजकोषीय नीति (Fiscal Policy) के महत्व को बताया। तद्नुसार, यह आवश्यक माना गया कि उपभोग में स्थायित्व लाया जाय और उसका उपयुक्त ढंग से नियमन हेतु क्षतिपूरक कार्यवाही की जाय।

लर्नर, जिन्होंने 'क्रियाशील वित्त के सिद्धान्त' का प्रतिपादन किया बताया, कि करारोपण का उद्देश्य सार्वजनिक वित्त के लिए केवल वित्त एकत्रित करना मात्र नहीं है बल्कि इसका मूल उद्देश्य मुद्रा-स्फीति को रोकना है। इसी प्रकार सार्वजनिक व्यय का उद्देश्य कुछ वांछनीय दिशाओं में सरकारी धन को खर्च करना न होकर देश में पूर्ण रोजगार की अवस्था को प्राप्त करना है।

11.3 लोक वित्त का क्षेत्र

लोक वित्त के क्षेत्र का वर्णन निम्न प्रकार से है-

1. **सार्वजनिक व्यय-** अपने कार्यों को पूरा करने के लिए सरकार जो धन-राशि व्यय करती है, उसे सार्वजनिक व्यय कहते हैं। आधुनिक युग में सरकारें बहुत अधिक मात्रा में तथा अनेकों विषयों पर व्यय करती हैं, अतः सार्वजनिक व्यय राजस्व का एक प्रमुख विभाग हैं।

   इस विभाग के अन्तर्गत जिन बातों का अध्ययन किया जाता है उनमें से प्रमुख निम्न हैं-

- किन-किन मदों पर सरकारी व्यय होना चाहिए और किन पर नहीं अर्थात् सार्वजनिक व्यय का क्षेत्र।
- सार्वजनिक व्यय कितने प्रकार के होते हैं अर्थात् सार्वजनिक व्यय का वर्गीकरण।
- सार्वजनिक व्यय करने में किन-किन बातों का ध्यान रखना चाहिए अर्थात् सार्वजनिक व्यय के सिद्धान्त।
- सार्वजनिक व्यय का देश के उत्पादन तथा आर्थिक वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है अर्थात् सार्वजनिक व्यय के प्रभाव।

2. **सार्वजनिक आय-** सार्वजनिक व्यय करने के लिए आवश्यक धनराशि जुटाना नितांत आवश्यक है। अतः सार्वजनिक आय भी राजस्व का प्रमुख अंग है। सार्वजनिक आय से अभिप्राय सरकार द्वारा प्राप्त किये गये उस धन में से है जिसकी कि वापसी नहीं की जाती।
वे प्रमुख बातें जिनका अध्ययन इस विभाग के अन्तर्गत किया जाता है, निम्न हैं-
   - सार्वजनिक आय के कौन-कौन से साधन हैं अर्थात् सार्वजनिक आय का वर्गीकरण।
   - कर, जो कि सार्वजनिक आय का एक प्रमुख साधन है, कितने प्रकार के होते हैं, अर्थात् कर का वर्गीकरण।
   - कर लगाने में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए अर्थात् करारोपण के सिद्धान्त।
   - जनता की कर देने की शक्ति से क्या तात्पर्य हैं और यह किन-किन बातों पर निर्भर करती है अर्थात् करदेय क्षमता का अर्थ तथा उसके निर्धारक तत्व।
   - किन कारणों से एक करदाता कर का भार किसी अन्य व्यक्ति पर डालने में सफल होता है अर्थात् कर विवर्तन के तत्व।
   - सार्वजनिक आय का देश के उत्पादन तथा आर्थिक वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है अर्थात् सार्वजनिक आय के प्रभाव।

3. **सार्वजनिक ऋण-** सार्वजनिक ऋण भी राजस्व का एक महत्वपूर्ण विभाग है, क्योंकि सार्वजनिक व्यय की पूर्ति के लिए आवश्यक धनराशि जुटाने में सरकार को बहुधा देश-विदेश से ऋण भी लेना पड़ता है। सार्वजनिक ऋण की एक प्रमुख विशेषता यह है कि सरकार को ऋण के रूप में प्राप्त धनराशि की वापसी भी करनी पड़ती है और साधारणतया वापसी की तिथि तक के लिए ब्याज भी चुकाना पड़ता है।
सार्वजनिक ऋण से सम्बन्धित जिन बातों का अध्ययन इस विभाग में किया जाता है, उसमें से निम्न उल्लेखनीय हैं-
   - किन-किन परिस्थितियों में सरकार के लिए ऋण लेना वांछनीय होगा अर्थात् सार्वजनिक ऋण का क्षेत्र।
   - सार्वजनिक ऋण कितने प्रकार के होते हैं, अर्थात् सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण।
   - किन दशाओं में ऋण लेना अधिक उपयुक्त होगा और किन दशाओं में कर लगाना अर्थात् ऋण और कर की तुलना।
   - किन दशाओं में देश के भीतर से ऋण लेना अधिक उपयुक्त होगा और किन में विदेशों से अर्थात् आन्तरिक तथा वाह्य ऋण की तुलना।

- घाटे का वित्त प्रबन्ध क्या होता है, किस सीमा तक घाटे का वित्त प्रबन्ध किया जा सकता है और उसके क्या प्रभाव होते हैं अर्थात् घाटे के वित्त प्रबन्ध का अर्थ, सीमा तथा प्रभाव।
- ऋण की वापसी के कौन से तरीके हैं और उनमें से हर एक के क्या गुण व दोष है अर्थात् सार्वजनिक ऋण के शोधन के सिद्धान्त।
- ऋण के क्या प्रभाव होते हैं?

4. **वित्तीय प्रशासन-** वित्तीय प्रशासन से अभिप्राय उस शासन-व्यवस्था एवं संगठन से है जिसकी स्थापना सरकार अपनी विभिन्न क्रियाएं करने के लिए करती हैं।
   वित्तीय प्रशासन के अन्तर्गत निम्न प्रमुख प्रश्नों के बारे में अध्ययन किया जाता है-
   - बजट किस प्रकार तैयार, पास तथा कार्यान्वित किया जाता है?
   - विभिन्न करों का एकत्रण किन-किन अधिकारियों तथा संस्थाओं द्वारा होता है?
   - व्यय विभागों का संचालन क्यों कर होता है?
   - सार्वजनिक लेखों के लिखने तथा उनके आडिट के लिए कौन-कौन से विभाग तथा अधिकारी होते हैं तथा उनके क्या-क्या अधिकार तथा उत्तरदायित्व हैं?
     वेस्टेबल ने राजस्व के इस विभाग की आवश्यकता तथा महत्व पर विशेष बल दिया है। उनके अनुसार कोई भी वित्त की पुस्तक पूर्ण नहीं कही जा सकती, जब तक कि वह वित्तीय प्रशासन और बजट की समस्याओं का अध्ययन नहीं करती।
5. **राजकोषीय नीति-** राजकोषीय नीति का अर्थ है कि कुछ आर्थिक उद्देश्यों जैसे आर्थिक स्थायित्व (Economic Stibilcation) व आर्थिक विकास (Economic Development) की पूर्ति के लिए करारोपण, सार्वजनिक व्यय तथा सार्वजनिक ऋण का उपभोग करना। अतः राजस्व के इस विभाग के अन्तर्गत इस बात का अध्ययन किया जाता है कि देश में आर्थिक स्थिरता लाने के लिए अथवा आर्थिक विकास के लिए राजकोषीय नीति का उपयोग किस प्रकार किया जाता है। राजकोषीय नीति के अध्ययन की महत्ता सन् 1930 की महामन्दी के पश्चात् आरम्भ हुई। आधुनिक युग में राजकोषीय नीति का महत्व राजस्व के पश्चात् आरम्भ हुई। आधुनिक अर्थशास्त्रियों द्वारा स्वीकार किया जाने लगा है। यह बात अब समान रूप से स्वीकार की जाती है कि विकसित अर्थव्यवस्थाओं की मुख्य समस्या व्यावसायिक दशाओं (business conditions) में स्थिरता लाने (stability) की होती है, जबकि अविकसित व अल्पविकसित अर्थव्यवस्था की मुख्य आर्थिक समस्या तीव्र आर्थिक विकास है। इन दोनों ही समस्याओं के हल में राजकोषीय नीति का सकरात्मक व महत्वपूर्ण योगदान होता है।

11.4 सार्वजनिक आय: आशय व श्रोत

सार्वजनिक आय से अभिप्राय सरकार द्वारा प्राप्त किये गये उस धन से है जिसकी कि वापसी नहीं की जाती।
वे प्रमुख बातें जिनका अध्ययन इस विभाग के अन्तर्गत किया जाता है निम्न हैं-

1. सार्वजनिक आय के कौन-कौन से साधन है, अर्थात् सार्वजनिक आय का वर्गीकरण;
2. कर, जो कि सार्वजनिक आय का एक प्रमुख साधन है, कितने प्रकार के होते है, अर्थात् कर का वर्गीकरण;
3. कर लगाने में किन-किन बातों पर ध्यान देना चाहिए, अर्थात् करारोपण के सिद्धान्त;

4. जनता की कर देने की षक्ति से क्या तात्पर्य है और यह किन-किन बातों पर निर्भर करती है, अर्थात् करदेय क्षमता का अर्थ, तथा उसके निर्धारक तत्व;
5. किन कारणों से एक करदाता कर का भार, किसी अन्य व्यक्ति पर टालने में सफल होता है अर्थात् कर विवर्तन के तत्व;
6. सार्वजनिक आय का देश के उत्पादन तथा आर्थिक वितरण पर क्या प्रभाव पड़ता है अर्थात् सार्वजनिक आय के प्रभाव।

11.4.1 करः परिभाषा व विशेषताऐं

कर को कुछ दशाओं में ड्यूटी अथवा इम्पोस्ट भी कहते हैं। विभिन्न लेखकों ने कर की परिभाषा विभिन्न प्रकार से दी है। कुछ उल्लेखनीय परिभाषाएं निम्न हैं-

सेलिगमैन के शब्दों में, कर व्यक्तिओं द्वारा सरकार को दिया जाने वाला वह अनिवार्य भुगतान है, जो सरकार बिना किसी फायदे के सार्वजनिक हित में व्यय करती है।

इन परिभाषाओं से कर के बारे में निम्न प्रमुख बातें स्पष्ट होती हैं-

कर, करदाता को अनिवार्य रूप से देना होता है, करदाताओं की इच्छा पर यह निर्भर नहीं करता, कि वे कर देंगे या नही।

कर से प्राप्त धन-राशि को लोकहित एवं जन-कल्याण के लिए व्यय किया जाता है, न कि किसी व्यक्ति विशेष या स्वयं करदाता की ही सेवा के लिये, उदाहरणार्थ, विदेशी आक्रमण से सुरक्षा पर व्यय।

कर के बदले में सरकार करदाता को कोई प्रत्यक्ष वस्तु या सेवा नहीं देती अर्थात करदाता के त्याग और सरकारी व्यय से मिलने वाले लाभ में कोई समान तथा प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं होता। उदाहरण के लिए, सरकार इस बात का वचन नहीं देती कि जो उत्पादन शुल्क सूती कपड़े से मिलेगा वह उस उद्योग पर ही व्यय कर दिया जायेगा। सुविधा नहीं मिलती। टासिग के मतानुसार, ''करदाता तथा सरकार के बीच प्रत्यक्ष प्रतिफल का अभाव ही कर की वास्तविकता है।''

कर का एक उद्देश्य शासन प्रबन्ध का खर्च पूरा करने के लिये आवश्यक धन जुटाना होता है। परन्तु इसके अतिरिक्त कर लगाने का एक उद्देश्य नियमन व नियन्त्रण भी है, अर्थात कुछ कार्यों के प्रचलन व प्रयोग को रोकने व सीमित, नियमित एवं नियन्त्रित करने के लिए भी सरकार कर लगाती है। उदाहरण के लिए शराब, अफीम तथा अन्य मादक वस्तुओं का उपभोग सीमित करने के लिए सरकार इन वस्तुओं के उत्पादन व उपभोग पर बहुधा कर लगा देती है। इसी प्रकार, स्वदेशी उद्योगों को संरक्षण प्रदान करने के उद्देश्य से सरकार उपयुक्त वस्तुओं के आयात पर कर लगा देती है। बहुधा आवश्यक कच्चे माल पर निर्यात कर भी इस उद्देश्य से लगाया जाता है कि उनका निर्यात सीमित रहे और कच्चा माल देश के आन्तरिक उद्योगों को उपलब्ध हो सकें। बहुधा कर लगाने का उद्देश्य राजस्व-संग्रह तथा नियमन, दोनों एक साथ ही होता है।

संक्षेप में, कर की निम्न प्रमुख विशेषताऐं हैं-

1. यह एक अनिवार्य भुगतान है।
2. इसे सामान्य हित पर व्यय के लिए जुटाया जाता है।
3. कर के बदले में करदाता को कोई प्रत्यक्ष वस्तु या सेवा नहीं प्रदान की जाती।
4. कर का उद्देश्य आय प्राप्त करना व नियन्त्रण हो सकता है।

अतः कर की निम्न परिभाषा दी जा सकती है- ''कर एक अनिवार्य भुगतान है जो सरकार व्यक्तियों से सामान्य हित में प्राप्त करती है परन्तु जिसके बदले में कोई प्रत्यक्ष सेवा या सुविधा नही प्रदान की जाती; कर का उद्देश्य आय प्राप्त करना, या नियमन या दोनों होता है।''

11.4.2 वैट (मूल्य वर्धित कर प्रणाली) क्या है?

मूल्य वर्धित कर प्रणाली में राज्य में माल के प्रत्येक विक्रय पर कर लगता है तथा विक्रेता द्वारा राज्य में क्रेता को चुकाए गए कर का सेट-ऑफ 'इनपुट टैक्स रिबेट' के रूप में प्राप्त होता है। इस प्रणाली में एक बार प्रथम विक्रेता को पूर्ण विक्रय मूल्य पर कर लगता है तथा बाद के विक्रयों पर मूल्य संवर्धन पर ही विक्रेता को कर देना पड़ता है। चूंकि माल क्रय करते समय जो कर विक्रेता को दिया गया था, उसको उसके द्वारा माल विक्रय करते समय देय कर में से कम कर लिया जाता है। दूसरे शब्दों में, यह कह सकते हैं कि मूल्य वर्धित कर माल के प्रत्येक विक्रय पर लगने वाला कर है जिसमें विक्रय के पूर्व स्तर पर राज्य में चुकाए गए कर, को कम करने की प्रत्येक विक्रय के समय व्यवस्था है। Value added tax is levied at each stage of sale with a credit of tax paid at immediately purchase stage within the state. उदाहरण द्वारा इसे इस प्रकार रखा जा सकता है, मोहन एक पंजीकृत व्यवसायी है, वह किसी माल को सोहन को 1000 रू में विक्रय करता है तथा मूल्य वर्धित कर की दर 10 प्रतिशत है तो वह क्रेता से 1100 रू वसूल करेगा, 1000 रू माल की कीमत तथा 100 रू मूल्य वर्धित कर, कुल 1000 $ 100 = 1100 रू। सोहन भी पंजीकृत व्यवसायी है, वह उस माल को 1300 रू में विक्रय करता है तथा 10 प्रतिशत से 130 रू मूल्य वर्धित कर वसूल करेगा। इस प्रकार सोहन का विक्रय मूल्य 1430 रू होगा। इस विक्रय पर उसे राज्य शासन को 130 रू - 100 (मोहन द्वारा चुकाया गया कर) = 30 रू जमा करने होंगे। यह प्रक्रिया तब तक चालू रहेगीं जब तक माल का विक्रय पंजीकृत व्यवसायियों की श्रृंखला के बीच चलता रहेगा तथा इस श्रृंखला के प्रथम विक्रेता व्यवसायी को अपने विक्रय मूल्य पर बनने वाला समस्त मूल्य वर्धित कर जमा करना होगा तथा श्रृंखला के शेष व्यवसायियों को केवल उनके द्वारा सवंर्द्धित मूल्य (Value addition) पर ही कर जमा करना होगा।

निर्माता व्यवसायी द्वारा वस्तु के निर्माण के लिए जो भी अन्य माल क्रय किया जायेगा, जिसमें कच्चा माल, आनुंशगिक माल, पैकिंग मैटेरियल तथा प्लान्ट एवं मषीनरी इक्यूपमेंट तथा स्पेयर पाटर्स शामिल होगा, जिसका निर्माण की प्रक्रिया में उपयोग किया जाता है, अथवा व्यापारी द्वारा अनुसूची दो के माल के सम्बन्ध में उपयोग किया जाता है, तब ऐसे समस्त माल पर चुकाए गए कर सेट-ऑफ (Input Tax Rebate) के रूप में निर्माता व्यवसायी तथा व्यापारी को प्राप्त होगी, यदि निर्मित माल का विक्रय अपने राज्य में या अन्तर्राज्यीय व्यवसाय में अथवा भारत के बाहर निर्यात के अनुक्रम में किया जाता है।

अनुसूची एक में वर्णित कर-मुक्त माल के निर्माण में लगने वाली इनपुट पर भी यदि राज्य में पंजीकृत व्यवसायी से माल क्रय किया गया है तब 5 प्रतिशत से अधिक दर से चुकाए गए कर का इनपुट टैक्स रिबेट के सेट-ऑफ मिलगा, इसी प्रकार यदि निर्मित माल का राज्य से बाहर षाखाओं को ट्रांसफर कर दिया जाता है या राज्य से बाहर आढ़त में विक्रय के लिए भेजा जाता है तब भी राज्य के पंजीकृत व्यवसायियों से क्रय माल पर 5 प्रतिशत से अधिक दर से चुकाए गए कर का इनपुट टैक्स रिबेट प्राप्त होगा।

11.4.2.1 वैट के अन्तर्गत कर-दायित्व

मूल्य वर्धित कर प्रणाली में निर्माता, आयातक तथा अन्य व्यवसायियों के लिए पृथक-पृथक कर दायित्व की सीमा नहीं रखी गई है। समस्त व्यवसायियों के लिए कर दायित्व सीमा सामान्यतः 5 लाख रू रखी गई है। इस टर्नओवर में सभी प्रकार के विक्रय जैसे कर-मुक्त, कर-चुका, कर-योग्य शामिल होगा। 5 लाख रू में अधिक विक्रय होने पर ही कर-दायित्व उत्पन्न होगा। आयातक, निर्माता या अन्य का कर दायित्व के लिए कोई वर्गीकरण नहीं है।

मूल्य वर्धित कर अधिनियम राज्य में लागू होने पर जिन व्यवसायियों का विक्रय निर्धारित की सीमा से अधिक होगा उन पर कर-दायित्व मूल्य वर्धित कर कर अधिनियम लागू होने के पश्चात से आएगा तथा जिनका विक्रय

कम है उनका विक्रय यदि किसी वर्श में निर्धारित सीमा से अधिक हो जाता है, तब जिस दिनांक को विक्रय सीमा से अधिक होगा उस दिनांक से कर दायित्व उदय होगा।

11.4.2.2 वैट का औचित्य/प्रचलन के कारण

विक्रय कर की वर्तमान संरचना में वस्तुओं पर दोहरे करारोपण तथा करों की बहुलता के करण समस्याएं उत्पन्न होती है जिसके परिणामस्वरूप कर बोझ स्तर दर स्तर बढ़ता है। उदाहरणस्वरूप वर्तमान प्रचलित कर ढांचे में किसी वस्तु के निर्मित होने से पूर्व उसके इनपुट्स (कच्चे माल) पर करारोपण होता है तथा उसके बाद जब वस्तु निर्मित हो जाती है तथा उसमें इनपुट पर लगा हुआ कर शामिल हो जाता है। जिसके कारण बहुस्तरीय कर बोझ बढ़ता है। मूल्य वर्धित कर में इनपुट टैक्स तथा पूर्ववर्ती क्रयों पर चुकाए गए कर के सम्बन्ध में सेट-ऑफ दिया जाता है। वर्तमान में प्रचलित विक्रय कर के ढांचे में अनेक राज्यों में बहुबिन्दु करों के करारोपण की स्थिति है यथा- टर्नओवर टैक्स, विक्रय पर अधिभार तथा अतिरिक्त अधिभार आदि। मूल्य वर्धित कर के क्रियान्वित होने पर इस प्रकार के अन्य कर समाप्त हो जाएंगे। इनके अतिरिक्त केन्द्रीय विक्रय कर (CST) को भी चरणबद्ध रूप से समाप्त किया जा रहा है जिसके लिए 1-6-2008 से CST की दर 2 प्रतिशत की गई है जिसे G.S.T. के साथ पूरा समाप्त किया जाना प्रस्तावित है। इसका परिणाम यह होगा कि समेकित रूप से पड़ने वाला कर बोझ युक्तिसंगत होगा तथा मूल्यों में भी सामान्यतः गिरावट आएगी।

- इनपुट टैक्स तथा पूर्ववर्ती क्रयों पर चुकाए गए कर का सेट-ऑफ दिया जाएगा।
- अन्य कर जैसे टर्नओवर टैक्स, अधिभार तथा अतिरिक्त अधिभार आदि समाप्त होंगे।
- समग्र रूप से कर बोझ का विवेकीकरण होगा।
- सामान्यतः कीमतें गिरेंगी।
- व्यवसायियों के द्वारा स्वतः कर-निर्धारण किया जाएगा।
- पारदर्शिता में वृद्धि होगी।
- राजस्व आय बढ़ेगी।

इस प्रकार मूल्य वर्धित कर जन-सामान्य, व्यवसायियों, उद्योगपतियों तथा शासन को सहायता करेगा। वास्तव में यह अधिक कार्यक्षमता तथा कर प्रणाली में पारदर्शिता तथा समान प्रतिस्पर्धा की ओर बढ़ाया जाने वाला एक कदम है।

11.4.2.3 वैट की विशेषताएं

माल के क्रय-विक्रय पर कर लगाने के लिए अभी तक जो कर प्रणालियां अपनायी जाती रही हैं, उनमें मूल्य वर्धित कर प्रणाली नवीनतम अवधारणा है। विश्व के अनेकों देशों में इस प्रणाली को अपनाया गया है एवं भारत में भी इस प्रणाली को सभी राज्य सरकारों ने लागू कर दिया है। मूल्य सवंर्द्धित कर जो कि अपने संक्षिप्त नाम मूल्य वर्धित कर के रूप में जाना जाता है की प्रमुख विशेषताएं निम्न प्रकार हैं-

1. **राज्य सरकार द्वारा करारोपण-** मूल्य सवंर्द्धित कर राज्य सरकारों एवं केन्द्र शासित प्रदेशों द्वारा राज्य में माल का क्रय-विक्रय पर लगाया जाने वाला कर है। भारतीय संविधान में माल के क्रय-विक्रय पर कर लगाने का अधिकार राज्य सरकारों को दिया गया है। मूल्य वर्धित कर के पूर्व राज्य सरकारें विक्रय कर या वाणिज्यिक कर के रूप में माल के क्रय-विक्रय पर कर लगाती थी। अब इनका स्थान मूल्य वर्द्धित कर ने लिया है। इस कर को लागू करने के लिए विभिन्न राज्य सरकारों ने अपने-अपने अधिनियम एवं नियम बनाए है।

2. **अप्रत्यक्ष कर-** मूल्य वर्द्धित कर एक प्रकार का अप्रत्यक्ष कर है। यह माल की बिक्री पर विक्रेता द्वारा वसूला जाता है, एवं शासन को जमा किया जाता है। इसका भुगतान विक्रेता व्यापारी द्वारा किया जाता है और मूल्य में इसे जोड़कर उपभोक्ता से वसूला जाता है। इसका अंतिम भार उपभोक्ता पर पड़ता है। इसका कराघात व्यापारी पर एवं करापात उपभोक्ता पर होने के कारण यह अप्रत्यक्ष कर की श्रेणी में आता है।
3. **बहुबिन्दु कर-** मूल्य वर्द्धित कर बहुबिन्दु कर है। किसी वस्तु को उत्पादक से उपभोक्ता तक पहुंचने में जितने स्तरों पर इसका हस्तान्तरण होता है, उतने स्तरों पर यह कर वस्तु के बढ़े हुए मूल्य पर लगता है। इसे हम निम्नलिखित उदाहरण से समझ सकते हैं-
   - प्रथम स्तर: उत्पादक द्वारा वितरक को विक्रय;
   - द्वितीय स्तर: वितरक द्वारा थोक व्यापारी को विक्रय;
   - तृतीय स्तर: थोक व्यापारी से उपभोक्ता को विक्रय;
   - चतुर्थ स्तर: फुटकर व्यापारी से उपभोक्ता को विक्रय;

   वस्तु की बिक्री से प्रत्येक स्तर यह कर राज्य में अपनाई गई गणना पद्धति के अनुसार लगेगा।
4. **बढ़े हुए मूल्य पर कर-** यद्यपि मूल्य विर्धित कर बहुबिन्दु कर है, लेकिन प्रत्येक स्तर पर वस्तु के सम्पूर्ण मूल्य पर यह कर नहीं लगता है, बल्कि विक्रेता द्वारा की गयी वृद्धि (विकय मूल्य -क्रय मूल्य = अन्तर) पर यह कर लगता है।
5. **मूल्य वर्धित कर की राशि बिल में अलग से प्रदर्शित करना-** मूल्य वर्धित कर, कर प्रणाली में पूर्ववर्ती विक्रेता को चुकाए गए कर की छूट व्यापारी को तभी मिल सकती है, जबकि बिल में ऐसे कर की राशि अलग से प्रदर्शित की गयी हो। अतः आगत कर की छूट की प्राप्ति क्रेता व्यापारी को उस वस्तु के पुनः विक्रय पर देय कर में से मिल सके, इसके लिए ऐसे कर की राशि बिल में माल की कीमत में शामिल करने की बजाय पृथक से चार्ज की जाती है।
6. **कम्पोजिशन के सुविधा-** जो छोटे व्यापारी इनपुट कर की छूट प्राप्त नहीं करना चाहते है, उनको यह विकल्प है कि वे एक निर्धारित प्रतिशत से एकमुश्त कर चुका कर अपने दायित्व को पूरा कर सकते है। इसे कम्पोजिशन कहते है। विभिन्न राज्यों के अधिनियमों के अन्तर्गत सामान्यतः 40 लाख रू तक के वार्षिक विक्रय वाले व्यापारियों को यह विकल्प प्राप्त होता है।
7. **पंजीयन-** विक्रय कर या वाणिज्यिक कर की तरह राज्य के मूल्य वर्धित कर अधिनियम के अन्तर्गत भी व्यापारी के लिए पंजीयन कराना अनिवार्य है। इस सम्बन्ध में यह महत्वपूर्ण है कि जो व्यापारी किसी राज्य में पूर्ववर्ती विधान में पंजीकृत थे, उनको मूल्य वर्धित कर अधिनियम के अन्तर्गत पुनः नया रजिस्ट्रेशन कराने की आवश्यकता नहीं है। ऐसे व्यापारी मूल्य वर्धित कर के अन्तर्गत स्वतः ही पंजीकृत मान लिए गए है। नये व्यापारी जो अब पंजीकरण कराना चाहते है, उनका पंजीकरण उनके राज्य के मूल्य वर्धित कर अधिनियम के अन्तर्गत होगा।
8. **स्वतः कर-निर्धारण-** मूल्य वर्धित कर प्रणाली की एक प्रमुख विशेषता यह है कि इस प्रणाली में स्वतः कर-निर्धारण की व्यवस्था की गयी है। जो व्यापारी निर्धारित तिथि तक विक्रय विवरणी प्रस्तुत कर देते है एवं कर जमा कर देते हैं, उन्हें कर-निर्धारण के लिए कर विभाग के पास जाने की आवश्यक ता नहीं है। अपवादस्वरूप जांच के लिए कुछ प्रतिशत व्यापारियों को लेखे या सबूत प्रस्तुत करने के लिए विभाग कह सकता है।
9. **मूल्य वर्धित कर क्रियान्वयन हेतु प्रशासन-** विभिन्न राज्यों में मूल्य वर्धित कर प्रणाली को लागू करने एवं कर की वसूली के लिए पूर्ववर्ती वाणिज्यिक कर या विक्रय कर के अधिकारियों की सेंवाएं ही ली

गयी हैं। जैसे- किसी राज्य में वाणिज्यिक कर के प्रशासन एवं वसूली के लिए वाणिज्यिक कर विभाग कार्यरत था, उसे ही मूल्य वर्धित कर के प्रशासन एवं वसूली का कार्य सौंपा गया है। मूल्य वर्धित कर निर्धारण का कार्य वाणिज्यिक कर अधिकारी ही कर करेंगे।

10. **अन्तर्राज्यीय विक्रय पर कर-** राज्य के अन्दर वस्तुओं के विक्रय पर तो मूल्य वर्धित कर लगेगा, लेकिन अन्तर्राज्यीय विक्रय पर करारोपण की समस्या का अभी समाधान नहीं हो पाया है। इसलिए अन्तर्राज्यीय विक्रय पर अभी भी केन्द्रीय विक्रय कर लागू है। यद्यपि शासन ने केन्द्रीय विक्रय कर को क्रमश: समाप्त करने की घोषणा की है और इसी कड़ी में 1 अप्रेल 2007 से केन्द्रीय विक्रय कर की दर 4 प्रतिशत से घटाकर 3 प्रतिशत कर दी गयी है एवं 1 जून 2008 से इसे 2 प्रतिशत कर दिया गया है।

इस प्रकार मूल्यवर्धित कर प्रणाली एक प्रकार से विक्रय कर या वाणिज्यिक कर का सुधरा हुआ रूप है। इससे एक तरफ कर की अपेक्षाकृत कम दरों के कारण उपभोक्ताओं को कुछ राहत मिली है, तो दूसरी तरफ राज्य सरकारों को करवंचना में कमी के कारण अधिक राजस्व प्राप्त हो रहा है।

11.4.2.4 वैट का परम्परागत कर प्रणाली से श्रेष्ठता

परम्परागत बिक्री कर के स्थान पर मूल्य वर्धित कर अपनाने की आवश्यक ता निम्न कारणों से हो रही थी-

1. **प्रथम बिन्दु कर के कारण कम कर प्राप्ति-** विक्रय कर या वाणिज्यिक कर प्रथम बिन्दु होने के कारण सरकार को न्यूनतम मूल्य पर कर मिलता है। इससे राजस्व की हानि होती है। उदाहरण के लिए, एक निर्माता एक वस्तु का निर्माण करता है जिसकी लागत 20 रू प्रति वस्तु आती है। निर्माता अपना सम्पूर्ण माल अपने एक डीलर को 22 रू प्रति वस्तु बेचता है तथा 22 रू पर ही विक्रय कर 10 प्रतिशत की दर से 2.20 रू चुकाता है। डीलर तत्पश्चात उस वस्तु को 25 रू में खुदरा व्यापारी को कर चुका माल के रूप में विक्रय करता है तथा खुदरा व्यापारी व्यापारी उपभोक्ता को 40 रू पुनः कर चुका माल के रूप के रूप में विक्रय करता है। अतः यहां सरकार को मात्र 2.20 कर के रूप में प्राप्त होते है जबकि वास्तव में 40 रू पर 10 प्रतिशत की दर से 4 रू प्राप्त होने चाहिए थे। यह दोष मूल्य वर्धित कर को अपनाकर ही दूर किया जा सकता है।
2. **प्रोत्साहनों एवं छूटों में राजस्व हानि-** राज्य सरकारें अपने प्रदेश में औद्योगीकरण को बढ़ावा देने के उद्देश्य से औद्योगिक इकाइयों को विभिन्न प्रकार के प्रोत्साहन एवं छूटें प्रदान करती है। इस कारण से राज्य सरकार के राजस्व में कमी आती है। मूल्य वर्धित कर व्यवस्था में सभी राज्यों में करमुक्त माल एंव कर की दरों में एकरूपता होने के कारण किसी राज्य विशेष को ऐसी छूटें या प्रोत्साहन देने का अधिकार नहीं रहेगा।
3. **अन्तिम कर की अव्यावहारिकता-** अन्तिम बिन्दु पर करारोपण के अन्तर्गत वस्तु का मूल्य अधिकतम होता है तथा उस पर एक निश्चित दर से कर वसूल किया जा सकता है परन्तु प्रशासकीय एवं व्यावहारिक कठिनाइयों के कारण अन्तिम बिन्दु कर को व्यवहार में पूर्ण रूप से नहीं लाया जा सकता है। अतः मूल्य वर्धित कर प्रणाली ही यह कठिनाई दूर कर सकती है।
4. **कर दरों की अधिक संख्या-** प्रथम बिन्दु कर को अपनाने पर राज्य सरकार को अनिवार्य रूप से भिन्न-भिन्न प्रकार की दरों का समावेश करना होता है। इस कारण से गणना सम्बन्धी कार्य जटिल हो जाता है, लेकिन राजस्व में कोई विशेष वृद्धि नहीं होती है। मूल्य वर्धित कर अपनाने से दरों के कम से कम वर्ग अपनाए जा सकते है एवं सभी राज्यों में समान रूप से लागू किए जा सकते है।
5. **टर्नओवर टैक्स के दोशों का निवारण-** टर्नओवर टैक्स की दशा में विक्रय के प्रत्येक बिन्दु पर सम्पूर्ण मूल्य पर कर चुकाना पड़ता है, इससे वस्तु के मूल्य में अत्यधिक वृद्धि हो जाती है। जैसे-एक वस्तु

उत्पादक से उपभोक्ता तक पंहुचाने में चार कड़ियों से गुजरती है। ऐसी स्थिति में उसके विक्रय मूल्य पर चार बार कर लगेगा, जो कि वस्तु के अन्तिम मूल्य को अत्यधिक बढ़ा देगा, जबकि वास्तविक रूप में मूल्य वर्धित कर की दशा में प्रत्येक चरण पर केवल बढ़े हुए मूल्य पर ही कर लगता है।

6. **राजस्व में वृद्धि-** विक्रय के प्रत्येक व्यवहार में बढ़े हुए मूल्य पर सरकार को कर मिलता है, इससे राजस्व में वृद्धि होती है। इस कर से सरकार को निरन्तर आय प्राप्त होती रहती है। मूल्य वर्धित कर अपनाने से करवंचना पर भी रोक लगती है, क्योंकि विक्रय के विभिन्न चरणों में एक साथ कर चोरी सम्भव नहीं होती।
7. **स्वत:नियन्त्रण-** जमा कर घटाव विधि स्वतः नियन्त्रण का कार्य करती है। प्रत्येक व्यापारी अपने सकल कर दायित्व में से पूर्व में चुकाए गए कर की क्रेडिट पाने के लिए अपने पूर्व विक्रेता से बीजक प्राप्त करेगा। ऐसी स्थिति में विक्रय के विभिन्न चरणों में बिना बीजक के व्यवहार नहीं होगें। इससे करवंचना पर नियन्त्रण की स्वतः व्यवस्था हो जाएगी।

11.4.2.5 वैट के गुण व दोष

वैट के निम्नांकित गुण हैं-

1. **प्रथम बिन्दु एवं अन्तिम बिन्दु कर का मिश्रण-** मूल्य वर्धित कर कर प्रणाली में माल के विक्रय के प्रत्येक चरण में विक्रेता द्वारा वस्तु के मूल्य में की गयी वृद्धि पर कर चुकाया जाता है। इसमें प्रथम बिन्दु पर भी कर लगता है एवं बाद वाले चरणों में भी कर लगता है।
2. **करवंचना में कमी-** मूल्य वर्द्धित कर में कर की चोरी का भय कम रहता है, क्योंकि प्रत्येक फर्म को केवल मूल्य वृद्धि पर ही कर देना पड़ता है, जो विक्रय कर की तुलना में काफी कम होता है। स्वाभाविक है उत्पादक कर की चोरी करने को प्रोत्साहित नहीं होते।
3. **पूर्ण हिसाब-किताब-** मूल्य वर्धित कर व्यवस्था की यह विशेषता है कि इसमें प्रत्येक व्यापारी एवं निर्माता अपने व्यवसाय का सही एवं पूरा-पूरा हिसाब रखता है, क्योकि ऐसा करने से ही वह पूर्व में भुगतान किए गए करों पर छूट की मांग कर सकता है।
4. **सरलता-** किसी भी व्यापारिक फर्म द्वारा देय कर का हिसाब लगाने के लिए सर्वप्रथम उसकी कुल बिक्री पर लागू दर से कर लगाया जाता है। इस कर में से फर्म या संस्था द्वारा मध्यवर्ती सामान के क्रय पर एवं मशीनों आदि के क्रय पर पहले दिए गए कर घटा दिए जाते है। सैद्धान्तिक रूप में, मूल्य वर्धित कर को इस ढंग से बनाया गया है, कि फुटकर स्तर एवं सेवाओं सहित अर्थव्यवस्था के सभी क्षेत्रों पर इसे लागू किया जा सके।
5. **निर्यात प्रोत्साहन-** मूल्य वर्द्धित कर को उत्पादन लागत से सरलता से पृथक किया जा सकता है तथा कर भार को पृथक करके निर्यात व्यापार को प्रोत्साहित किया जा सकता है। यदि हम अन्य करों से तुलना करें, तो पातें है कि मूल्य वर्द्धित कर निर्यात व्यापार बढ़ाने में अधिक सहायक है।
6. **मूल्य नियन्त्रण में सहायक-** विक्रय कर के फलस्वरूप मूल्य में अधिक वृद्धि होती है, किन्तु मूल्य वर्द्धित कर का भार, वितरण की सभी क्रियाओं में समान होने से मूल्य में अधिक वृद्धि नहीं होती।
7. **व्यावहारिक-** अन्य करों की तुलना में मूल्य वर्द्धित कर अधिक व्यावहारिक है। यही कारण है कि यूरोप के अधिकतर देशों ने इसे अपनाया है एवं भारत के सभी राज्य भी इसे अपना रहे है।
8. **उत्पादन क्षमता में वृद्धि-** मूल्य वर्द्धित कर लाभ के आधार पर न लगाया जाकर उत्पादन की मात्रा के अनुसार लगाया जाता है। लाभ हो या हानि फर्म को कर देना ही पड़ता है, अतः प्रत्येक फर्म यह प्रयास करती है कि न्यूनतम लागत पर अधिकतम उत्पादन करे।

वैट के निम्नांकित दोष हैं-

1. **व्यावहारिक कठिनाइयां-** मूल्य वर्द्धित कर को लागू करने के लिए एक सक्षम एवं कार्यकुषल प्रशासन तन्त्र की आवश्यकता होती है, जो उत्पादन एवं वितरण की विभिन्न कड़ियों में होने वाली मूल्य वृद्धि का सही लेखा-जोखा रख सके, परन्तु इस प्रकार के कुषल कर्मचारी न होने से इसे लागू करने में प्रारम्भिक कठिनाई हो सकती है।
2. **करदाताओं का सहयोग आवश्यक-** यह कर प्रणाली उसी समय लागू की जा सकती है जब सरकार को करदाताओं का पूरा सहयोग मिल सके। इसके लिए फर्मो को उत्पादन व मूल्य की सही गणना करना जरूरी है। फर्मो को इसका हिसाब भी रखना पड़ता है, कि उत्पादन में जिन अन्य फर्मों से सामग्री क्रय की गई है, उन्होंने कितने कर का भुगतान किया है।
3. **गणना सम्बन्धी कठिनाइयां-** इस कर की गणना करना सरल नहीं है, क्योंकि इसमें काफी जटिलता रहती है। पूर्ववर्ती लागत या पूर्व में चुकाया गया कर, ज्ञात करने के लिए काफी रिकार्ड रखने पड़ते है।
4. **मूल्य वर्धित कर की विभिन्न दरें-** कुछ प्रदेशों में अघोषित माल पर 13 प्रतिशत की दर से एवं घोषित माल पर 5 प्रतिशत की दर से मूल्य वर्द्धित कर लगता है जो कि काफी उंची है। जिन वस्तुओं पर वाणिज्यिक कर की दर कम थी उन पर भी मूल्य वर्धित कर 13 प्रतिशत से लगता है जो कि न्यायसंगत नहीं है।
5. **मूल्य वृद्धि-** मूल्य वर्धित कर के कारण वस्तुओं के मूल्य घटने के बजाय बढ़ रहे है, क्योंकि विक्रय के प्रत्येक चरण में कर लगने के कारण उपभोक्ता पर अन्तिम भार काफी बढ़ गया है। व्यापारी पहले कर सहित मूल्य पर अपना माल बेचते थे। अब उसी मूल्य पर माल बेच रहे हैं एवं उपभोक्ता से मूल्य वर्धित कर अलग से वसूल कर रहे है।
6. **प्रशासकीय जटिलता-** मूल्य वर्धित कर के कारण वाणिज्यिक कर विभाग को प्रशासकीय जटिलता एवं तकनीकी कठिनाइयों का सामना करना पड़ रहा है। अधिकारियों एवं कर्मचारियों को मूल्य वर्धित कर की गणना प्रक्रिया एवं इनपुट रिबेट देने की पद्धति में व्यावहारिक कठिनाइयां आ रही है। इसका परिणाम, व्यापारियों को भुगतना पड़ रहा है। उन्हें अधिकारियों की मनमानी का षिकार होना पड़ रहा है।
7. **कर चोरी पर अंकुश की धारणा गलत-** यह गलतफहमी है, कि मूल्य वर्धित कर लगने के कारण कर चोरी रूक जाएगी। मूल्य वर्धित कर प्रणाली में कर चोरी की सम्भावना विक्रय कर या वाणिज्यिक कर की तुलना में अधिक है। यदि प्रथम चरण में ही माल बिना बिल के बिकता है, तो अन्तिम चरण तक वह बिना बिल बिकता जाएगा और सरकार को किसी भी स्तर पर कोई राजस्व नहीं मिलेगा।

इस प्रकार यह कहना अतिशयोक्ति पूर्ण होगा कि मूल्य वर्धित कर प्रणाली लागू करने के बाद सरकार एवं व्यापारियों की सभी समस्याओं का समाधान हो गया है।

11.4.3 वस्तु व सेवा कर Goods and sessnce Tax (GST)

वस्तु एंव सेवा कर वस्तुओं एवं सेवाओं की आपूर्ति पर लगाया जाने वाला एकीकृत कर है। इसकी शुरूआत भारत में 01 जुलाई 2017 को की गई। इस कर में उत्पाद शुल्क, राज्य स्तरीय कर, मनोरंजन कर, सेवाकर व अन्य अप्रत्यक्ष स्थानीय कर शामिल है। वस्तु एंव सेवा कर का आरोपण अन्तिम उपभोक्ता पर किया जाता है। इसके प्रत्येक चरण के आपूर्तिकर्ता को इनपुट टैक्स क्रेडिट व्यवस्था के माध्यम से इसकी भरपाई करने की अनुमति होती है। वस्तु या सेवा पर एक दर से टैक्स लग रहा है। एंव दो राज्यों के मध्य टैक्स की दर में कोई भी विसंगति नहीं है। वस्तु एंव सेवा कर लागू होने के बाद, कर वहां लगेगा, जहां वस्तु या सेवा की आपूर्ति होगी। चूंकि वस्तु एंव

सेवाकर केन्द्र व राज्य द्वारा लगाया जाने वाला एकीकृत कर है, इसलिए इसके बटवारे के लिए जी0 एस0 टी0 को चार भागों में बांटा गया है।

- केन्द्रीय वस्तु एंव सेवाकर (CENTRAl GOODS AND SERVICE TAX- CGST)
- राज्य स्तरीय वस्तु एंव सेवाकर (STAT GOODS AND SERVICE TAX- SGST)
- एकीकृत वस्तु एंव सेवाकर (INTEGRATED GOODS AND SERVICE TAX- IGST)
- संघ राज्य वस्तु एंव सेवाकर (UNION TEÙITORY GOODS AND SERVICE TAX- UTGST)

1. **केन्द्रीय वस्तु एंव सेवाकर-** केन्द्रीय सरकार द्वारा वसूल किये जाने वाले कर को केन्द्रीय वस्तु एवं सेवाकर कहते है। पूर्व की अप्रत्यक्ष कर व्यवस्था में सेवा कर, उत्पाद शुल्क , कस्टम शुल्क आदि केन्द्रिय सरकार के प्रमुख अप्रत्यक्ष कर वसूली के साधन थे।
2. **राज्य स्तरीय वस्तु एंव सेवाकर-** राज्य सरकार के कर संग्रह का प्रमुख स्त्रोत बिक्री कर था। वस्तु एवं सेवा कर लागू होने के बाद राज्य स्तरीय वस्तु एवं सेवा कर ही राज्य सरकार के कर संग्रह का प्रमुख साधन है।
3. **एकीकृत वस्तु एवं सेवाकर-** एकीकृत वस्तु एंव सेवाकर विधेयक 27 मार्च 2017 को लोकसभा में पेश किया गया था, यह विधेयक वस्तुओं और सेवाओं को अंतर-राज्य की आपूर्ति पर, आयात निर्यात एंव विशेष क्षेत्र में आपूर्ति करने पर केन्द्र द्वारा लगाया जाता है।
4. **संघ राज्य वस्तु एंव सेवाकर-** सेवाकर विधेयक 27 मार्च को लोकसभा में पेश किया गया था केन्द्रशासित प्रदेश की सीमा के भीतर माल और सेवाओं की आपूर्ति पर यू0टी0जी0एस0टी0 लगाया जाता है।

11.4.3.1वस्तु एंव सेवा कर के अंतर्गत वस्तुओं और सेवाओं पर कर की दरें

1. शून्य प्रतिशत की वस्तुएं- मांस, मछली, मुर्गी, अण्डा, दूध, दही, शहद, आटा, बिन्दी, नमक इत्यादि।
2. 5 प्रतिशत की वस्तुएं- अगरबत्ती, पवनचक्की, बायोगैस, काजू इत्यादि।
3. 12 प्रतिशत की वस्तुएं- इक्सरसाइजबुक कटलरी, आइटम, कोटन वुल carpets, floor covering etc.
4. 18 प्रतिशत की वस्तुएं- एल्युमिनियम स्क्रैप, पोस्टर कलर, स्कूल बैग, कम्प्यूटर प्रीन्टर, इत्यादि।
5. 28 प्रतिशत की वस्तुएं- एयरक्राफ्ट, आटोमोबाइल, मोटरसाइकिल, पेन्ट, शेविंग क्रीम, हेयर शैम्पू, आदि।

11.4.3.2 इनपुट टैक्स क्रेडिट

जी0एस0टी0 व्यवस्था में इनपुट टैक्स क्रेडिट व्यापारियों के लिए मददगार साबित हो रहा है। यदि कोई पंजीकृत व्यापारी देश के किसी भी पंजीकृत व्यापारी से, माल या सेवाएं पक्के बिल से खरीदता है, तो उसके द्वारा खरीदे गये माल या सेवा पर, जो कर भुगतान किया जाएगा, वह बिक्री पर देय कर मे से घटा दिया जाता है, इससे व्यापारी की करदेयता में कमी आती है, और इस व्यवस्था से दोहरे करारोपण से बचा जा सकता है। एक उदाहरण के माध्यम से स्पष्ट किया जा सकता है कि इनपुट टैक्स क्रेडिट का लाभ एक व्यापारी कैसे लेता है।

उदाहरण के लिए, मान लीजिये किसी निर्माण करने वाली फर्म को अपने उत्पाद के लिए 100 रू का कच्चा माल खरीदना पड़ रहा है और उस माल पर जी0एस0टी0 की दर 12 प्रतिशत है। इस प्रकार कच्चे माल को प्राप्त करने के लिए कुल 112 रू चुकाने होगें, अब निर्माण फर्म जिस माल को तैयार कर रही है, उस माल की कीमत 150 रू है और जी0एस0टी0 की दर 18 प्रतिशत है तो उस फर्म की बिक्री पर कर 27 रू होगी, चूंकि उसने खरीद करते समय 12 रू का कर चुकाया है, तो उसे 27-12=15 रू ही जी0एस0टी का भुगतान करना होगा।

जीएसटी के अर्न्तगत इनपुट टैक्स क्रेडिट समायोजन के नियम में केन्द्र एंव राज्य के बीच वस्तु एंव सेवा कर के बंटवारे के लिए इसे चार भागों में लगाया जाता है, जब राज्य के भीतर माल या सेवा की सप्लाई की जाती है तो

राज्य स्तरीय वस्तु एंव सेवा कर (STATE GOODS AND SERVICE TAC- SGST) और केन्द्रीय वस्तु एंव सेवा कर (CENTRAL GOODS ANG SERVICE TAX- CGST) लगाया जाता है। एक पंजीकृत व्यापारी अपने इनवार्ड सप्लाई पर चुकाये गये CGST, SGST, और IGST का समायोजन आउटवर्ड सप्लाई पर देय CGST, SGST, और IGST से इस प्रकार कर सकता है।

1. INPUT CGST का समायोजन OUTPUT CGST से, शेष बचने पर यदि IGST की कोई देयता है तो IGST से समायोजन।
2. INPUT SGST का समायोजन OUTPUT SGST से, शेष बचने पर यदि IGST की कोई देयता है तो IGST से समायोजन
3. INPUT IGST का समायोजन OUTPUT IGST से, शेष बचने पर SGST और IGST की देयता को समायोजित किया जा सकता है। CGST और SGST का आपस में समायोजन नहीं हो सकता है।

11.4.3.3 वस्तु एंव सेवाकर के अर्न्तगत रिवर्स चार्ज तंत्र

वस्तु एंव सेवाकर तंत्र में सामान्यतः सप्लायर यानी वस्तु एंव सेवा बेचने वाला, ग्राहक या क्रेता से जी0एस0टी चार्ज करता है और सरकार को जमा करवाता है, लेकिन कुछ परिस्थिति ऐसी भी होती है कि जिसमें जी0एस0टी0 की जिम्मेदारी सप्लायर की न होकर, वस्तु या सेवा को प्राप्त करने वाले की होती है, इसे ही रिवर्स चार्ज तंत्र कहते है।

उदाहरण के लिए अगर कोई व्यापारी, किसी वस्तु या सेवा को अपंजीकृत व्यक्ति से खरीदता है, तो उसे वस्तु के मूल्य पर जी0एस0टी0 का भुगतान करना होता है, रिवर्स चार्ज की दर वस्तु या सेवा पर निर्धारित जी0एस0टी0 की दर के बराबर होता है, कुछ परिस्थितियों में यह दर कम हो सकती है।

उदाहरण, अगर कोई व्यापारी किसी वस्तु या सेवा को आयात करता है तो यह परिस्थिति रिवर्स चार्ज में आती हैं, और क्रेता ने जितनी मूल्य की वस्तु या सेवा आयात की है उस पर जी0एस0टी0 का भुगतान करना होता है।

11.4.3.4 जी0एस0टी0 रिटर्न समय पर न दाखिल करने पर लेट फीस सम्बन्धित नियम

जी0एस0टी0 परिषद द्वारा निर्धारित तिथि के अन्दर रिटर्न न दाखिल करने पर CGST एक्ट और SGST एक्ट के अर्न्तगत 100-100 रू प्रतिदिन के हिसाब से लेट फीस का प्रावधान है, इस प्रकार अगर आप रिटर्न भरने में एक दिन की भी देरी करते है तो 200 रू लेट फीस चुकाना होगा। अधिकतम लेट फीस CGST एक्ट और SGST के अर्न्तगत 5,000-5,000 रू निर्धारित है इस प्रकार आपको एक माह के लेट रिटर्न के अधिकतम 10,000 रू लेट फीस का भुगतान करना होगा।

11.5 सार्वजनिक आय का वर्गीकरण

सार्वजनिक आय का अनेक विद्वानों द्वारा वर्गीकरण किया गया है। आईये इनका अध्ययन करते हैं-

1. **ऐडमस्मिथ का वर्गीकरण-** ऐडमस्मिथ ने आय को दो भागों में विभाजित किया है-
   - **नागरिकों से होने वाली आय-** इस वर्ग में आय के वे सब साधन सम्मिलित हैं, जिनके अन्तर्गत सरकार को जनता से आय प्राप्त होती है जैसे कर।
   - **राजकीय सम्पत्ति से होने वाली आय-** इस वर्ग में वह आय आती है, जो सरकारी सम्पत्ति जैसे सरकारी भूमि व पूंजी से होती है।

   ऐडमस्मिथ का यह वर्गीकरण आधुनिक दशाओं के लिए उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इसमें दोनो ही वर्ग बहुत विस्तृत है। आजकल नागरिकों तथा राजकीय सम्पत्ति से भी कई प्रकार की आय होती है, और एक उपयुक्त वर्गीकरण में इनका उल्लेख भी आवश्यक है।

2. **ऐडम्स का वर्गीकरण-** ऐडम्स ने सार्वजनिक आय को तीन प्रमुख भागों में विभाजित किया है-
   - **प्रत्यक्ष आय-** इसके अन्तर्गत अधिकांशतः सार्वजनिक भूमि, सार्वजनिक उद्योगों, जैसे- रेल, तार, डाक आदि तथा अन्य सरकारी सम्पत्ति से होने वाली आय होती है।
   - **व्युत्पादित आय-** इस आय के अन्तर्गत वह आय सम्मिलित है जो नागरिकों से वसूल की जाती है, जैसे- कर, शुल्क, दण्ड आदि से होने वाली आय।
   - **प्रत्याशित आय-** इस वर्ग के अन्तर्गत सार्वजनिक साख से होने वाली आय होती है, जैसे- वांण्डस की बिक्री या ट्रेजरी नोट्स से होने वाली आय।

   उपर्युक्त वर्गीकरण का दोष यह है कि इसमें पहला वर्ग बहुत विस्तीर्ण हो गया है, क्योंकि इसके अन्तर्गत व्यापारिक कार्यो से होने वाली आय और प्रशासनिक कार्यों से होने वाली आय मिला दी गई है। परन्तु इन दोनों प्रकार की आयों के स्वरूप भिन्न है अतः इन्हें पृथक होना चाहिए।
3. **सेलिगमैन का वर्गीकरण-** सैलिगमैन ने सार्वजनिक आय को तीन भागों में विभक्त किया है-
   - **दानात्मक आय-** दानात्मक आय से तात्पर्य उस सरकारी आय से है, जो कि प्रजा सरकार को दान-उपहार के रूप में देती है। इसकी दो विशेषताएं हैं, पहला- यह ऐच्छिक होती है और दूसरा- इसके बदले में सरकार व्यक्ति को कोई प्रत्यक्ष सेवा, सुविधा या वस्तु प्रदान नहीं करती।
   - **संविदात्मक आय-** इस वर्ग में वे सब आय आती है जो राज्य को राजकीय उद्योगो और सम्पत्ति से प्राप्त होती है। साधारण व्यक्ति की भांति राज्य भी उद्योग और व्यवसाय चलाती है; उदाहरण के लिए, सरकार कारखाने खोलती है, रेल, मोटर गाड़ियां और हवाई जहाज की सेवायें प्रदान करती है। इस आय की दो विशेषताएं होती हैं- यह ऐच्छिक होती है और इसके बदले में सरकार प्रत्यक्ष सेवा, सुविधा व वस्तु प्रदान करती है।
   - **अनिवार्य आय-** इसके अन्तर्गत वह आय आती है जिसका देना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है उसकी इच्छा पर निर्भर नहीं करता। ऐसी आय सरकार शासन-शक्ति, दण्ड विधान षक्ति तथा करारोपण शक्ति के द्वारा प्राप्त करती है। जुर्माने, कर, विशेषकर इस आय के उदाहरण है। इसकी दो विशेषताएं हैं- यह ऐच्छिक नहीं है और इसके बदले में कोई प्रत्यक्ष सेवा, सुविधा नहीं दी जाती।

   उपर्युक्त वर्गीकरण का दोष यह है कि इसमें अनिवार्य आय का वर्ग बहुत विस्तीर्ण हो गया है क्योकि इसमें कर से होने वाली आय और प्रशासनिक कार्यो से होने वाली आय दोनों ही ली जावेगी। परन्तु इन दोनों प्रकार की आयों के स्वरूप भिन्न है। अतः इन्हें पृथक होना चाहिए।
4. **टेलर का वर्गीकरण-** टेलर ने सार्वजनिक आय को चार भागों में विभाजित किया है- अनुदान तथा उपहार , प्रशासनात्मक आय, व्यापारिक आय और कर।
   - **अनुदान तथा उपहार-** इसके अन्तर्गत पहले तो वह आय सम्मिलित होती है, जो कि एक सार्वजनिक सरकार दूसरी सार्वजनिक सत्ता को सहायता अनुदान के रूप में देती है, जैसे केन्द्रीय सरकार राज्य सरकारों को या राज्य सरकार स्थानीय सरकारों को विभिन्न कार्यों के लिये अनुदान देती है। दूसरे सरकारों को उपहार के रूप में व्यक्तियों व गैर सरकारी संस्थाओं से कुछ धन मिल जाया करता है। परन्तु इस वर्ग की आय मात्रा के दृष्टिकोण से कोई विशेष महत्व की नहीं। इन दोनों प्रकार की आय की आधारभूत विशेषता यह है कि इनका मिलना दाता की स्वेच्छा पर निर्भर होता है और इसमें अनिवार्यता का तत्व नहीं होता।

- **प्रशासनात्मक आय-** इस श्रेणी के अन्तर्गत शुल्क, लाइसेन्स शुल्क, जुर्माने, जब्तगी, विशेष निर्धारण तथा वह आय सम्मिलित है जो कि राज्य को किसी व्यक्ति के बिना उत्तराधिकारी छोड़े हुए, मर जाने पर उसकी सम्पत्ति से मिलती है। वह आय सरकार की प्रशासनिक गतिविधियों के फलस्वरूप होती है।
- **व्यापारिक आय-** इस आय के अन्तर्गत वह आय शामिल है, जो सरकार के द्वारा उत्पन्न की हुई वस्तुओं को खरीदने पर मूल्यों के रूप में उसे दी जाती है, जैसे- डाकखर्च, सरकारी निगमों को रूपया उधार देने पर, मिला ब्याज, अथवा सरकारी विद्युत कम्पनी को दिये जाने वाले मूल्य भी इसमें शामिल है। इस आय के अन्तर्गत सरकार को प्राप्त होने वाली आय तथा दाता को होने वाले लाभ में प्रत्यक्ष सम्बन्ध होता है, किन्तु सामाजिक हित को ध्यान में रखते हुए अपनी सभी सेवाओं के बदले में सरकार अपनी लागत से कुछ कम ही मूल्य वसूल करती है, जैसे प्रायः डाक सेवाओं के बारे में यह बात अच्छी तरह लागू होती है।
- **कर-** विभिन्न प्रकार के कर जो सरकार के द्वारा लगाये जाते है इस श्रेणी में रखे जाते है।

टेलर का यह वर्गीकरण अधिक सुव्यवस्थित, तर्क संगत तथा उपयोगी प्रतीत होता है। उसने निष्चय ही आय ही आय के विभिन्न साधनों को उनके स्वभाव के अनुसार विभिन्न वर्गो में प्रस्तुत किया है।

5. **भारतीय रिजर्व बैंक द्वारा वर्गीकरण-** भारत में रिजर्व बैंक ने केन्द्रीय और राज्य सरकारों की आय के साधनों का अत्यन्त उपयोगी वर्गीकरण दिया है। इस वर्गीकरण के अनुसार सम्पूर्ण आय को प्रमुख भागों में बांटा गया है- कर से आय और गैर-कर आय।
   - कर से आय के अन्तर्गत विभिन्न प्रकार के कर, जैसे- आय तथा व्यय पर कर, सम्पत्ति तथा पूंजी के सौदों पर कर तथा वस्तुओं और सेवाओं पर कर शामिल है।
   - गैर-कर आय के अन्तर्गत प्रशासनात्मक प्राप्तियॉ, सार्वजनिक उद्योगों, जैसे- रेलवे, टेलीग्राफ, मुद्रा तथा टकसाल से आय तथा अन्य आय (जैसे राज्यो से मिला ब्याज) शामिल हैं। राज्यों के सम्बन्ध में केन्द्रीय सरकार के द्वारा दिए हुए अनुदान तथा अन्य प्रतिदान भी सम्मिलित है।

11.6 करों के अतिरिक्त आय

करों के अतिरिक्त आय का वर्गीकरण निम्न है-

11.6.1 शुल्क

शुल्क अथवा फीस की निम्न परिभाषा दी जा सकती है- ''यह एक ऐसा भुगतान है, जो सरकार सामान्य हित में प्रदान की गई सेवाओं तथा सुविधाओं के बदले में लेती है, लेकिन जिनसे शुल्क दाता को प्रत्यक्ष लाभ मिलता है। उदाहरण के लिए पेटेन्ट फीस, रजिस्ट्रेषन फीस, कोर्ट फीस आदि।''

फीस लगाने का आधार यह माना जाता है कि सेवा प्रदान करने व निगरानी करने में जो लागत आए, उसके बराबर फीस ली जाय। परन्तु व्यवहार में बहुधा सुविधा के कारण, बिना लागत का ध्यान रखे ही फीस निश्चित कर दी जाती है।

बहुधा फीस की मात्रा, लागत से अधिक होती है। ऐसी दशा में, आधिक्य को कर कहना उचित होगा। व्यवहार में, पूरे भुगतान को शुल्क ही कह लिया जाता है और उसे शुल्क तथा कर में विभाजित नहीं किया जाता।

शुल्क और कर में अन्तर को सपष्ट किया जा सकता है-

- शुल्क के बदले में सरकार शुल्क दाता को विशेष लाभ, सुविधा या अधिकार देती है। परन्तु कर के बदले में करदाता को कोई प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता।
- शुल्क सिद्धान्तः सेवा की लागत को पूरा करने लिये लिया जाता है, परन्तु कर के साथ इस प्रकार का प्रश्न नहीं उठता।
- शुल्क ऐच्छिक है परन्तु कर अनिवार्य।

11.6.2 लाइसेन्स शुल्क

लाइसेन्स फीस या शुल्क उन मामलों में ली जाती है जब कि सरकारी अधिकारी स्वंय कोई कार्य या सेवा सेवा न करके किसी अन्य व्यक्ति को यह अधिकार सौंप देता है। इसमें नियमन एवं नियन्त्रण का अंश छिपा रहता है। समाज हित में कुछ व्यक्तियों को ही सेवायें सम्पन्न करने के अधिकार दिये जाते है और उनके बदले में उनसे लाइसेन्स फीस वसूल की जाती है। उदाहरणार्थ, मादक वस्तुओं के विक्रय के लिये लाइसेंस दिये जाते और बदले में लाइसेन्स शुल्क लिये जाते है।

शुल्क और लाइसेन्स शुल्क में अन्तर यह है, कि शुल्क उन मामलों में दिया जाता है जब सरकार कोई सेवा सम्पन्न करती है, जब कि लाइसेन्स शुल्क उन मामलों में दिया जाता है जब कि सरकारी अधिकारी कोई कार्य न करके, किसी व्यक्ति को कार्य व सेवा करने का अधिकार प्रदान कर देता है।

11.6.3 जुर्माना

जुर्माना वह भुगतान है, जो सरकार नागरिकों से सरकारी कानून तोड़ने पर दण्ड स्वरूप लेती है। जुर्माने का उद्देश्य दण्ड लेकर समाज में होने वाली बुराइयों को रोकना होता है, तथा लोगों को सरकारी कानून का पालन करने के लिए बाध्य करना होता है।

जुर्माने तथा कर में अन्तर, जुर्माना तब ही लगता है जब किसी व्यक्ति ने कोई अपराध किया हो, परन्तु कर बिना अपराध किये ही सरकार व्यक्तियों से ले लेती है। जब कि कर का उद्देश्य मुख्यतः आय प्राप्त करना होता है, जुर्माने का उद्देश्य अपराध रोकना होता है।

11.6.4 विशेष निर्धारण

सेलिगमैन के अनुसार, ''विशेष निर्धारण एक ऐसा अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त होने वाले विशेष लाभ के अनुपात में लगाया जाता है, ताकि जनता के हित में किये गए सम्पत्ति में विशेष सुधार की लागत को पूरा किया जा सके।''

ब्यूहलर के अनुसार विशेष निर्धारण एक अनिवार्य भुगतान है, जो चुनी हुई सम्पत्ति पर विशेष सुधार या सेवा के लिए लगाया जाता है; यह विशेष सुधार या सेवा जनहित में की जाती है लेकिन इससे सम्पत्ति के मालिको को भी लाभ होता है। विशेष निर्धारण प्रमुख विशेषताएं-

1. यह एक अनिवार्य अंशदान है; इसका देना व्यक्ति के लिए अनिवार्य होता है।
2. यह किसी स्थान विशेष के विकास की लागत पूरा करने के लिए लगाया जाता है।
3. स्थानीय विकास सामान्य हित में किया जाता है।
4. स्थानीय विकास के फलस्वरूप वहां के सम्पत्ति के स्वामियों को विशेष लाभ व सुविधायें उपलब्ध होती हैं तथा उनकी सम्पत्ति के पूंजीगत मूल्य में वृद्धि होती है।
5. विशेष निर्धारण आम तौर से भूमि पर और कभी-कभी भवन पर लगाया जाता है। चल सम्पत्ति पर विशेष निर्धारण नहीं लगाया जाता।

6. विशेष निर्धारण की राशि, प्राप्त लाभ के समानुपात में होती है।

उदाहरण के तौर पर यदि सरकार जनहित की दृष्टि किसी स्थानीय क्षेत्र में सड़कें बनवा दें, पार्क लगवा दें, नालियों की उचित व्यवस्था कर दें, सीवर लाइन डलवा दें, जल-पूर्ति की व्यवस्था कर दें, तो स्थानीय लोगों को विशेष लाभ होगा और उनकी सम्पत्तियों के मूल्य में वृद्धि हो जायेगी।

इसी प्रकार, सिंचाई के लिए नहरों एवं कुओं की व्यवस्था कर देने से कृषि-भूमि का मूल्य भी बढ़ जायगा।

उपयुक्त दशाओं में व्यक्तिओं को मिलने वाला लाभ अनर्जित होता है, क्योंकि उसके लिए उन्हें कोई व्यय व परिश्रम नहीं करना पड़ता। इस लाभ का कुछ अंश सरकार विशेष निर्धारण के रूप में ले लेती है।

विशेष निर्धारण एवं कर में अन्तर-

- विशेष निर्धारण स्थानीय विकास होने पर लगाया जाता है, जबकि कर लगाने में ऐसा नहीं होता;
- विशेष निर्धारण की आय केवल सम्बन्धित क्षेत्र में स्थानीय विकास के हेतु उपयोग की जाती है, जबकि कर से प्राप्त आय विकास कार्यों तथा राजकीय प्रबन्ध दोनों पर हीं की जाती है।
- विशेष निर्धारण से प्राप्त आय उसी क्षेत्र में व्यय कर दी जाती है, जहां से उसे प्राप्त किया गया है परन्तु कर से प्राप्त आय सामान्यतः अन्य स्थानों पर व्यय की जाती है।
- विशेष निर्धारण देने वाले व्यक्तियों को प्रत्यक्ष लाभ प्राप्त होता है जबकि कर देने वाले व्यक्तियों को प्रत्यक्ष लाभ नहीं मिलता।
- विशेष निर्धारण, व्यक्ति को स्थानीय विकास से मिलने वाले लाभ के आधार पर निश्चित होता है, जबकि कर बहुधा करदाता की क्षमता पर।
- विशेष निर्धारण का सम्बन्ध सम्पत्ति (विशेष कर भूमि) से होता है, जब कि कर का सम्बन्ध सम्पत्ति, आय, व्यय आदि किसी से हो सकता है।
- सम्पत्ति कर से मुक्त हो सकती है, परन्तु विशेष निर्धारण से नहीं जब तक कि सम्पत्ति को स्थानीय विकास से लाभ ही न पहुंचा हो।
- विशेष निर्धारण केवल एक ही बार में निश्चित कर दिया जाता है, यद्यपि उसका भुगतान एक दम से या किस्तों में किया जा सकता है, परन्तु कर का निर्धारण प्रतिवर्ष होता है।

11.6.5 मूल्य

मूल्य यह ऐच्छिक भुगतान है जो सरकार व्यक्तियों से वस्तुओं तथा सेवाओं के बदले में प्राप्त करती है। इसके उदाहरण सरकारी उद्योगों तथा व्यापारिक संस्थानों के द्वारा बेची गई वस्तुओं के बदले में मिलने वाले मूल्य है। बहुधा सरकारी जनोपयोगी संस्थानो द्वारा बिजली, पानी, रेल यातायात, टेलीफोन आदि की सुविधाएं प्रदान की जाती है; इनके बदले में जो मूल्य प्राप्त होता है उसे दर के नाम से पुकारा जाता है।

मूल्य एवं कर में अन्तर-

- मूल्य एक ऐच्छिक भुगतान है; मूल्य देने के लिए सरकार किसी व्यक्ति को बाध्य नहीं कर सकती। यदि राजकीय वस्तुओं का उपभोग न किया जाय, तो मूल्य देने की आवश्यक ता नहीं होती। दूसरी ओर, कर एक अनिवार्य भुगतान है, जिसका देना व्यक्ति की अपनी इच्छा पर निर्भर नहीं करता।
- मूल्य के बदले में प्रत्यक्ष सेवा या सुविधा प्रदान की जाती है, जबकि कर के बदले में प्रत्यक्ष सेवा या सुविधा नही दी जाती।

अभ्यास प्रश्न-

1. कर कैसा भुगतान है?
2. शुल्क कैसा कर है?
3. किसके अन्तर्गत सरकारी अधिकारी कोई कार्य न करके किसी व्यक्ति को कार्य या सेवा का अधिकार प्रदान कर देते है?
4. VAT का पूरा नाम क्या है?
5. GST का पूरा नाम क्या है?
6. GST को कब लागू किया गया?

11.7 सारांश

सार्वजनिक आय से अभिप्राय सरकार द्वारा प्राप्त किये गये उस धन से है, जिसकी वापसी नही की जाती है। सार्वजनिक आय के अनेक श्रोत हैं, जैसे- कर, शुल्क , लाइसेन्स शुल्क, जुर्माना, विशेष निर्धारण, मूल्य, उपहार एवं अनुदान। कर सार्वजनिक आय का एक प्रमुख साधन है। कर लगाते समय कुछ सिद्धान्तों को ध्यान में रखना आवश्यक है। इन सिद्धान्तों को ही करारोपण का सिद्धान्त कहते हैं। करारोपण के सिद्धान्तों की सबसे महत्वपूर्ण व्याख्या एडम स्मिथ ने किया है। प्रो0 फिण्डले षिराज के अनुसार, एडमस्मिथ के बाद कोई भी विद्धान करारोपण के सिद्धान्तों को इतना सरल तथा स्पष्ट रूप में प्रस्तुत नही कर पाया है। प्रो0 एडम स्मिथ ने अपनी पुस्तक "Wealth of Nation" में करारोपण के सम्बन्ध में कुछ महत्वपूर्ण सिद्धान्त बताये हैं, जो समता का नियम, निश्चितता का नियम, सुविधा का नियम तथा मितव्ययिता का नियम है। किसी वस्तु की खुदरा कीमत, उत्पादन तथा वितरण के प्रत्येक चरण में होने वाले मूल्य सवर्धन का योग है। मूल्य संवर्धन बिक्री कीमत तथा खरीदी गयी सामग्रियों की लागत का अन्तर है। बिक्री कर के इस दूसरे सम्भव रूप के अन्तर्गत, वस्तुओं पर उत्पादन तथा वितरण के प्रत्येक स्टेज पर होने वाली मूल्य वृद्धि पर कर लगाया जाता है, न कि कुल प्राप्ति पर। इसे मूल्य संवर्धन कर वैट का नाम दिया गया है। वस्तु एवं सेवा कर, वस्तुओं और सेवाओं की आपूर्ति पर लगाया जाने वाला एकीकृत कर है। इसकी शुरूआत भारत में 1 जुलाई 2017 को की गई। इस कर में उत्पाद शुल्क , राज्य स्तरीय कर, मनोरंजन कर, सेवा कर व अन्य अप्रत्यक्ष स्थानीय कर शामिल है। वस्तु व सेवा कर, का आरोपण अन्तिम उपभोक्ता पर किया जाता है। इसके प्रत्येक चरण के आपूर्तिकर्ता को इनपुट टैक्स क्रेडिट व्यवस्था (Input tax credit Facility) के माध्यम से इसकी भरपाई करने की अनुमति होती है।

11.8 शब्दावली

कर- कर एक अनिवार्य भुगतान है। कर के बदले करदाता को कोई प्रत्यक्ष वस्तु या सेवा नही प्रदान की जाती है।
शुल्क- शुल्क ऐच्छिक होता है परन्तु कर अनिवार्य होता है। शुल्क के उदाहरण पेटेन्ट शुल्क, रजिस्ट्रेशन शुल्क कोर्ट फीस आदि है।
लाइसेन्स शुल्क- शुल्क उन मामलों में दिया जाता है जब सरकार कोई सेवा सम्पन्न करती है, लाइसेन्स शुल्क के अन्तर्गत सरकारी अधिकारी कोई कार्य न करके किसी व्यक्ति को कार्य या सेवा का अधिकार प्रदान कर देते हैं।
जुर्माना- जुर्माना तभी लगता है जबकि व्यक्ति ने कोई अपराध किया हो। जुर्माना का उद्देश्य अपराध-रोकना है।
विशेष निर्धारण- विशेष निर्धारण एक अनिवार्य अंशदान है जो प्राप्त होने वाले विशेष लाभ के अनुपात में लगाया जाता है। उदाहरण- विकास सेवी, विकास चार्ज आदि।
मूल्य- मूल्य वह ऐच्छिक भुगतान है जो सरकार व्यक्तियों से वस्तुओ और सेवाओं के बदले में प्राप्त करती है।

उपहार- कभी-कभी राष्ट्र-प्रेमी या दानात्मक स्वभाव के व्यक्ति या संस्था अथवा एक देश की सरकार अन्य देश को उपहार देती है। उपहार प्रायः बाढ़, सूखा महामारी व भूकम्प की स्थिति में दिये जाते है।

कर-देय क्षमता- कर-देय क्षमता से तात्पर्य लोगो की आर्थिक समृद्धि या उनके जीवन-स्तर से लगाया जाता है जिस व्यक्ति की आर्थिक समृद्धि अधिक होती है उसकी कर देने की योग्यता अधिक होती है।

प्रगतिशील कर- जब आय बढ़ने के साथ कर की दर बढ़ती जाती है तो ऐसे कर को प्रगतिशील कर कहते हैं। आयकर ऐसे कर का प्रमुख उदाहरण है।

प्रतिगामी कर- यदि आय बढ़ने के साथ-साथ कर की दर घटती जाय तो ऐसा कर प्रतिगामी कर कहलायेगा। ऐसे करों के उदाहरण अप्रत्यक्ष कर है।

कराघात- जब सरकार किसी व्यक्ति पर कर लगाती है और उस राशि को उसी से वसूला जाता है इसे उस व्यक्ति पर कराघात कहेगें। उदाहरण के लिए उत्पादक पर कराघात होता है।

कर विवर्तन- उत्पादक कर की राशि थोक विक्रेता से वसूल लेता है, थोक विक्रेता फुटकर विक्रेता से वसूल लेता है कर के टालने की इस प्रक्रिया को कर-विवर्तन कहते है।

करापात- कर के टालने की प्रक्रिया जब समाप्त हो जाती है और जिस व्यक्ति पर इसका भार अन्त में, पड़ता है उस व्यक्ति पर करापात हुआ माना जाता है। उपभोक्ता पर करापात होता है।

एकीकृत कर- कई करों को मिलाकर एक कर लगाया जाना एकीकृत कर होता है।

आरोपण (भार)- आरोपण का अर्थ, भार या अन्तिम भार से है।

इनपुट टैक्स क्रेडिट व्यवस्था- विक्रेता को क्रय पर दिये गये कर, का छूट प्राप्त होना, इनपुट टैक्स क्रेडिट की व्यवस्था कहलाता है।

भरपाई- अब तक दिये गये कर का क्रेडिट प्राप्त करना, भरपाई कहलाता है।

विसंगति- अन्तर का न होना, विसंगति न होना कहलाता है।

रिवर्ज चार्ज तन्त्र- जहां प्राप्तकर्ता कर का भुगतान करता है।

क्रेडिट- क्रेडिट का अर्थ छूट से है।

11.19 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. अनिवार्य, **2.** ऐच्छिक, **3.** लाईसेन्स शुल्क, **4.** Value Added Tax, **5.** Goods and Services Tax, **6.** 1 जूलाई 2017

11.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. राजस्व- डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय।
2. लोकवित्त- डॉ0 एस0 के0 सिंह।
3. राजस्व- डॉ0 आर0 एस0 कौशिक।
4. राजस्व सिद्धान्त एवं व्यवहार- के0 एल0 माहेश्वरी।
5. Delton, H- Principles of public Finance.
6. Public Finance Theory and Practice- Mehta and Agrawal.
7. Shirras, Findley- The Science of Public Finance.
8. Hicks, Ursula- Public Finance.
9. A.C. Pigou- A Study of Public Finance.
10. Taylor P.E.- Economics of Public Finance.

11. Raja J. Chhelliah- Fiscal Policy in under developed Countries.
12. Indirect Taxes अप्रत्यक्ष कर- डॉ0 एच0 सी0 मेहरोत्रा एवं प्रो0 वी0 पी0 अग्रवाल।
13. News Paper.
14. Net Surfing.

11.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. Indirect Taxes अप्रत्यक्ष कर- डॉ0 एच0 सी0 मेहरोत्रा एवं प्रो0 वी0 पी0 अग्रवाल।
2. राजस्व- डॉ0 जे0 सी0 वार्ष्णेय।
3. लोकवित्त- डॉ0 एस0 के0 सिंह।
4. राजस्व- डॉ0 आर0 एस0 कौशिक।
5. राजस्व सिद्धान्त एवं व्यवहार- के0 एल0 माहेश्वरी

11.12 निबन्धात्मक प्रश्न

1. लोक वित्त से आप क्या समझते हैं? इसके क्षेत्र की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. सार्वजनिक आय को परिभाषित करते हुए इसकी व्याख्या कीजिए।
3. WAT और GST को विस्तार से समझाइए।

इकाई- 12 घाटे का वित्तीयन

इकाई की संरचना

12.0 प्रस्तावना
12.1 उद्देश्य
12.2 भारत में हीनार्थ प्रबन्धन की विभिन्न धारणाएं
12.3 हीनार्थ प्रबन्धन का उद्देश्य
12.4 राजस्व घाटा व पूंजी घाटा
    12.4.1 प्रभावी राजस्व घाटा
    12.4.2 पूंजी घाटा
12.5 राजकोषीय घाटा
12.6 प्राथमिक घाटा व मौद्रिकृत घाटा
12.7 निवल मूल घाटा
12.8 सार्वजनिक क्षेत्र की उधार आवश्यकता
12.9 संरचनात्मक घाटा व परिचालन घाटा
12.10 बजट घाटा तथा बजट अधिशेष
12.11 घाटे का वित्त पोषण व इसकी आवश्यकता
12.12 घाटे की वित्त पोषण के साधन
12.13 राजकोषीय घाटे की बनावट व राजकोषीय नीति
12.14 सारांश
12.15 शब्दावली
12.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.17 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
12.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.19 निबन्धात्मक प्रश्न

12.0 प्रस्तावना

हीनार्थ-प्रबन्धन से आशय सरकार द्वारा प्रबन्धित उस धनराशि से है, जिसमें सरकार अपनी सामान्य आय से अधिक व्यय करती है, अर्थात सरकार के सम्भावित व्यय उसकी सम्भावित आय से अधिक होने पर सरकार उसको पूरा करने के लिए जो उपाय करती है उसको हीनार्थ-प्रबन्धन कहते हैं।

12.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- हीनार्थ प्रबन्धन, राजस्व घाटा व प्रभावी राजस्व घाटा, पूँजी घाटा तथा राजकोषीय घाटा की व्याख्या कर सकेंगे।
- प्राथमिक और मौद्रिकृत घाटा मध्य भेद कर सकेंगे।
- बजट घाटा तथा बजट अधिशेष की व्याख्या कर सकें।

- घाटे का वित्त पोषण तथा उसकी आवश्यकता व साधन की व्याख्या कर सकेंगे।
- राजकोषीय घाटे की बनावट व राजकोषीय नीति को समझने में सक्षम होंगे।

12.2 भारत में हीनार्थ प्रबन्धन की (घाटे की वित्त-व्यवस्था) विभिन्न धारणाएं

भारत में केन्द्रीय सरकार के बजट में हीनार्थ प्रबन्धन या घाटे को विभिन्न रूपों में दिखाया जाता है जो इस प्रकार है-

1. **बजटरी घाटा-** सरकार की सभी प्राप्तियों की तुलना में सरकार के कुल व्यय की अधिकता को बजटरी घाटा कहा जाता है। बजटरी घाटा = कुल व्यय-कुल प्राप्ति
2. **आगम या राजस्व घाटा-** सरकार की आगम आय की तुलना में आगम व्यय की अधिकता को आगम घाटे के नाम से दर्शाया जाता है। सूत्र के रूप में- आगम या राजस्व घाटा = आगम व्यय- आगम प्राप्ति
3. **प्रभावी राजस्व घाटा-** यह धारणा 2012-13 केन्द्रीय बजट से प्रारम्भ की गयी है। इसका आशय राजस्व घाटा तथा पूंजी सम्पत्तियों के सृजन हेतु दिये गये अनुदान के अन्तर से है। इस पर ध्यान केन्द्रित करने से राजस्व घाटे के उपभोग सम्बन्धी घटक में कमी लाने और अभिवृद्धित पूंजीगत व्यय हेतु क्षमता स्थापित करने में सहायता मिलेगी।
4. **राजकोषीय घाटा-** इसका अर्थ आगम प्राप्तियों ओर ऋण-भार उत्पन्न न करने वाली पूंजीगत प्राप्तियों पर कुल व्यय के आधिक्य से होता है।
5. नोट- राजकोषीय घाटे को 'सकल राजकोषीय घाटा' भी कहा जाता है। ऋण भार उत्पन्न न करने वाली पूंजीगत प्राप्तियों से आशय ऋणों की वसूली तथा अन्य पूंजीगत प्राप्तियों (उधार एवं अन्य देयताओं को छोड़कर) से होता है।
6. **प्राथमिक घाटा-** राजकोषीय घाटे में सरकार द्वारा ब्याज के रूप में भुगतान की जाने वाली राशि को घटाकर आने वाला घाटा प्राथमिक घाटा कहलाता है। इसे 'प्राथमिक राजकोषीय घाटा' भी कहते हैं।
7. **मौद्रिकृत घाटा-** यह घाटा राजकोषीय घाटे का वह भाग है जिसकी पूर्ति रिजर्व बैंक द्वारा नये नोटों को छापकर की जाती है।

यह उल्लेखनय है कि सन 1997-98 के बजट से तदर्थ ट्रेजरी बिलों और 91 दिन के ट्रेजरी बिलों की व्यवस्था समाप्त हो जाने के कारण "बजटरी घाटा" की धारणा की प्रासंगिकता समाप्त हो गयी है।

12.3 हीनार्थ प्रबन्धन के उद्देश्य

विश्व में हीनार्थ प्रबन्धन की व्यवस्था का प्रारम्भ आर्थिक मन्दी तथा युद्धकालीन संकटों का सामना करने के लिए किया गया, लेकिन वर्तमान समय में इसे आर्थिक विकास की वित्त व्यवस्था के लिए भी व्यापक रूप से प्रयोग किया जाता है। विस्तृत रूप से हीनार्थ प्रबन्धन के उद्देश्य को अग्र प्रकार रखा जा सकता है-

1. **मन्दी के प्रभाव को रोकने के लिए-** मन्दी के समय कुल प्रभावपूर्ण मांग में कमी आ जाती है जिसके परिणाम स्वरूप रोजगार में गिरावट आ जाती है। लार्ड कीन्स का मत है कि मन्दी काल में प्रभावपूर्ण मांग की कमी के कारण रोजगार में कमी आ जाती है तथा रोजगार में कमी प्रभावपूर्ण मांग को कम कर देती है। इस प्रकार एक दुष्चक्र पैदा हो जाता है जो कि सार्वजनिक व्यय को बढ़ाकर समाप्त किया जा सकता है। कीन्स ने सुझाव दिया कि हीनार्थ प्रबन्धन का प्रयोग क्षतिपूरक वित्त के रूप में किया जायें इसके अन्तर्गत व्यक्तिगत व्यय में हुई कमी को सरकार अपने व्यय से पूरा करती है। इसके परिणामस्वरूप प्रभावपूर्ण मांग में वृद्धि हो जाती है। यदि मन्दी काल में सरकार सार्वजनिक निर्माण कार्यों पर व्यय आरम्भ कर दे तो

इसके फलस्वरूप रोजगार की मात्रा बढ़ेगी और नागरिकों के हाथों में अधिक क्रय शक्ति आयेगी। इससे वस्तुओं तथा सेवाओं की मांग बढ़ेगी, कीमतें उठेंगी, उत्पादन बढ़ेगा, रोजगार बढ़ेगा तथा मन्दी का चक्र समाप्त हो जायेगा, परन्तु इस दिशा में सफलता तभी मिलेगी जब हीनार्थ-प्रबन्धन किया जाए क्योंकि उसे अतिरिक्त द्रव्य का सृजन होगा जिससे समाज में कुल व्यय-योग्य कोष मे वृद्धि हो जायेगी। उन्नत देशों, विशेषकर अमरीका में मन्दी के प्रभावों को दूर करने के लिए इसका आश्रय लिया गया है। ऐसे हीनार्थ प्रबन्धन का मुद्रास्फीतिजनक प्रभाव नहीं होता वरन् गिरती कीमतों को ऊपर उठाकर निष्क्रिय अर्थयवस्था को चेतन किया जाता है।

मन्दी के उपचार के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन का प्रयोग तीन प्रकार से किया जा सकता है-

- पम्प प्राइमिंग- इसके अन्तर्गत मन्दी से उत्पन्न शिथिलता को दूर करने के लिए सार्वजनिक निर्माण नीति प्रयोग में लायी जाती है। सड़कें, पुल, नहरें इत्यादि का निर्माण आरम्भ किया जाता है। व्यक्तियों को रोजगार मिलता है। उनके हाथों में क्रय शक्ति आती है। वस्तुओं की मांग बढ़ती हैं बड़े पैमाने पर क्षतिपूरक व्यय किया जाता है। टेलर के शब्दों में, "पम्प प्राइमिंग इस विश्वास पर आधारित है कि यदि पर्याप्त मात्राओं में तथा उचित परिस्थतियों के अन्तर्गत सार्वजनिक कोषों का आय-प्रवाह में इन्जेक्शन लगा दिया जाये तो वह आशा की प्रवृति को बदल देगा तथा मन्दी से उभार को प्रोत्साहन देगा।"
- चक्रीय- हीनार्थ-प्रबन्धन के अन्तर्गत सरकार अपने व्यय में वृद्धि करने के साथ-साथ करों में छूट आदि की सुविधाएं देती है। इसका उद्देश्य व्यापार-चक्र के परिणामस्वरूप उत्पन्न मन्दी की तीव्रता कम करना है।
- चिरकालिक- हीनार्थ प्रबन्धन के अन्तर्गत दीर्घकाल तक धाटे के बजट बनाये जाते हैं। सरकारी व्यय में वृद्धि की जाती है। धीरे धीरे नये विनियोगी निवेश करने के लिए प्रोत्साहित होने लगते हैं। हेन्सन की मान्यता है कि लम्बी अवधि तक तीव्रगति से विकास होने पर अर्थव्यवस्था में परिपक्वता आ जाती है। नयी पूंजी के निवेश की दर गिरने लगती है। नये निवेश के अवसर नहीं होते। निष्क्रियता का वातावरण पैदा हो जाता है। ऐसी धारणा बन जाती है कि अब कोई लाभ नहीं होगां इसे दूर करने के लिए लम्बे समय तक हीनार्थ-प्रबन्धन किया जाता है।

2. **युद्धकाल में हीनार्थ-प्रबन्धन-** युद्ध काल में समस्या यह होती है कि देश के समस्त साधनों को यृद्ध के प्रयत्नों में लगाया जाये। यह काम हीनार्थ-प्रबन्धन से किया जा सकता है। यृद्धकाल में अत्यधिक धन की आवश्यकता होती है जिसकी पूर्ति करारोपण, सार्वजनिक उपक्रमों से आय तथा ऋणों द्वारा की जाती है परन्तु इन सबसे प्राप्त आय पर्याप्त नहीं होती अतः युद्ध चलाने के लिए सरकार हीनार्थ प्रबन्धन करती है। इसके द्वारा सरकार के हाथों में अतिरिक्त क्रय-शक्ति आ जाती है जिससे यृद्ध के लिए सामग्री तथा सेवाएं खरीदी जाती हैं। इस प्रकार के हीनार्थ प्रबन्धन से उत्पादन घट जाता है क्योंकि उत्पत्ति के साधन सामान्य वस्तुओं के उत्पादन से हटाकर युद्ध की वस्तुओं को पैदा करने में लग जाते हैं तथा जनता के हाथों में सरकारी व्यय द्वारा अतिरिक्त क्रय शक्ति पहुँच जाती है। परिणामतः कीमतें बढ़ जाती हैं।
3. **आर्थिक विकास के लिए हीनार्थ-प्रबन्धन-** एक विकसशील देश को विभिन्न क्षेत्रों में निवेश के लिए धन की आवश्यकता होती है जिससे अर्थव्यवस्था को धरातल से उपर उठाने की स्थिति में लाया जायें। यह निवेश बड़ी राशि में होना चाहिएं अल्प विकास के घेरे में फंसी अर्थव्यवस्था को झटका देकर निकाला जा सके। अल्प विकसित देश में प्रति व्यक्ति आय कम होती है, अतः बचत भी कम होती है। जीवन निर्वाह ही कठिनाई से होता है बचत कहां से हो? इस कारण विकास के लिए धन नहीं मिल पाता।

जनता निर्वाह स्तर से भी नीचे रहती है। धन के वितरण में असमानता होती है। कुछ धनी व्यक्ति उपभोग पर बहुत व्यय करते हैं। इस उपभोग को सरकार कर लगाकर कम कर सकती हैं परन्तु इससे पर्याप्त धन नहीं मिल पाता। ऋण भी इतने नहीं मिल पाते कि विकास की आवश्यकता को पूरा कर सके। लोकतन्त्र में सरकार अधिक कर लगाते हुए भी हिचकिचाती है क्योंकि उसे भय रहता है कि आगामी चुनाव में लोग उसे वोट नहीं देंगें, अतः हीनार्थ प्रबन्धन का सहारा लेना आवश्यक हो जाता है। यदि लक्ष्य अच्छा है तो साधन कैसे भी क्यों न हों वे उचित ही कहे जायेंगे। नई मुद्रा का सृजन कर प्राकृतिक एवं मानवीय संसाधनों को काम में लगाया जाता हैं।

12.4 राजस्व घाटा व पूंजी घाटा

सरकारी बजट के राजस्व खाते की कुल व्यय यदि कुल आय से अधिक हो तो घाटे की मात्रा राजस्व घाटा कहलाता है। राजस्व व्यय अनिवार्य है तथा तत्कालिक होता है। ऐसे व्यय उपभोगात्मक तथा अनुत्पादक होते हैं। इस प्रकार के व्यय को वित्तीय नीति के क्षेत्र में अपराध माना जाता है। इस घाटे को कम करने के लिए खर्च किए जाने वाले पैसे का उपयोग किसी भी विकासात्मक कार्य के लिए किया जा सकता है। भारत में इस नयी शब्दावली का प्रयोग वित्त वर्ष 1997-98 से प्रारम्भ हुआ।

सरकारी बजट के राजस्व खाते की यदि कुल आय कुल व्यय से अधिक हो तो यह आधिक्य राजस्व अधिशेष कहलाता हैं। इस तरह की वित्तीय नीति को बेहतर माना जाता है, क्योंकि राजस्व अधिशेषके पैसों का उपयोग उत्पादक क्षेत्रों में किया जा सकता है। दूसरी बात जो ध्यान में रखी जानी चाहिए कि किस प्रकार सरकार ने इस अधिशेष का प्रबन्ध किया है तथा इस दिशा मे अपनाई गई नीति औचित्यपूर्ण है अथवा नहीं। दूसरी पंचवर्षीय योजना में भारत राजस्व अधिशेष राज्य बन गया, लेकिन विशेषज्ञों ने इसकी सराहना नहीं की है, क्योंकि प्रभाव अर्थव्यवस्था पर अच्छा नहीं था- कर के अधिक दर हो जाने के कारण कर की चोरी होने लगी तथा भ्रष्टाचार, काला धन इत्यादि भी अर्थव्यवस्था में व्याप्त हुआ।

किसी भी वित्त वर्ष के राजस्व घाटे को मात्रात्मक रूप अथवा सकल घरेलू उत्पाद के प्रतिशत के रूप में दर्शाया जाता है। सामान्यतः राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय आकलन के लिए इसे प्रतिशत के रूप में दर्शाया जाता है।

12.4.1 प्रभावी राजस्व घाटा

प्रभावी राजस्व घाटा एक नयी अवधारणा है जिसे संघीय बजट 2011-12 द्वारा पहली बार इस्तेमाल किया गया। परंपरागत रूप से राजस्व घाटा सरकार की राजस्व प्राप्ति और व्यय के बीच का ऋणात्मक अंतर है। ज्ञात हो कि इस घाटे में केन्द्र सरकार के वे व्यय भी शामिल होते हैं जो वह राज्य सरकार को 'अनुदान' के रूप में देता है और इनसे कई विकासशील परिसंपत्तियों का सृजन होता है। हालाकि इन परिसंपत्तियों का स्वामित्व केन्द्र के बजाय राज्यों का होता है। केन्द्रीय वित्त मंत्री (वर्ष 2011-12) के अनुसार केन्द्र के इस व्यय को 'गैर विकासात्मक' या 'अनुत्पादक' नहीं माना जा सकता, क्योंकि इनसे प्रत्यक्ष विकासशील निवेश होता है। इस प्रकार यह तर्क रखा गया कि इस कारण केंद्र के राजस्व व्यय में से न उन खर्चो को जिनसे राज्यों में परिसंपत्तियाँ सृजित होती हैं, को घटाकर देखा जाना चाहिए और जो मात्रा बचती है वास्तव में वहीं केंद्र का राजस्व घाटा माना जाना चाहिए। इसे सूचित करने के लिए ही इस नयी अवधारणा का ERD उपयोग किया गया। अर्थात ERD की प्राप्ति केंद्र के राजस्व घाटे में से उसके "पूंजीगत अस्तियों संबधी अनुदानों'' को घटाने से होती है। इन अस्तियों में मुख्यातया प्रधानमंत्री ग्राम सड़क योजना, त्वरित सिंचाई लाभ कार्यक्रम आदि शामिल थे।

इस अवधारणा का अंतिम उल्लेख हमें केंद्रीय बजट 2013-14 में मिलता है, जिसके अनुसार 2016-17 तक जबकि RD 1.5 प्रतिशत रहने का अनुमान लगाया गया था ERD शून्य हो गया था। इसका अर्थ है, वर्ष 2016-17

तक RD केवल GoCAs के कारण होना चाहिए था। यह वास्तव में आरडी की व्याख्या करने का एक नया तरीका थां हम केंद्रीय बजट 2014-15 (पूर्ण) के बाद 2016-17 तक भारत सरकार द्वारा इसका इस्तेमाल नहीं पाते हैं। इस तरह नई अवधारणा को समाप्त मान लिया गया है।

12.4.2 पूँजी घाटा

सार्वजनिक वित्त या अर्थशास्त्र में कोई ऐसा शब्द नहीं है। लेकिन व्यवहार में अक्सर यह शब्द पूंजी की कमी, पूंजी की विरलता के अर्थ में रोजमर्रा के आर्थिक समाचारों में सुनने में आता है। दर असल सरकार सार्वजनिक व्यय के लिए अपेक्षित निधि, धन, पूंजी के प्रबंधन की समस्या से जूझ रही होती है। ऐसे खर्चे राजस्व संबधित भी हो सकतें हैं या पूंजी से जुड़े हुए भी। विकासशील अर्थव्यवस्था में पूंजीगत व्यय की उच्च आवश्यकता के चलते इस तरह की मुश्किलें हमेशा बनी रहती हैं। क्या इस स्थिति को दर्शाने के लिए अगर कोई उपयुक्त शब्द है यह स्वाभिक रूप से पूंजी घाटा रहा है।

12.5 राजकोषीय घाटा

यदि सरकार की कुल प्राप्ति (राजस्व व पूंजी प्राप्ति) तथा कुल व्यय (राजस्व व पूंजी व्यय) का संतुलन नकारात्मक हो तो यह राजकोषीय घाटे को दर्शाता है। इस अवधारणा का उपयोग भारत में वित्त वर्ष 1997-98 से किया जा रहा है।

राजकोषीय घाटे का अभिप्राय यह है कि सरकार द्वारा किया गया खर्च उनके साधनों से कहीं अधिक है यानि सरकार अपने आय से अधिक व्यय कर रही है। राजकोषीय घाटे को मात्रात्मक रूप अथवा सकल घरेलू उत्पादक के प्रतिशत के रूप में दर्शाया जा सकता है। राष्ट्रीय तथा अंतर्राष्ट्रीय अध्ययनों के लिए सामान्यतः इसे प्रतिशत में ही दर्शाया जाता है। भारत में प्रायः यह घाटा देखा गया है तथा यह घाटा बहुत अधिक होता रहा है।

वित्तीय घाटे को मात्रात्मक रूप में (यानी कि घाटे का कुल मुद्रात्मक मूल्य) या उस विशेष वर्ष की GDP के प्रतिशत के रूप मे दिखाया जा सकता है। सामान्यतः घरेलू या अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययनों (यानी कि तुलनात्मक अर्थशास्त्र) में प्रतिशत का इस्तेमाल किया जाता है।

भारत एक ऐसा देश रहा है जहां न सिर्फ नियमित बल्कि भारी वित्तीय घाटा रहा है। इसके अलावा इसके वित्तीय घाटे की संरचना आलोचना का आसान शिकार भी रही है।

12.6 प्राथमिक घाटा व मौद्रिकृत घाटा

वित्तीय घाटा, एक साल की ब्याज देनदारियां हटाकर, प्राथिमक घाटा है। इस शब्द का इस्तेमाल भारत ने 1997-98 के बजट से करना शुरू किया था। यह उस साल अर्थव्यवस्था के वित्तीय घाटे को दर्शाता है, जिसमें विभिन्न ऋणों और देनदारियों पर ब्याज का भुगतान नहीं करना है। यह मात्रात्मक और जीडीपी के प्रतिशत दोंनों रूपों में दिखाया जाता है।

इसे सरकार के व्यय के स्वरूप में ज्यादा पारिदर्शिता लाने के लिए एक बहुत कारगर उपकरण माना जाता है। इससे किन्हीं भी दो सालों की तुलना की जा सकती है और बहुत सारी चीजें स्पष्टतः जानी जा सकती हैं।

मौद्रीकृत घाटा, राजकोषीय घाटे का वह भाग जिसकी आपूर्ति सरकार को जीडीपी द्वारा की गयी (कर्ज के रूप में) उसे मौद्रीकृत घाटा कहा जाता हैं इस नयी अवधारणा को भारत द्वारा वर्ष 1997-98 से उपयोग में लाया जा रहा है। किसी वित्त वर्ष के लिए इसे मात्रात्मक तथा सकल घरेलू उत्पाद GDP के प्रतिशत के रूप में दर्शाया जाता है।

इस अवधारणा का विकास एक नयी शुरूआत है जिसके द्वारा भारत सरकार के बाजार ऋाणों पर निर्भरता तथा राजकोषीय प्रबंधन में पारदर्शिता लायी जाती है। वास्तव में अपनी व्यय की पूर्ति के लिए भारत सरकार बाजार

ऋणों (जो आंतरिक ऋण है) पर बड़े अर्थों में निर्भर रही है। इस बाजार ऋण का प्रबंध जीडीपी करती है। इसके अतिरिक्त सरकार अपनी प्रतिभूतियों, बांड़ों आदि से जो बाजार ऋण लेती रही है। उसका प्राथमिक ग्राहक भी जीडीपी ही रहा है। (वैसे 2006-7 से अब जीडीपी यह बाध्यता नहीं रही)। इन माध्यमों से सरकार भारी मात्रा में आंतरिक ऋणों की उगाही करती रही है तथा भारत की राजकोषीय नीति का यह एक चिंताजनक पहलू रहा था। वर्ष 1991-92 में शुरू किये राजकोषीय समेकन की प्रक्रिया के प्रारम्भ का यह एक प्रतिफल है कि इस अवधारणा का विकास किया गया। अब सरकार जीडीपी को दीर्घावधिक ऋणों की उगाही के लिए बाध्य नहीं करती है। वह अब इससे सिर्फ अर्थोपाय अग्रिम (ways and means advance) के माध्यम से ही ऋण लेती है जो छोटी अवधि के ऋण हैं (364 दिनों तक के)।

12.7 निवल मूल घाटा

सकल मूल घाटे से सरकार द्वारा दिये गये ऋण और अग्रिम को घटाने पर निवल मूल घाटे का अनुमान प्राप्त होता है। इसको राजकोषीय घाटे से ब्याज की अदायगियों और उधार और अग्रिम को घटा कर तथा ब्याज प्राप्तियाँ जोड़कर भी अनुमानित किया जा सकता है।

12.8 सार्वजनिक क्षेत्र की उधार आवश्यकता

यह पूरे क्षेत्र का एकीकृत घाटा है तथा इस क्षेत्र द्वारा अर्थव्यवस्था के संसाधनों के निवल उपभोग का परिमापन है। इसे बजटीय घाटे का सर्वाधिक विस्तारित परिमापन कहा जा सकता है तथा इसमें सरकार के सभी अंगों के घाटे जुड़े रहते हैं। संक्षिप्त शब्दों में इसे समस्त सरकारी इकाइयों के (कुल व्यय-कुल राजस्व प्राप्तियाँ) के बराबर, अथवा (नये उधार-ऋण भुगतान-जमा रोकड़ में कमी) के बराबर अनुमानित किया जा सकता है।

नोट करें कि यहाँ पर व्यय में सार्वजनिक क्षेत्र के कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते, वस्तुओं तथा सेवाओं पर व्यय, अचल पूँजी निर्माण, ऋण पर ब्याज, आर्थिक सहायताएँ तथा अन्य अन्तरण शामिल होते हैं। परन्तु व्यय के इस परिमापन में ऋण का भुगतान तथा वित्तीय प्रतिभूतियों के संग्रहण के तद्रूरूप अदायगियों को शामिल नहीं किया जाता। इसी प्रकार राजस्व में करों से प्राप्तियों, फीसें, जुर्माने शुल्क, उपभोक्ताओं से वसूलियाँ, सार्वजनिक परिसंपत्तियों की बिक्री से प्राप्त धन राशियों को शामिल किया जाता है। परन्तु जमा रोकड़ से निकाली गई राशियों को राजस्व का भाग नहीं माना जाता।

इस परिमापन में कुछ कठिन सैद्धांतिक तथा व्यावहारिक प्रश्न का सामना करना पड़ता है। उदाहरणार्थ, किन आर्थिक इकाइयों को सरकार का अंग माना जाए? इसके अतिरिक्त इस परिमापन से सरकारी क्षेत्र के घाटे के कारण अर्थव्यवस्था द्वारा वहन की जाने वाली वास्तविक संसाधन लागत का अनुमान नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह लागत केवल घाटे तक ही सीमित नहीं रहती; इसके प्रभाव मुद्रास्फीति तथा अन्य कई रूपों में भी प्रकट होते हैं।

12.9 संरचनात्मक घाटा व परिचालन घाटा

सरकारें बहुधा ऐसे कदम उठाती है जिससे सरकारी व्यय में कमी अथवा राजस्व में बढ़ोतरी हो सकती हैं परन्तु यदि ऐसे कदम अल्पकालीन हों तो उनके बजटीय प्रभाव भी अल्पकालीन ही होंगे। अतः वस्तुस्थिति का सही अनुमान लगाने के लिए बजटीय घटे को अनुमानित करते समय इन अल्पकालीन प्रभावों वाले घटकों को अनदेखा कर देना चाहिए। ऐसा करने पर 'सार्वननिक क्षेत्र की उधार आवश्यकता' (PSBR) के संशोधित अनुमान को संरचानात्मक घाटे की संज्ञा दी जाती है। इस प्रकार के घाटे का यह परिमापन सार्वजनिक क्षेत्र की दीर्घकालीन घाटे की स्थिति दर्शाता है।

परिचालन घाटा, 'सार्वननिक क्षेत्र की उधार आवश्यकता' के परिमापन के अनुमान पर कीमतों में परिवर्तन का प्रभाव भी पड़ता है। यदि यह अनुमान कीमतों के इस प्रभाव को दूर करने के उपरांत लगाया जाए, तो इसे परिचालन घाटे की संज्ञा दी जाती है। परन्तु व्यावहारिकता में इस अनुमान में कई कठिनाइयाँ आती है। उदाहरण के लिए सर्वप्रथम कठिनाई एक उचित कीमत सूचकांक के चुनाव की रहती है। इसी प्रकार परोक्ष करों के कारण समस्या यह उठाती है कि एक ओर तो इनसे सरकार के राजस्व में वृद्धि होती है, परन्तु दूसरी ओर कीमतें भी बढ़ जाती हैं। यही बात सरकारी उद्यमों द्वारा कीमतें बढ़ाने पर लागू होती हैं वहाँ भी राजस्व में वृद्धि के साथ ही उपभोक्ताओं (जिनमें सरकार स्वयं भी शामिल है) के लिए कीमतें बढ़ जाती हैं।

12.10 बजट घाटा तथा बजट अधिशेष

सरकार बजट की कुल आय (राजस्व खाते की आय+पूंजी खाते की आय) यदि व्यय से अधिक हो तो इस आधिक्य को बजट अधिशेष कहते हैं। इसी तरह सरकारी बजट का कुल व्यय (राजस्व खाते का आय+पूंजी खाते का व्यय) यदि कुल आय (राजस्व खाते का आय+पूंजी खाते का आय) से अधिक हो तो यह आधिक्य बजट घाटा कहलाता है।

व्यवहार मे दुनिया भर की सरकारें अधिशेष वाला बजट पेश नहीं करती, क्योंकि इसे सरकारों के विकास के प्रति उदासीनता का प्रतीक माना जाता है। लेकिन राजनीतिक हथियार के रूप में सरकार ऐसा बजट ला सकती है। उदाहरण के लिए वर्ष 2006-07 का उत्तरांचल का बजट एक अधिशेष बजट था)। कोई सरकार किसी विकासशील राज्य में अधिशेष का बजट केसे ला सकती है जबकि विकसित देशों को भी विकास की जरूरत होती है और वहां घाटे के बजट आ रहे हैं? भारत में केंद्र सरकार के बजट को कभी भी एक अधिशेष बजट के रूप में पेश नहीं किया गया। पहली बार सन् 1930 में अमेरिका में सार्वजनिक वित्त के क्षेत्र में शब्द (घाटे की वित्त व्यवस्था) का इस्तेमाल किया गया था, आज इसका इस्तेमाल कार्पोरेट सेक्टर भी कर रहा है और व्यवसायिक रणनीति के तहत किसी कंपनी का वित्तीय प्रबंधन इसका इस्तेमाल भी कर सकता है। किसी बीमार कंपनी को कई साल तक घाटे की वित्तीय व्यवस्था का रास्ता अपनाना पड़ सकता है ताकि वह खतरे के निशान से ऊपर आ सके (यानी कि नुकसान को बन्द कर सके)।

12.11 घाटे का वित्त पोषण व इसकी आवश्यकता

यह सरकार द्वारा बजट घाटे के लिए की गई वित्त प्रबंध की प्रक्रिया है। इस प्रक्रिया में सरकार को यह पूर्व से ही मालूम होता है कि उसका कुल व्यय कुल प्राप्ति से अधिक होगा तथा वह ऐसी नीतियों का निर्धारण करती है, जिससे इस घाटे को वहन किया सकें। इसका पहली बार उपयोग 1930 के दशक में संयुक्त राज्य अमेरिका में लोक वित्त के क्षेत्र में किया गया। अब इस शब्द का प्रयोग कॉर्पोरेट क्षेत्र में भी किया जाता है।

तीस के दशक की शरूआत में अमेरिका को पहले घाटे की वित्त व्यवस्था मे हाथ आजमाने पड़े और फिर पूरे यूरोप-अमेरिका की सरकारों ने यह रास्ता अपनाया। हालांकि इस रास्ते से विकसित दुनिया महामंदी (1929) के खौफ से बाहर निकल आईं। साठ के दशक तक यह विचार पूरी दुनिया में लोकप्रिय हो गयां भारत ने घाटे की वित्त व्यवस्था में अपने हाथ 1969 में आजमाए और 1970 से यह एक नियमित कार्यक्रम बन गया, तब तक जब तक कि यह निराधार और अतार्किक नही हो गया ओर तुरंत सुधार मी मांग नहीं करने लगा। भारत में वित्तीय घाटा न सिर्फ अवहनीय स्तर के शीर्ष पर पहुंच गया बल्कि इसकी संरचना ही न्यायसंगत नहीं थी और अर्थशास्त्र के आधारभूत सिद्धातों के अनुरूप नहीं थीं अंततः भारत ने वित्तीय सुधारों की धीमी लेकिन सुदृढ़ प्रक्रिया शुरू की जिसे वित्तीय मजबूती की प्रक्रिया के रूप में भी जाना जाता है।

घाटे के वित्त पोषण की आवश्यकता, इस प्रकार की नीति की आवश्यकता सन् 1920 के दशक में महसूस की गई तथा इस अवधारणा का उद्भव हुआ। इसकी आवश्यकता तब होती है जब सरकार को किसी निर्धारित अवधि में विकास हेतु उपार्जन से अधिक खर्च करने की आवश्यकता होती हैं विकास होने के बाद आय से अधिक खर्च किए गए पैसों की प्रतिपूर्ति की जाती है- यही सोच इसका आधार है।

1930 के दशक में पहली बार संयुक्त राज्य अमेरिका ने इस प्रकार की नीति को अजमाया तथा उसके तुरंत बाद सभी यूरोप-अमेरिकी सरकारों ने इस नीति का अनुसरण किया। इस नीति के द्वारा ही विश्व के विकसित देश 1929 की आर्थिक मंदी से ऊभर पाए। 1960 के दशक में यह अवधारणा विश्वभर में लोकप्रिय हो गई। भारत ने वित्तीय अभाव की नीति को 1969 में आजमाया तथा 1970 के दशक से यह एक अनिवार्य नीति बन गई। धीरे-धीरे भारत ने राजकोषीय सुधार की प्रक्रिया को अपनाया जिसे वित्तीय समेकन की प्रक्रिया कहा जाने लगा।

12.12 घाटे के वित्त पोषण के साधन

जब वित्तीय अभाव की नीति लोक वित्त के क्षेत्र में विश्वभर में एक स्थापित प्रक्रिया बन गई तब समय के साथ-साथ इसके साधन भी विकसित होने लगें ये साधन निम्नलिखित हैं-

1. **विदेशी सहायता-** यह सबसे उचित साधन है जिसके द्वारा सरकारी घाटे की आवश्यकता को पूरा किया जा सकता है यदि यह निम्न ब्याज के साथ आता हो तो भी। यदि यह सहायता बगैर ब्याज के आता हो तो इससे बेहतर और कुछ नहीं हो सकता। विदेशी अनुदान इससे भी बेहतर साधन है, क्योंकि न तो इस पर किसी किस्म का ब्याज होता है तथा न ही इसकी अदायगी जरूरी है, यह निःशुल्क होता है। इस तरह का अनुदान भारत को पोखरण परमाणु परीक्षण (1975) के बाद मिलना बंद हो गया। कई बार भारत ने इस तरह के अनुदान को नहीं स्वीकारा है, जैसे सुनामी के उपरांत भारत को दिया गया अनुदान (क्योंकि इनमें शर्तें छुपी होती है)
2. **विदेशी ऋण-** विदेशी ऋण वित्तीय घाटे को संभालने का दूसरा सबसे बेहतर तरीका है, बशर्ते कि वे तुलनात्मक रूप से सस्ते तथा लंबी अवधि के हो। यद्यपि विदेशी ऋण के देश की संप्रभु निर्णय लेने की प्रक्रिया पर हस्तक्षेप माना जाता है, लेकिन इसके अपने फायदे हैं तथा यह आंतरिक ऋण से दो कारणों से बेहतर मान जाता है-
    - विदेशी ऋण विदेशी मुद्रा के रूप में आता है, जिससे सरकारी खर्च को अतिरिक्त फायदा होता है , सरकार चाहे तो इस ऋण का उपयोग देश के अंदर अथवा आयात पर टिकी विकास की आवश्यकताओं के लिए कर सकती है।
    - यह "क्राउडिंग ऑउट" प्रभाव के कारण भी बेहतर माना जाता है, क्योंकि सरकार यदि देश के बैंकों से ऋण लेगी तो अन्य निवेश के लिए कहां से ऋण लेंगे।
3. **आंतरिक ऋण-** आंतरिक ऋण वित्तीय घाटे को कम करने का तीसरा सबसे बेहतर तरीका है। लेकिन यदि इस किस्म का ऋण अत्यधिक लिया गया तो जनता तथा निजी क्षेत्र के निवेश संभावनाओं पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है। अर्थव्यवस्था पर दोहरा नकारात्मक प्रभाव पड़ता है- निम्न निवेश (जिसके कारण निम्न उत्पादन, निम्न सकल घरेलू उत्पाद तथा निम्न प्रति व्यक्ति आय इत्यादि) व निम्न माँग (आम जनता तथा निजी क्षेत्र द्वारा)- अर्थव्यवस्था की गति धीमी पड़ जाती है, जैसा कि 1960, 1970 तथा 1980 के दशक में देखा गया।

4. **मुद्रा छापकर-** यह वित्तीय घाटे को कम करने का अंतिम हथियार है। लेकिन इस साधन की विकलांगता यह है कि सरकार इसके द्वारा वह व्यय नहीं कर सकती है जिसे विदेशी मुद्रा में किया जाना है। मुद्रा छापने के कारण अर्थव्यवस्था पर पड़ने वाले अन्य प्रतिकूल प्रभाव निम्नलिखित हैं-
    - यह अनुपातिक रूप में मुद्रास्फीति में वृद्धि करता है।
    - यह सरकारी के वेतनमान मं संशोधन करने के लिए सरकार को बाध्य करता है, जिसके कारण सरकारी खर्च का भार अधिक हो जाता है। सरकार इन सभी साधनों में से किसी भी साधन का चयन कर अपने वित्तीय घाटे को कम कर सकती हैं। सामान्यतः सरकारें वित्तीय प्रबंधन के लिए इन सभी साधनों के संयोजन का प्रयोग करती है।

12.13 राजकोषीय घाटे की बनावट व राजकोषीय नीति

वित्तीय अभाव के लिए जे0 एम0 केन्स की अवधारणा को सामान्यतः सभी तीसरे विश्व की अर्थव्यवस्थाओं ने अपनाया, लेकिन उसके पूर्ण अर्थों पर अमल नहीं किया गया। यह अवधारणा इस बात पर आधारित थी कि क्यों कोई अर्थव्यवस्था, राजकोषीय घाटे से निपटने के लिए कदम उठाना चाहती है। इस प्रश्न को समझने के लिए राजकोषीय घाटे की बनावट/संघटन का आकलन आवश्यक है।

सरकार के दो विस्तृत खर्च के भार में, राजस्व व्यय तथा पूंजी व्यय की बनावट का सुझाव दिया गया है-

1. अधिशेष राजस्व बजट अथवा शून्य राजस्व व्यय के साथ राजकोषीय घाटा सबसे बेहतर संयोजन है तथा वित्तीय अभाव की नीति के लिए सबसे उपयुक्त है।
2. निम्न राजस्व व्यय तथा अधिक पूंजी व्यय के लिए घाटे की आवश्यकता इसके लिए दूसरा बेहतर विकल्प है बशर्ते राजस्व घाटे को शीघ्र ही मिटा दिया जाए।
3. एक अंतिम स्थिति ऐसी हो सकती है, जब वित्तीय अभाव को कम करने की नीति का मुख्य भाग राजस्व व्यय की पूर्ति करता है तथा एक लघु भाग पूंजी व्यय के लिए होता है। घाटे का पूरा पैसा राजस्व व्यय में जा सकता है जो इसका सबसे बदतर रूप हो सकता है।

भारत में घाटे की वित्त व्यवस्था के पीछे बेहतर कारण कम गैर-योजनागत खर्च या उच्च योजनागत खर्च थे (हालांकि भारत में पूंजीगत व्यय का विशिष्ट लक्षण रहा है जो इस गठजोड़ को घाटे की वित्तीय व्यवस्था का ऐसा प्रकार बना देता है जिसकी सलाह नहीं दी जाती)।

हालांकि विकासशील देशों की अर्थव्यवस्थाएं (भारत समेत) भारी से भारी राजकोषीय घाटे और घाटे की वित्तीय व्यवस्था का इस्तेमाल कर रही थीं। लेकिन या तो वह पूंजी और गैर आय खर्चों के लिए माकूल घाटे को साध नहीं पाई या साधना नहीं चाहा।

राजकोषीय नीति, वित्तीय नीति का वास्तविक अर्थ महत्व तथा प्रभाव महामन्दी तथा द्वितीय विश्व युद्ध के दौरान सामने आया। वित्तीय नीति सरकार की वह नीति है; जिसका संबंध सरकारी क्रय के स्तर, स्थानान्तरण के स्तर तथा कर संरचना से है। यह संभवतः वित्तीय नीति की सबसे बेहतर परिभाषा है जिसे विशेषज्ञों ने भी माना है। इसके उपरांत समष्टि अर्थव्यवस्था पर राजकोषीय नीति के प्रभाव का बेहतर तरीके से विश्लेषण किया गया। चूंकि इस नीति का अर्थव्यवस्था पर गहरा प्रभाव होता है, इसलिए इस नीति की परिभाषा उस नीति के रूप में दी जाती है जो सरकारी खर्च तथा कर को संचालित करता है तथा आर्थिक गतिविधियों (जिसे संख्यात्मक रूप में सकल घरेलू उत्पाद से दर्शाया जाता है) को उत्प्रेरित करता है। जे0 एम0 केन्स पहले अर्थशास्त्री थे, जिन्होंने राजकोषीय नीति तथा आर्थिक निष्पादन को जोड़ने वाले सिद्धांत का विकास किया।

राजकोषीय नीति को एक अन्य तरीके से भी परिभाषित किया जा सकता है। यह सरकारी व्यय तथा करों में किया जाने वाला बदलाव है जिसका लक्ष्य समष्टि अर्थिक उद्देश्यों को प्राप्त करना है (जैसे- विकास, रोजगार, निवेश इत्यादि) इसलिए हम यह कह सकते हैं कि राजकोषीय नीति कर तथा सरकारी व्यय के उपयोग को दर्शाता है
कर तथा सरकारी व्यय संपूर्ण अर्थव्यवस्था को किस तरह प्रभावित करती है। इसकी चर्चा नीचे की गई है। पहले हम कर तथा अर्थव्यवस्था पर उसके प्रभाव की चर्चा करेंगें-

1. कर का लोगों की आय, उनकी क्रय शक्ति, उपभोग तथा परिणामस्वरूप उनके जीवन स्तर पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है।
2. कर का व्यक्तियों, परिवारों तथा कंपनियों की बचत पर प्रत्यक्ष प्रभाव पड़ता है, जिससे अर्थव्यवस्था में निवेश प्रभावित होता है। निवेश से सकल घरेलू उत्पाद प्रभावित होता है, जिसका असर प्रति व्यक्ति आय पर पड़ता है।
3. कर का वस्तुओं एवं सेवाओं के मूल्य पर भी प्रभाव पड़ता है, क्योंकि उनका उत्पादन मूल्य प्रभावित होता है।

सरकारी व्यय का अर्थव्यवस्था पर प्रभाव निम्नलिखित दो रूपों में पड़ता है-

- वस्तुओं एवं सेवाओं को यदि सरकार द्वारा खरीदा जाए तो उन पर भी कुछ व्यय होता है जैसे सड़कों, रेलवे तथा बन्दरगाह का निर्माण, खाद्यान्न की खरीद (वस्तुओं के वर्ग में)तथा सरकारी कर्मचारियों को वेतन का भुगतान (सेवाओं के वर्ग में)।
- सरकार द्वारा गरीबों, बेरोजगारों व वृद्ध व्यक्तियों को सहायता प्रदान करने में भी कुछ व्यय खर्च होता है, जिसे सरकारी अंतरण भुगतान कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न-

1. निश्चित सीमा के अन्दर अपनाया गया हीनार्थ- प्रबन्धन देश के .....के लिए सहायक है।
2. हीनार्थ प्रबन्धन का अभिप्राय किससे से है?
3. घाटे के वित्त से मुद्रा आपूर्ति में क्या असर पड़ता है?
4. घाटे का वित्त क्या उत्पन्न करता है?
5. घाटे के वित्त से भुगतान सन्तुलन कैसा होता है?
6. घाटे के वित्त का सम्बन्ध किस घाटे से है?
7. केन्द्रीय सरकार के बजट में किस वर्ष से बजटरी घाटे की धारणा की प्रासंगिकता समाप्त हो गई है?
8. प्राथमिक घाटे की गणना के लिए राजकोषीय घाटे में क्या समायोजन होता है?
9. राजस्व आगम एवं राजस्व व्यय का अन्तर क्या प्रदर्शित करता है?
10. सरकार की कुल प्राप्ति पर कुल व्यय का आधिक्य क्या स्पष्ट करता है?
11. केन्द्र सरकार के लिए भारतीय रिजर्व बैंक की शुद्ध साख में होने वाली वृद्धि को क्या कहा जाता है?

12.14 सारांश

वर्तमान समय में हीनार्थ-प्रबन्धन को वित्तीय संसाधनों के महत्वपूर्ण अंग के रूप में माना जाता है। 20 वीं शताब्दी के शुरू में हीनार्थ-प्रबन्धन को अच्दा नहीं माना जाता था, क्योंकि राष्ट्रों द्वारा सन्तुलित या बचत का बजट बनाया जाता था, परन्तु सन् 1930 की विश्वव्यापी मन्दी में प्रो0 कीन्स ने हीनार्थ प्रबन्धन को एक महत्वपूर्ण राजकोषीय उपाय के रूप में अपनाने पर जोर दियां वर्तमान समय में विकास और युद्ध दोनों की परिस्थितियों में वित्त व्यवस्था की दृष्टि से हीनार्थ-प्रबन्धन एक उपयोगी और महत्वपूर्ण उपकरण बन गया है।

इस इकाई में हमने हीनार्थ- प्रबन्धन, राजस्व घाटा, पूँजी घाटा, राजकोषीय घाटा, प्राथमिक घाटा, मौद्रिक घाटा, घाटे का वित्त पोषण के साधनों व राजकोषीय नीति का वर्णन किया गया है।

12.15 शब्दावली

राजस्व घाटा-सरकारी बजट के राजस्व खाते की कुल व्यय की कुल आय पर आधिक्य। (RD)
पूँजी घाटा- पूँजी की कमी अथवा विरलता। (CD)
राजकोषीय घाटा- सरकारी कुल प्राप्ति तथा कुल ब्याज का नकारात्मक सन्तुलन।(FD)
प्राथमिक घाटा- वित्तीय घाटे में से एक वर्ष की ब्याज देनदारियां घटाकर बचा अवशेष। (PD)
मौद्रिक घाटा- राजकोषीय घाटे का वह भाग जिसकी आपूर्ति सरकार को त्ठप् द्वारा की जाती है।(MD)
महामंदी- विश्वव्याप्त महामन्दी सन् 1929 से 1935 तक।
लोक नीति- जिसमें कुछ सार्वजनिक उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कराधान, सार्वजनिक व्यय ओर सार्वजनिक ऋण का आरोपण किया जाता है।
RBI- रिजर्व बैंक ऑफ इन्डिया।
GDP- सकल घरेलू उत्पाद।

12.16 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. ओर्थिक विकास, **2.** मुद्रा स्रजन, **3.** बढ़ती है, **4.** मुद्रा स्फीति, **5.** प्रतिकुल होता है, **6.** राजस्व घाटे से और पूंजी घाटे से, **7.** 1997-98, **8.** ब्याज भुगतान घटाना, **9.** राजस्व घाटा, **10.** बजटरी घाटा, **11.** मौद्रिकृत घाटा

12.17 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भाटिया, एच0 एल0, लोक वित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस लि0, नोएडा।
2. थावराज, एम0जे0के0, फायनेन्सियल एडमिनिस्ट्रेशन आफ इन्डिया, सुल्तान चंद एवं संस, नई दिल्ली।
3. बर्मन, किरण, 1978 इंडियोज पब्लिक डेट् एंड पालिसी सिंस इंडिपेंडेंस, मित्तल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. त्रिपाठी, आर0 एन0 व राम त्रिपाठी; पब्लिक फाइनेन्स एण्ड इकोनॉमिक डेवलपमेंट इन इण्डिया, मिततल पबिलकेशन्स, दिल्ली।

12.18 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भाटिया, एच0 एल0, लोक वित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस लि0, नोएडा।
2. त्रिपाठी, आर0 एन0 व राम त्रिपाठी; पब्लिक फाइनेन्स एण्ड इकोनॉमिक डेवलपमेंट इन इण्डिया, मिततल पबिलकेशन्स, दिल्ली।

12.19 निबन्धात्मक प्रश्न

1. हिनार्थ प्रबन्धन की धारणाएं और उद्देश्यों को स्पष्ट कीजिए।
2. राजकोषीय घाटे पर टिप्पणी करें।
3. घाटे के वित्त पोषण की आवश्यकता और इसकी विशेषताओं पर प्रकाश डालिए।

इकाई- 13 सार्वजनिक ऋण प्रबंधन एवं भारतीय रिजर्व बैंक की भूमिका

इकाई की संरचना

13.0 प्रस्तावना
13.1 उद्देश्य
13.2 भारतीय रिजर्व बैंक: परिचय
13.3 भारतीय रिजर्व बैंकः उद्देश्य
13.4 रिर्जव बैंक का प्रबन्ध व कार्य
    13.4.1 केन्द्रीय बैंकिंग कार्य
    13.4.2 सामान्य बैंकिंग कार्य
    13.4.3 उपभोक्ता केन्द्रित कार्य
13.5 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण
13.6 सार्वजनिक ऋण के सिद्धांत
13.7 सार्वजनिक ऋण के स्रोत
13.8 सार्वजनिक ऋण के आर्थिक प्रभाव
13.9 सार्वजनिक ऋणों का भार
13.10 सार्वजनिक ऋणों के शोधन के ढंग
13.11 सारांश
13.12 शब्दावली
13.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
13.14 सन्दर्भ ग्रंथ सूची
13.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
13.16 निबन्धात्मक प्रश्न

13.0 प्रस्तावना

प्रायः राज्य अपने सामान्य व्यय को अपनी सामान्य आय से पूरा कर देता है परन्तु कभी-कभी ऐसे अवसर भी आते हैं, जब सामान्य आय-व्यय के बढ़ते हुए आकार को पूरा करने में समर्थ नहीं होती। एक आधुनिक सरकार को बहुत से सामान्य कार्य करने पड़ते हैं और इनको करने के लिए बढी मात्रा में साधनों की आवश्यकता होती है। कुछ असामान्य परिस्थितियां, जैसे युद्ध, आकाल, विकास योजनाएं इत्यादि ऐसे असामान्य व्यय को जन्म देते हैं जिनके लिए सरकार को ऋण लेकर ही काम चलाना पड़ता है। राज्य द्वारा लिए गये ऋण को सार्वजनिक ऋण का नाम दिया जाता है। राज्य के अन्तर्गत केन्द्रीय शासन, राज्य शासन तथा स्थानीय शासन सब सम्मलित होते हैं। सार्वजनिक ऋण राज्य की आय का एक साधन है तथा गत वर्षों में यह सार्वजनिक वित्त व्यवस्था का महत्वपूर्ण अंग बन गया है, परन्तु ऋण का भुगतान करना पड़ता है, अतः आय का यह साधन अन्य साधनों से भिन्न है। अल्पकालीन दृष्टि से हम इसे सरकार की आय कह सकते हैं, दीर्घकालीन दृष्टि से नहीं। कुछ ऐसे ऋण भी हो सकते हैं, निरन्तर चलते हैं जिन्हें लौटाना नहीं पड़ता; केवल व्याज ही देना पड़ता है। परन्तु व्याज तो देना ही पड़ेगा। ब्रैस्टेबिल ने लिखा है, "जिस प्रकार एक व्यक्ति निरन्तर ऋण लेकर अपना काम नहीं चला सकता है, इसी प्रकार सरकार निरन्तर ऋण लेकर अपना काम नही चला सकती है।"

सरकार द्वारा ऋण लेना पर्याप्त पुरानी प्रथा है, परन्तु प्राचीन काल में ऋण प्रायः शासक को दिया जाता था। जब एकतन्त्र का युग था तो राजा साधारण जनता से ऋण न लेकर केवल कुछ धनी व्यक्तियों से ऋण लेता था तथा इस ऋण की वापसी भी राजा की इच्छा पर निर्भर करती थी। इसके अतिरक्त यह आवश्यक नहीं था कि इस ऋण का उद्देश्य जनता की भलाई के कार्यों पर व्यय करना हो। राजा प्रायः उसे अपने व्यक्तिगत हितों पर व्यय करता था। अतः सही रूप में हम इसे सार्वजनिक ऋण नहीं कह सकते। राजतन्त्र का युग समाप्त हो गया है तथा उनका स्थान लोकतान्त्रिक शासन ने ले लिया। इस नवीन शासन-प्रणाली के साथ ही सार्वजनिक ऋण का उदय हुआ। सार्वजनिक ऋण वर्तमान युग का शिशु है। प्रोफेसर जे0 के0 मेहता का यह कथन सत्य है कि "सार्वजनिक ऋण अपेक्षाकृत आधुनिक घटना है तथा विश्व में सरकारों के लोकतान्त्रिक स्वरूप के साथ इसका जन्म हुआ है।" सार्वजनिक ऋण तो आर्थिक विकास तथा मौद्रिक प्रणाली का परिणाम है। केन्द्रीय सरकार, राज्य सरकारें तथा स्थानीय सरकारें सभी ऋण ले रही हैं। लोकतान्त्रिक सरकार जनता से ऋण लेती है, किसी एक व्यक्ति से नहीं तथा इसका व्यय किसी एक व्यक्ति की भलाई के लिए न होकर सम्पूर्ण समाज की भलाई के लिए किया जाता है। इस ऋण को लौटाने के लिए सरकार बाध्य होती है।

इस इकाई में वित्तीय प्रशासन के एक महत्वपूर्ण अंग अर्थात सार्वजनिक ऋण पर प्रकाश डाला गया है। इस इकाई में हम सरकारी ऋण के विभिन्न वर्गीकरणों तथा व्यक्तिगत व सार्वजनिक ऋण में भेद व सार्वजनिक के सिद्धातों, स्रोतों व आर्थिक प्रभावों व विधियों पर चर्चा करेंगें। साथ ही आप रिजर्व बैंक के स्थापना, इसके उद्देश्यों व भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यों के बारे में भी जानेंगे।

13.1 उद्देश्य

इस इकाई का अध्ययन करने के उपरान्त आप-

- रिजर्व बैंक के स्थापना तथा इसके उद्देश्यों को विस्तार पूर्वक समझ सकेंगे।
- भारतीय रिजर्व बैंक के कार्यों की विस्तार से चर्चा कर सकेंगे।
- साख नियंत्रण के उद्देश्यों तथा साख नियंत्रण रीतियों का वर्णन कर सकेंगे।
- सार्वजनिक ऋण के विभिन्न वर्गीकरण की व्याख्या कर सकेंगे।
- व्यक्तिगत एवं सार्वजनिक के मध्य भेद कर पायेंगे।
- सार्वजनिक ऋण के सिद्धांतों व स्रोतों का वर्णन कर पायेंगे।

13.2 भारतीय रिजर्व बैंक: परिचय

भारत में केन्द्रीय बैंकिग की आवश्यकता 18वीं शताब्दी में महसूस की गई जब बंगाल के गर्वनर ने बंगा तथा बिहार में केन्द्रीय बैंकिग व्यवस्था के तहत भी प्रारम्भ केन्द्रीय बैंक स्थापित करने का सुझाव दिय। इस क्रम में सन् 1773 ई0 में बैंक स्थापित किया गया। लेकिन कुछ ही समय बाद यह बन्द कर दिया गया। 20वीं शताब्दी के प्रारम्भ में सन् 1913 ई0 में चैम्बरलेन आयोग ने भारत के लिए एक केन्द्रीय बैंक की स्थापना का सुझाव दिया परन्तु प्रथम महायुद्ध प्रारम्भ हो जाने से इस सुझाव पर कोई विचार नहीं किया गया। चैम्बरलेन आयोग के सुझाव से तीन प्रेसीडेन्सी बैकों का एकीकरण कर सन् 1921 ई0 में 'इम्पीरियल बैंक ऑफ इण्डिया' की स्थापना की गई। इस बैंक को बाणिज्यक बैकों के कार्यो के साथ-साथ केन्द्रीय बैंक के कार्य करने की अनुमति प्रदान की गई, क्योंकि इम्पीरियल बैंक मूल रूप से एक वाणिज्यक बैंक था। अतः उसे नोट छापने के अधिकार से वंचित रखा गया। इम्पीरियल बैंक केन्द्रीय बैंक के कुछ कायों को करने के बाबजूद भी भारत में केन्द्रीय बैंक की कमी को पूरा नहीं

कर पाया। सन् 1926 ई0 में हिल्टन यंग कमीशन ने भारत के एक स्वतंत्र केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की सिफारिश की जो भारतीय रिर्जव बैंक के रूप में भारत में बैंकिग सुविधाओं का विस्तार कर सके। जिसके आधार पर जनवरी 1927 ई0 में सरबेसिल ब्लैकट ने केन्द्रीय असेम्बली में एक बिल रखा, परन्तु बिल की मूल अनुच्छेद- ओं पर बहुत विरोध प्रकट किया गया और सरकार ने बिल को वापस ले लिया। सन् 1930 ई0 में केन्द्रीय बैंक जॉच समिति ने तथा 1933 में गोल मेज सम्मेलन केन्द्रीय बैंक स्थापित करने की जोरदार शब्दों में सिफारिश की गई। तत्पश्चात 1934 में विधानसभा में भारतीय रिर्जव बैंक बिल प्रस्तुत किया गया। जो सन् 1934 में एक एक्ट के रूप में पारित हुआ। इसी एक्ट के अनुसार भारतीय रिर्जव बैंक की स्थापना हुई और इसने 1 अप्रैल 1935 से अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया।

रिर्जव बैंक ऑफ इण्डिया भारत का केन्द्रीय बैंक है। केन्द्रीय बैंक किसी देश की मौद्रिक प्रणाली की सर्वोच्च (apex institution) संस्था होती है। जिसका प्रत्यक्ष तथा प्ररोक्ष नियंत्रण देय की मौद्रिक नीति तथा वित्तीय प्रणाली पर रहता है। मौद्रिक प्रणाली की सर्वोच्च संस्था होने के कारण देश में मौद्रिक एवं वित्तीय प्रणाली का संचालन, पथ प्रदर्शन और नियंत्रण करने में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है।

13.3 भारतीय रिजर्व बैंक के उद्देश्य

सन् 1934 ई0 में एक्ट के रूप में पारित हुए बिल के अनुसार 1 अप्रैल 1935 से भारत का रिर्जव बैंक निरंतर निम्नॉकित उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए कार्य कर रहा है।

1. सरकार के बैंकर के रूप में कार्य करना (सरकार की ओर से भुगतान करना,लेना तथा विदेशी विनिमय का लेने देन के साथ-साथ उक्त विषयों पर सरकार को सलाह देना)।
2. भारतीय रूपये के आन्तरिक व बाह्य मूल्य में स्थिरता लाना।
3. देश में मुद्रा तथा साख को मांग के अनुरूप बनाये रखने के साथ-साथ नियंत्रित करना।
4. देश की मुद्रा, तथा बैंकिग व्यवसाय से संबंधित विविध विषयों पर आकड़े इक्ट्ठा कर इन्हें प्रकाशित करना।
5. बैकों से नकद कोष प्राप्त कर दृढ केन्द्रीय कोष का निर्माण करना, जिससे मुद्रा बाजार में लोच पैदा हो, बैकिंग संकट रोका जा सके तथा बैंकिग व्यवसाय पर नियंत्रण रहे ।
6. बैकिंग व्यवसाय के उपभोक्ताओं के हितों का ध्यान रखना तथा उपभोक्ताओं के शिकायतों एवं विवादों को निपटाना।
7. कृषि के विस्तार व विकास के लिए कृषि साख संबंधी विभिन्न विषयों का अध्ययन करना, प्रत्यक्ष सहायता की व्यवस्था करना तथा आवश्यक हो तो सरकार को सलाह देना।
8. विदशों में मौद्रिक संबंध स्थापित करना।

13.4 रिर्जव बैंक का प्रबन्ध व कार्य

रिर्जव बैंक आफ इण्डिया की स्थापना सन् 1934 में पारित एक एक्ट के द्वारा 1 अप्रैल 1935 को हुई। प्रारम्भ में रिर्जव बैंक आफ इण्डिया का स्थामित्व अंशधारियों के हाथों में था, जिसकी अधिकृत पूजी 5 करोड़ रूपये थी जो 100 रूपये वाले 5 लाख अशों में विभाजित थी। लगभग सभी शेयर निजी लोगों के पास थे। रिर्जब बैंक ऑफ इण्डिया का केन्द्रीय बैंक के रूप में महत्वपूर्ण कार्यों के निर्वहन को देखते हुए भारत ने स्वत्रंत होने के बाद 1 जनवरी 1949 को इसका राष्ट्रीयकरण कर दिया।

रिर्जव बैंक के कार्यों का संचालन केन्द्रीय संचालक मण्डल द्वारा किया जाता है। कुशल प्रशासन तथा विकेन्द्रीकरण की दृष्टि से सम्पूर्ण भारत को चार भागों में बांटा गया है। उत्तरी क्षेत्र, पूर्वी क्षेत्र एवं पश्चिमी क्षेत्र, इनमें से प्रत्येक क्षेत्र के लिए पांच सदस्यों का स्थानीय बोर्ड होता है।

केन्द्रीय बोर्ड में कुल बीस सदस्य होते हैं। इनमें से एक गवर्नर तथा चार उपगवर्नर होते हैं। गवर्नर बैंक का सर्वोच्च प्रशसनिक अधिकारी होता है।

गवर्नर तथा उपगवर्नरों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा पांच वर्षों के लिए की जाती है। रिर्जव बैंक के चार स्थानीय बोर्ड दिल्ली, कोलकता, मुम्बई तथा चेन्नई में स्थित हैं तथा चार संचालक (प्रत्येक के लिए एक) चारों स्थानीय बोर्डों से केन्द्रीय सरकार द्वारा मनोनित किये जाते हैं। इनका कार्यकाल भी पांच वर्षों का होता है। केन्द्रीय संचालक मण्डल में दस अन्य संचालक जिनका चुनाव केन्द्र सरकार द्वारा चार वर्षों के लिए किया जाता होते है। चार वर्षों के कार्यकाल के लिए नियुक्त किये गये संचालक उद्योग व्यापार, आर्थिकी तथा सहकारिता आदि विभिन्न क्षेत्रों के विषेषज्ञ होते हैं। इन उन्नीस सदस्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय संचालक मण्डल में एक सरकारी अधिकारी प्रायः भारत सरकार का वित्त सचिव होता है जो केन्द्र सरकार की इच्छानुसार कितने भी समय तक बोर्ड में बना रह सकता है। स्थानीय बोर्ड केन्द्रीय बोर्ड के आदेशानुसार कार्य करते है तथा उनको आवंटित की गई जिम्मेदारियों एवं कार्यों पर केन्द्रीय बोर्ड को सलाह देते हैं। भारत सरकार द्वारा मनोनीत स्थानीय बोडों के सदस्य विभिन्न क्षेत्रों का प्रतिनिधित्व करते हैं। जिनका कार्यकाल चार वर्ष का होता है।

रिर्जव बैंक का प्रधान कार्यालय मुम्बई में स्थित है। मुम्बई के अतिरिक्त दिल्ली, चेन्नई एवं कोलकता में स्थानीय प्रधान कार्यालय हैं। बैंक ने अपने कार्यालय देश में विभिन्न जगहों पर स्थापित किये हैं, जहां रिर्जव बैंक के कार्यालय नहीं है तथा जहां रिर्जव बैंक ने प्रभारी अधिकारी नियुक्त नहीं किये हैं, ऐसे स्थानों पर स्टेट बैंक रिर्जव बैंक के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है। रिर्जव बैंक का केन्द्रीय प्रधान कार्यालय 10 (दस) भागों में विभक्त हैं, सेक्रेटरी का कार्यालय, चीफ एकाउन्टेण्ट का कार्यालय, निरीक्षण विभाग, कानूनी विभाग, बैंकिग विकास विभाग, कृषि साख विभाग, औद्योगिक वित्त विभाग, विनिमय नियत्रंण विभाग, अनुसंधान एवं सांखिकी विभाग।

केन्द्रीय/प्रधान कार्यालय के अतिरिक्त अन्य कार्यालयों को संगठन के तौर पर दो भागों में बांटा जाता है। (अ) नोट निर्गमन विभाग (ब) बैंकिग विभाग/निगमन विभाग पुनः दो भागों में विभाजित होता है। (अ) सामान्य विभाग (ब) नकदी विभाग। बैंकिग विभाग सरकार की तरफ से बैंकिग के सभी कार्य करता है। यह चार उप विभागों में विभाजित होता है। (अ) जमा खाता विभाग, (ब) प्रतिभूति विभाग, (स) सरकारी खाता विभाग और (द) सरकारी ऋण विभाग।

रिर्जव बैंक वित्तीय निरीक्षण के कार्य को वित्तीय निरीक्षण बोर्ड के मार्गदर्शन में पूरा करता है। इस बोर्ड का गठन नवम्बर 1994 ई में रिर्जव बैंक के केन्द्रीय बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स की समिति के रूप में किया गया। इस बोर्ड का मुखिया गवर्नर होता है तथा केन्द्रीय बोर्ड से चार संचालकों को 2 साल के लिए नियुक्त किया जाता है। एक उप गवर्नर को (मुख्यतः गवर्नर इनचार्ज बैंकिग रेगुलेशन एण्ड सुपरविजन) को बोर्ड ऑफ फाइनेशियल सुपरविजन उप चेयरमैन नामित किया जाता है। इस बोर्ड के सदस्यों को महीने में एक बार मिलकर अपने कार्यों का अन्जाम देना पड़ता है।

सन् 1934 ई0 में पारित रिर्जव बैंक आफ इण्डिया एक्ट की प्रस्तावना के अनुसार रिर्जव बैंक प्रमुख रूप से भारत में मौद्रिक स्थिरता स्थापित करने तथा देश हित में मुद्रा तथा साख प्रणाली का संचालन करने के उद्देश्य से नोटों के निर्गमन का नियमन करना तथा रक्षित कोषों को रखने का कार्य करता है। इसके अतिरिक्त देश में वर्तमान परिस्थितियों के अनुरूप रिजर्व बैंक को समय-समय पर अनेक प्रकार के कार्य करने पड़ते हैं। रिजर्व बैंक के कार्यों को मुख्यतः निम्न भागों में बांटा जा सकता है-

13.4.1 केन्द्रीय बैकिंग कार्य

1. **रिजर्व बैंक करेन्सी अधिकारी के रूप में-** भारत में एक रूपये का नोट, सिक्के और छोटे सिक्कों को नोट, सिक्के तथा छोटे सिक्कों को छोड़कर सभी करेन्सी नोटों के निर्गमन का एकाधिकार रिर्जव बैंक को प्राप्त है। एक रूपये के नोट, सिक्के तथा छोटे सिक्कों को भारत सरकार द्वारा जारी किया जाता है। वर्तमान में रिर्जव बैंक भारतीय करेन्सी का बड़ा भाग 2, 5, 10, 20, 50, 100, 500, 1000 तथा 2000 रूपये के नोटों के रूप में निर्गमन करता है। पूर्व में यह 5000 एवं 10,000 रूपये के नोटों का भी निर्गमन करता था, लेकिन बाद में अर्थव्यवस्था में काले धन को चलन से बाहर से बाहर करेन तथा कोलधन की रोकथाम करने के लिए उन्हें विमुद्रीकृत कर दिया गया। वर्ष 2016 में तत्कालीन प्रधानमंत्री श्री नरेन्द्र दामोदर दास मोदी ने 8 नवम्बर की आधी रात से 500 तथा 1000 रूपये के नोटों को विमुद्रीकृत किया तथा रिर्जव बैंक आफ इण्डिया कालेधन की रोकथाम के लिए 500 का नया नोट तथा 2000 रूपये का नोट लेकर आया। रिर्जव बैंक द्वारा जारी सभी नोट असीमित विधिग्राहा होते हैं और केन्द्र सरकार की उन पर गारंटी होती है। बैंक द्वारा नोट निर्गमन का कार्य अन्य बैंकि कार्य से अलग होता है। इसलिए रिर्जव बैंक ने दो अलग-अलग विभाग होते है। पहला- नोट निर्गमन विभाग और दूसरा बैंकिग विभाग।

   नोट निर्गमन विभाग का स्थिति विवरण बैंकिग विभाग से अलग रखा जाता है। निर्गमन विभाग की परिसम्पत्तियां तथा देनदारियां बैकिंग विभाग की परिसम्पत्तियों तथा देनदारियों से अलग रखी जाती है। देश की करेन्सी पर जनता का विश्वास कायम रहे, इसके लिए रिर्जव बैंक का नोट निर्गमन विभाग करेन्सी मूल्य के नोटों के बराबर सुरक्षित कोष में स्वर्ण के सिक्के, बहुमूल्य धातुऐं (सोना, चॉदी) विदेशी प्रतिभूतियां भारत सरकार की प्रतिभूतियां रूपये के सिक्के तथा ऐसे विनिमय विल व प्रतिज्ञा पत्र रखता है। जिनका भुगतान भारत में होना है। बैंकिग विभाग की मांग तथा इसके द्वारा हस्तान्तरित विनिमय विलों अथवा सरकारी प्रतिभूतियों आदि के आधार पर निर्गमन विभाग नोट जारी अथवा रद्द करता है। चलन में मुद्रा को लाने तथा हटाने का कार्य बैंकिग विभाग द्वारा किया जाता है।

   सन् 1935 ई0 से 1956 ई0 तक रिर्जव बैंक ने अनुपातिक कोष प्रणाली के आधार पर नोटों का निर्गमन किया। इस प्रणाली के अनुसार जारी निर्गमन नोटों के मूल्य के 40 प्रतिशत सोने के सिक्कों तथा विदेशी प्रतिभूतियों के रुप में आवश्यक रुप से रखना होता था तथा शेष राशि को रुपये में रखी जा सकती थी इसके साथ ही यह व्यवस्था भी थी कि किसी भी समय सोने के सिक्कों व स्वर्ण धातुओं के कोषों की न्यूनतम सीमा 40.02 करोड़ रुपये से कम न हो। अक्टूबर 1956 को इस पद्धति के स्थान पर 'न्यूनतम विदेशी कोष पद्धति' को अपना लिया गया। इस प्रणाली के अनुसार रिर्जव बैंक न्यनतम 515 करोड़ रुपये की परिसम्पत्तियां (इससे 115 करोड़ रुपये का न्यूनतम स्वर्ण कोष और 400 करोड़ रुपये की विदेशी प्रतिभूतियां और शेष राशि को बैंक में रखकर किसी भी सीमा तक नोटों का निर्गमन कर सकता है। सन् 1957 में इस प्रणाली को आसान बनाते हुए स्वर्ण तथा विदेशी प्रतिभूतियों के कोष की न्यूनतम सीमा 200 करोड़ रुपये कर दिया। जिसमें 115 करोड़ का स्वर्ण होना आवश्यक तथा शेष राशि के रुप में रखी जा सकती थी।

2. **साख नियंत्रण एवं मुद्रा पूर्ति-** भारत के केन्द्रीय बैंक के रुप में रिर्जव बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है- मुद्रा पूर्ति तथा बैकों की साख की मात्रा को राष्ट्रीय हित में उच्चतम स्तर पर नियंत्रण करना। साख नियंत्रण से अभिप्राय बैकों को ऋण देने की नीति को नियंत्रित करने से है। इन्हें प्राप्त करने हेतु साख नियंत्रण भी अति आवश्यक है। रिर्जव बैंक को साख नियंत्रण के विविध अधिकार प्राप्त हैं जिन्हें आवश्यक तानुसार प्रयोग में लाया जा सकता है। रिर्जव बैंक आफ इण्डिया एक्ट के अनुसार बैक के पास

साख नियंत्रण के विभिन्न अधिकार उपाय है। जिनमें से मुख्य रुप से बैंक दर ने परिवर्तन खुले बाजार की क्रियायें करने, बैकों के नकद कोषों की मात्रा में परिर्वतन करने जैसे अधिकार हैं। आवश्यकता पड़ने पर रिर्जव बैंक वाणिज्यक बैकों की ऋण नीति, निवेश नीति तथा व्याज नीति को पूर्णतया नियंत्रित कर सकता है।

3. **बैंकिग तथा वित्तीय व्यवसाय का नियमन-** बैंकिग तथा वित्तीय व्यवस्था के नियमन/नियंत्रण हेतु भारतीय बैंकिग अधिनियम-1949 के अन्तर्गत देश के वाणिज्यक बैकों पर नियंत्रण रखने के उद्देश्य से रिर्जव बैंक को कुछ निम्नांकित विशेषाधिकार दिये गये हैं-
    - भारत में बैंकिग व्यवसाय करने वाले बैंक को रिर्जव बैंक से इस संबंधित लाइसेन्स प्राप्त करना अनिवार्य है। बैंक की नीति एवं स्थिति व कार्य प्रणाली संतोषजनक न होने पर यह लाइसेन्स रद्द भी किया जा सकता है।
    - वर्णातमक साख नियंत्रण के अधीन रिजर्व बैंक किसी भी बैंकिग कंपनी अथवा सभी बैंकिग कंपनियों को विशेष प्रकार के लेन-देन से रोक सकता है।
    - किसी भी बैंकिग कंपनी का दूसरी बैंकिग कंपनी के साथ एकीकरण करने से पूर्व रिजर्व बैंक की अनुमति प्राप्त करना आवश्यक है। अदालत को भी यह अधिकार नहीं कि वह रिजर्व बैंक रिजर्व बैंक की पूर्वानुमति के बिना किसी एकीकरण को स्वीकृति दे दें।
    - रिजर्व बैंक अपनी इच्छा से या केन्द्र सरकार के निर्देश पर किसी भी बैंक का निरीक्षण कर सकता है। असंतोषजनक स्थिति होने पर वह निरीक्षण रिपोर्ट पर विचार करने हेतु अपने सचालकों की बैठक बुला सकता है तथा रिपोर्ट पर दिये गये सुझावों का पालन करने के लिए बैंक को आदेश दे सकता है। यह असंतोषजनक स्थिति वाले बैंक को प्रबंधक बदलने तथा कारोबार बन्द करने के आदेश भी दे सकता है।
    - बैंकों के वरिष्ठ अधिकारी की नियुक्ति उनके वेतन, प्रशिक्षण आदि से संबंधित नियम बनाने तथा उन्हें स्वीकृति प्रदान करने संबंधी अधिकार भी रिजर्व बैंक को प्राप्त है। रिजर्व बैंक तथ्यात्मक रुप से किसी भी बैंक के प्रबंधक प्रशासनिक अधिकारी तथा अध्यक्ष को उनके पद से हटा सकता है।
    - रिजर्व बैंक वाणित्यक बैंकों का वैधानिक नकद कोषानुपात तथा वैधानिक तरलता अपुपात का निर्धारण करता है।
    - प्रत्येक बैंक को नई शाखाओं के खोलने तथा पुरानी शाखाओं के स्थान परिवर्तन के लिए रिजर्व बैंक से पूर्वानुमति लेनी पडती है।
    - रिजर्व बैक को किसी बैंक विशेष अथवा सभी बैंकों की ऋण नीति पर नियंत्रण रखने का पूर्ण अधिकार प्राप्त है।
    - किसी बैंक की आर्थिक स्थिति यदि असंतोषजनक है तो रिजर्व बैंक उस बैंक के लिए कानूनी तौर पर विलम्बकाल घोषित करने की सिफारिश करता है, जिसकी अवधि 6 माह तक बढायी जा सकती है।
4. **बैकों का बैंक एवं पर्यवेक्षक के रुप में-** भारत में रिर्जव बैंक के अतिरिक्त व्यापारिक बैंक व अन्य बैकों का चलन है तथा रिजर्व बैंक व्यापारिक बैकों के बैक के रुप में कार्य कर महत्वपूर्ण भूमिका निभाता है। इस कार्य के द्वारा वह बैंकिंग व्यवस्था का संरक्षण नियमन तथा नियंत्रण करता है। रिर्जव बैंक को बहुत

ऐसे अधिकार प्राप्त हैं जिनका प्रयोग वह देश की अर्थव्यवस्था के हित मे समय-समय पर विभिन्न प्रकार के फैसले लेकर बैंकिंग व्यवस्था को सुचारू रुप से चलाने का कार्य करता है।

बैकों के बैक के रुप में भारतीय रिजर्व बैंक अन्य बैकों से उनके नकद कोषों एक निश्चित प्रतिशत/हिस्सा अपने पास जमा कराता है। देश का केन्द्रीय बैंक होने की वजह से रिजर्व बैंक अधिकृत है कि वह देश के वाणिज्यक बैंकों से उनके कुल शुद्ध देयताओं का उसे 15 प्रतिशत तक अपने पास जमा कराये और इस अनुपात को नकद कोष अनुपात कहा जाता है। बैंकों के आपात काल में रिजर्व बैंक इन्हें पैसे उधार भी देता है, लेकिन यह अल्प अवधि के लिए ही किया जाता है। सभी बैंकों के नकद कोषों का एक हिस्सा एक बैंक (केन्द्रीय बैंक) में एकत्रीकरण से पूरे बैंकिंग व्यवसाय के नकद कोषों को नियव्मयता प्राप्त होती है। क्योंकि जब कोई बैक नकदी की कमी की वजह से आपातकाल का सामना करता है तो इसे आरक्षित केन्द्री एकीकृत कोष से उधार दे कर पूरा किया जा सकता है। रिजर्व बैंक द्वारा समय-समय पर देश की अर्थव्यवस्था को देखते हुए नकद कोष अनुपात को घटाया या बढ़ाया जा सकता है। बैकों को आपातकाल से उबारने के साथ-साथ इस अनुपात का प्रयोग रिर्जव बैंक बैकिग साख को नियंत्रित करने तथा उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण के लिए भी किया जाता है जो प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रुप में हो सकता है।

5. **रिजर्व बैंक सरकार के बैंकर, अभिकर्ता एवं सलाहकार के रुप में-** भारतीय रिर्जव बैंक भारत सरकार तथा राज्य सरकारों के बैंकर, अभिकर्ता तथा सलाहकार की भूमिका भी निभाता है। सरकारी बैकर के रूप में वह भारत सरकार तथा राज्य सरकारों का बैकिंग संबंधी सभी लेन-देन के कार्यों को करता है। इसके अन्तर्गत वह सरकार की तरफ से नकदी जमा करता है। अन्य संस्थाओं या व्यक्तियों द्वारा सरकार को चुकाई जाने वाली राशि वसूल कर सरकार के खाते में जमा करता है तथा सरकार की ओर से किये जाने वाले भुगतान सम्पन्न करता है, इसमे विनिमय का कार्य, सरकारी कोषों के स्थानान्तरित का कार्य तथा सरकारों के लिए विदेशों विनिमय की व्यवस्था करना सम्मिलित होता है। सरकार की ओर से सम्पन्न किये गये साधारण बैंकिग कार्यों के लिए रिजर्व बैक को कोई कमीशन नहीं दिया जाता है। साथ ही सरकारी जमाओं पर रिर्जव बैंक ब्याज भी नहीं चुकाता है।

   आर्थिक मामलों में सरकार के सलाहकार के महत्वपूर्ण कार्य के निर्वहन में रिर्जव बैंक सरकार को मौद्रिक वित्तीय अथवा आर्थिक कार्यों में सलाह देता है और इससे संबंधित सरकारी नितियों को सफल बनाने की दिशा में कार्य करता है। इसके साथ ही अन्तरराष्ट्रीय वित्त के मामलों में पंचवर्षीय योजना के वित्तीय स्वरूप के बारे में साधनों की गतिशीलता के बारे मे तथा बैंकिग व्यवस्था के बारे में रिर्जव बैंक सरकार को सलाह देकर आवश्यक कार्यवाही करता है।

6. **विदेशी विनिमय का प्रबंधन एवं नियंत्रण-** भारतीय रिर्जव बैंक देश के विदेशी विनिमय कोषों के संरक्षक के रुप में कार्य करता है, विनिमय नियत्रंण का प्रबन्ध करते हुए भारत सरकार के अन्तरर्राष्ट्रीय मुद्रा को IMF सदस्य के रुप में सरकार के अभिकर्ता के तौर पर कार्य करता है। रिर्जव बैंक का विनिमय नियंत्रण विभाग देश में विदेशी विनिमय का मांग और पूर्ति का सम्पर्ण हिसाब-किताब रखता है और उमे संतुलन बनाने का प्रयास करता है। केन्द्रीय बैंक होने के कारण भारत में विदेशी मुद्राओं का समस्त राष्ट्रीय कोष रिर्जव बैंक के आधीन तथा नियंत्रण में रहता है तथा इनमें से किसी भी तरह का भुगतान रिर्जव बैंक की स्वीकृति से ही किया जाता है। विनिमय नियंत्रण सर्वप्रथम सितम्बर 1939 में भारत में लागू हुआ और इसके अन्तर्गत प्राप्तियों और भुगतानों दोनों में नियंत्रण को लागू किया गया था। विदेशी विनिमय नियंत्रण के अन्तर्गत कानूनन यह आवश्यक है कि सभी विदेशी विनिमय की प्राप्तियां (किसी भी श्रोत से प्राप्त हुई हों आयात अथवा सरकारी श्रोत) निश्चय ही सीधे या अधिकृत विक्रेता द्वारा कोषों को एक स्थान पर

एकत्रित कर इनके विनियोगों को करने में सरलता तथा तत्परता होगी। भारतीय मुद्रा के मूल्य को स्थिरता प्रदान करने के लिए भी रिर्जव बैंक द्वारा समय-समय पर कदम उठाये जाते हैं। अथवा विदेशी विनिमय का क्रय विक्रय किया जाता है। हांलाकि रुपये की विनिमय दर निर्धारण अब स्वतंत्र बाजार में मांग-पूर्ति के आधार पर निर्धारित होता है। परन्तु यथासम्भव इसमें स्थिरता बनाये रखना रिर्जव बैंक का दायित्व है। अन्ततः मह कहा जा सकता है कि विदेशी विनिमय नियंत्रण इस तरह कार्यान्वित किया जाता है, जिससे विदेशी विनिमय की मांग इसकी पूर्ति के अनुरुप सिमित किया जा सके।

7. **कृषि वित्त प्रवर्तन एवं साख व्यवस्था-** रिर्जव बैंक की स्थापना क समय से ही इसकी वैधानिक जिम्मेदारी के रुप में कृषि वित्त प्रवर्तन इसका प्रमुख कार्य रहा है तथा बीते दशकों में रिजर्व बैंक ने कृषि क्षेत्र में अल्पकालीन तथा दीर्घकालीन वित्त व्यवस्था के लिए अनेक सहराहनीय कार्य किये हैं। अल्पकालीन साख की व्यवस्था के लिए सहकारी समितियों के विकास के साथ-साथ दीर्घकालीन वित्त की व्यवस्था हेतु इसने 1963 में कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम की स्थापना की थी। बाद मे राष्ट्रीय कृषि और ग्रामीण विकास बैंक की स्थापना होने के बाद कृषि पुनर्वित्त एवं विकास निगम का इसमें विलय कर दिया गया।

   प्रारम्भ से ही रिजर्व बैंक का एक प्रत्यक कृषि विभाग था जिसके मुख्य कार्य थे। (1) कृषि साख संबंधी प्रश्नों का अध्ययन करना, राज्य तथा केन्द्र सरकारों, सहकारी समितियों तथा अन्य वित्तीय संस्थाओं को कृषि साख से संबंधित सलाह देना (2) कृषि साख प्रदान करने वाली संस्थाओं के साथ संबंध सथापित करना था।

   कृषि के उत्थान के लिए रिर्जव बैंक द्वारा दिया गया वित्त किसानों तक राज्य सहकारी बैकों तथा भूमि विकास बैकों के माध्यम से पहुंचता था। रिर्जव बैंक राज्य सहकारी बैकों को अलग-अलग कार्यो के लिए अल्पकालीन तथा मध्यकालीन ऋण रियायती दरों पर देता था इसके साथ-साथ रिर्जव बैंक राज्य सरकारों को कृषि साख हेतु दीर्घकालीन ऋण भी दे रहा है। रिर्जव बैंक ने सहकारिता के विकास तथा सहकारी साख के विस्तार क लिए अनेक प्रकार से सहायता प्रदान की है। वाणिज्यक बैकों को भी आदेशित किया गया है कि वह कृषि साथ को प्राथमिकता दे। इसी क्रम मे 1975 में क्षेत्रीय ग्रामीण बैकों की स्थापना की गई तथा 1982 मे स्थापित किये गये राष्ट्रीय कृषि एवं ग्रामीण विकास बैंक की 100 करोड़ की पूंजी भारत सरकार तथा रिर्जव बैंक द्वारा समान अनुपात मे लगायी गया। नावार्ड के द्वारा कृषि के अतिरिक्त ग्रामीण उद्योगों तथा अन्य उत्पादक कार्यों क लिए भी ऋण स्वीकृत किये जाते है। जिससे ग्रामीण विकास क कार्यक्रमों को प्रोत्साहित किया जा सके।

8. **समाशोधन गृहों की व्यवस्था-** समाशोधन कार्य का महत्व इस बात से लगाया जा सकता है कि यदि समाशोधन का कार्य धीमी गति से हुआ या इसमें रुकावट आयी तो अर्थव्यवस्था की क्रियायें मन्द पड़ने लगती है। बैकों का बैक तथा अंतिम ऋणदाता होने के कारण रिर्जव बैंक प्रारम्भ से ही समाशोधन कार्य कर रहा है। अर्थवस्वस्था के विस्तार व विकास के कारण अधिक समाशोधन गृहों की आवश्यकता महसूस की जाने लगी। 1935 में देश में केवल चार समाशोधन गृह स्थापित थे जो मुम्बई, दिल्ली, चेन्नई तथा कोलकता में कार्य कर रहे थे। 1962 में इनकी संख्या बढकर 69 तथा 1975 मे यह संस्था 212 हो गई इनमें से 9 संचालन रिर्जव बैंक करता है। यह सभी 9 समाशोधन गृह उन शहरों में है जहा रिर्जव बैंक के स्थानीय कार्यालय हैं। 170 समाशोधन गृहों की व्यवस्था स्टेट बैंक ऑफ इण्डिया तथा 33 समाशोधन गृहों की व्यवस्था स्टेट बैंक के सहायक बैंक कर रहे हैं।

9. **औद्योगिक वित्त प्रवर्तन-** किसी भी अल्पविकसित या विकासशील देश के लिए आगे बढने के लिए औद्योगिक विकास बहुत आवश्यक होता है, लेकिन औद्योगिक विकास के लिए पूँजी की आवश्यकता

होती है। सामान्यतया औद्योगकि विकास के लिए दीर्घकालीन वित्त/ऋण की आवश्यकता होती है, जिसे वाणिज्यक बैंकों के द्वारा प्रदान नहीं किया जाता है। इस तरह के दीर्घकालीन साख को देने का कार्य औद्योगिक वित्त की विशिष्ट शाखाओं का होता है। स्वतंत्रता के समय तक भारत में इस कार्य हेतु कोई भी संख्या अस्तित्व में नहीं थी। 1935 में रिर्जव बैंक की स्थापना के बाद इस बैंक ने संस्थागत औद्योगिक वित्त की स्थापना करने के उद्देश्य से भारतीय औद्योगिक वित्त त निगम और राज्य वित्त निगमों में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई राज्य वित्त निगमों तथा भारतीय औद्योगिक वित्त निगम में रिजर्व बैंक ने अंश पूँजी गत रखी है। औद्यागिक विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाने वाला भारतीय औद्यागिक विकास बैंक 16 फरवरी 1976 तक रिजर्व बैक की एक सहायक संस्था के रुप में कार्य करता है। अब यह बैंक एक स्वायत्त संस्था के रुप में कार्य कर रहा है। सन 1964 में रिजर्व बैंक अधिनियम में संषोधन कर राष्ट्रीय औद्योगिक साख (दीर्घकालीन कार्य) कोष की स्थापना की गई जिसका प्रमुख उद्देश्य बड़े उद्योगों को दीर्घकालीन वित्तीय सहायता उपलब्ध कराना था। रिजर्व बैंक ने भारतीय लघु उद्योग विकास बैंक की स्थापना के साथ-साथ आयात-निर्यात बैक की स्थापना में भी महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1 जुलाई 1960 को भारत सरकार द्वारा साख गारंटी योजना चालू की गई जिसका मुख्य उद्देश्य लघु एवं मध्यमय आकार के उद्योगों को बैंक तथा वित्तीय संस्थाओं द्वारा वित्तीय सहायता दिलाना था। इस योजना का संचालन रिजर्व बैंक द्वारा किया जाता है। परन्तु साख की गारंटी भारत सरकार द्वारा दी जाती हे।

10. **मौद्रिक तथा भारत संबंधी सूचनाओं तथा आंकड़ों का प्रकाशन-** किसी भी देश के केन्दीय बैंक की तरह भारत का केन्द्रीय बैंक (रिजर्व बैंक) समय-समय पर मुद्रा, साख, आर्थिक स्थिति, कीमत, विदेशी, विनिमय, विदेशी व्यापार की दशा, दिशा, मात्रा तथा भुगतान संतुलन आदि के बारे में आंकड़ों का सजग रुप से संकलन कर विश्व स्तर की जानकारी प्रकाशित करता है। रिजर्व बैंक प्रतिवर्ष संचालक मण्डल की वार्षिक रिपोर्ट, मुद्रा तथा वित्त संबंधी रिपोर्ट और भारतीय बैंकिग वित्तीय एवं प्रवृति और प्रगति के आंकड़े प्रकाशित करता है। ये आंकड़े देश की मौद्रिक, वित्तीय एवं आर्थिक समस्याओं का अध्ययन करने तथा लाभदायक सिद्ध होते हैं। रिजर्व बैंक ऑफ इण्डिया का मासिक वुलेटिन तथा वार्षिक करेन्सी एण्ड फाइनेन्स रिपोर्ट महत्वपर्ण आर्थिक सूचनायें तथा आंकड़े प्रदान करता है।

11. **बैंकिंग विकास से संबंधित कार्य-** भारतीय रिजर्व बैंक देश के बैकों तथा बैकिग व्यवस्था पर नियत्रण रखने के साथ-साथ उनके विकास के लिए भी महत्वपूर्ण कार्य करता है। बैंकिग विकास के स्वरूप शाखा विस्तार की एक निश्चित नीति अपनाकर बैंक विहीन क्षेत्रों खासकर ग्रामीण क्षेत्रों मे बैंकों की शाखायें खोली गई है। 'लीड बैंक' योजना के अन्तर्गत बैकों को आर्थिक विकास के कार्यों में भागीदार बनाने का प्रयास किया गया है। जमा बीमा निगम जिसकी स्थापन 1961 में की गई थी। 1970 में साख गारंटी निगम के साथ मिलाकर जमा बीमा तथा साख गारंटी निगम बना दिया गया। प्रशिक्षित अधिकारी तथा कर्मचारी ही किसी संस्था को उन्नति पर अग्रसर कर सकते है। इसको ध्यान में रखते हुए रिजर्व बैंक आफ इण्डिया ने सन् 1954 में बम्बई में 'बैंकर्स टेनिंग कालेज' की स्थापना की। जहां बैंकों के अधिकारियों को प्रशिक्षित किया जाता है। पुणे ने कृषि बैंकिग कालेज की स्थापना के साथ ही चेन्नई में स्ट्राफ ट्रैनिंग कालेज खोला गया। बैंकिंग कलर्कों के प्रशिक्षण के लिए चार क्षेत्रीय प्रशिक्षण केन्द्र मुम्बई, दिल्ली, कोलकता तथा चेन्नई में कार्य कर रहे है। बैंक प्रबंधन की राष्ट्रीय संख्या बैंकिंग प्रशिक्षण में अहम योगदान दे रहा है। रिजर्व बैंक के विकास एवं प्रवर्तन से संबंधित महत्वपूर्ण कार्य निम्नांकित हैं- वाणिज्यिक बैंक व्यवस्था का विकास, सहकारी बैकिंग व्यवस्था का विकास, बिल मार्केट का विकास, प्राथमिकता वाले क्षेत्र में साख उपलब्ध कराना, साख गारंटी, विभेदात्मक व्याज दर योजना, निर्यात के लिए वित्त का प्रवर्तन, औद्योगिक वित्त का प्रवर्तन।

13.4.2 सामान्य बैंकिंग कार्य

भारत का केन्द्रीय बैंक होने के कारण केन्द्रीय बैकिग कार्यो के अतिरिक्त रिजर्व बैंक सामान्य बैकिग कार्य भी करता है, जो निम्नांकित हो सकते हैं-

1. रिजर्व बैक द्वारा केन्द्र सरकार तथा राज्य सरकारों को काम चलाऊ ऋण दिया जा सकता है, जिसकी अवधि 90 दिन से अधिक नही हो सकती है।
2. रिजर्व बैंक केन्द्र सरकार, राज्य सरकार तथा वाणिज्यक बैकों के अतिरिक्त अन्य अर्द्धसैनिक गैर-सरकारी, सरकारी संस्थाओं तथा व्यक्तियों से जमा स्वीकार कर सकता है। परन्तु इन जामाओं पर किसी भी तरह का व्याज रिजर्व बैंक द्वारा नहीं दिया जाता है।
3. 90 दिन या इससे कम अवधि के विदेशी विनिमय किसी का क्रय-विक्रय रिजर्व बैंक द्वारा किया जा सकता है जिसका भुगतान अन्तरराष्ट्रीय मुद्रा कोष के किसी सदस्य देश में होना हो।
4. रिजर्व बैंक 90 दिन या इससे कम अवधि के व्यापारिक विलों का क्रय-विक्रय तथा मांग (requisition) करता है, जिसका भुगतान भारत में होने वाला हो।
5. रिजर्व बैंक सदस्य बैकों से विदेशी विनिमय का क्रय-विक्रय कर सकता है, किन्तु यह क्रय-विक्रय एक लाख रुपये से कम मूल्य की नहीं होना चाहिए।
6. फसल की बिक्री तथा कृषि के लिए वित्तीय सहायता देने के उद्देश्य को निर्मित कृषि बिलों को रिजर्व बैंक खरीदने-बेचने के साथ-साथ भुना भी सकता है। किन्तु इनकी अवधि 15 माह से अधिक नही होनी चाहिए।
7. रिजर्व बैंक विदेशी सरकारों द्वारा जारी की गई उस प्रतिभूतियों का क्रय-विक्रय कर सकता है जिसका भुगतान अधिकतम 10 वर्षो के अन्दर हो जाता हो।
8. अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष के किसी सदस्य देश के केन्द्रीय बैंक के यहा रिजर्व बैंक अपना खाता खोल सकता है अथवा उससे अभिकर्ता संबंध स्थापित कर सकता है तथा अन्तर्राष्ट्रीय वित्तीय संस्थाओं के साथ लेन-देन कर सकता है।
9. रिजर्व बैंक स्वर्ण के सिक्के तथा स्वर्ण धातु खरीद-बेच सकता है।

13.4.3 उपभोक्ता केन्द्रित कार्य

रिजर्व बैंक का एक महत्वपूर्ण कार्य है बैंक उपभोक्ताओं के हितों का संरक्षण। रिजर्व बैंक द्वारा उपभोक्ताओं के हितों के संरक्षण का संज्ञान 1949 में ही लिया गया था जब उपभोक्ता सेवा उपभोक्ता अनुभव उपभोक्ता से संबंध तथा उपभोक्ता केन्द्रित जैसे शब्द सामने लाये गये। इन सबका आशय सिर्फ यही था कि उपभोक्ता सबसे ऊपर है। बैकों के नियंत्रक के रुप में रिजर्व बैक अपनी स्पापना से ही बैंकों द्वारा प्रदान की जा सकी, उपभोक्ता सेवाओं को पुनरीक्षेत्र करता है। विचार करता है तथा मूल्यांकित करता है। यह काय रिजर्व बैक द्वारा समय-समय पर तथा लगातार किये जाते है। जो बैकिग व्यवसाय को लगातार उपभोक्ता मित्र बनाने का प्रयास है। रिजर्व बैंक द्वारा आजादी के बाद बैकिग व्यवसाय को प्रतियोगी बनाया गया है। जिससे बैंक उपभोक्ताओं के उच्च दर्जे की सेवायें प्राप्त हो रही है। लेकिन इसके साथ ही रिजर्व बैक द्वारा यह महसूस किया गया। कि केवल प्रतिस्पर्धात्मक तत्व हो बैंक उपभोक्ताओं को उनका विनिमय अधिकार प्रदान नहीं कर पायेगा। इसी सन्दर्भ में रिजर्व बैंक ने संस्थात्मक ढांचे में कुद इस तरह के निमय कार्यप्रणाली विधियां तथा पर्यवेक्षात्मक ढांचा स्थापित किया, जिससे बैंकिग व्यवस्थाय के उपभोक्ता सेवाओं में गुणात्मक सुधार लाया जा सके।

13.5 सार्वजनिक ऋण का वर्गीकरण

सार्वजनिक ऋण के वर्गीकरण को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है-

1. **ऋण की दृष्टि से-** ऋण की दृष्टि से सार्वजनिक ऋणों को निम्न प्रकार रख सकते हैं-
   - **आन्तरिक ऋण-** आन्तरिक ऋण वे ऋण हैं, जिन्हें किसी देश की सरकार अपने देश के अन्दर से ही प्राप्त करती है। यह अपने देश की मुद्रा में ही प्राप्त किये जा सकते हैं। आन्तरिक ऋण केवल उसी समय सम्भव हो सकता है जबकि नागरिकों के पास पर्याप्त मात्रा में खर्चा पूर्ण करने के पश्चात बच रहता है। आन्तरिक ऋण के भुगतान की समस्या अधिक जटिल नहीं होती है, क्योंकि इनका भुगतान देश की मुद्रा में ही किया जाता है। आन्तरिक ऋणों पर ब्याज का भुगतान भी देश के नागरिकों को ही किया जाता है। आन्तरिक ऋण इच्छित वं अनिच्छत दोंनों ही प्रकार का हो सकता है। इस ऋण को प्राप्त करने हेतु देश के लागों पर दबाव भी डाला जा सकता है।
   - **बाह्य ऋण-** बाह्य ऋण वे ऋण होते हैं, जोकि विदेशों से प्राप्त किये जाते हैं। डाल्टन का मत है कि "एक ऋण आन्तरिक या बाह्रा हो सकता है। एक ऋण आन्तरिक उस समय होता है जबकि सार्वजनिक अधिकारी, जो ऋण प्राप्त करता है, के सीमा क्षेत्र के अन्तर से प्राप्त किया जाए और इस सीमा से बाहर प्राप्त करने पर बाह्रा हो जाता है।'' बाह्य ऋणों का भार देश के नागरिकों को सहन करना पड़ता है। इस ऋण का द्राव्यिक का भार ब्याज व मूल धन के रूप में दी जाने वाली राशि से लगाया जाता है तथा उस ऋण का प्रत्यक्ष वास्तविक भार देश के नागरिकों के आर्थिक कल्याण में कमी होना है।
2. **उत्पत्ति की दृष्टि से-** उत्पत्ति की दृष्टि से सार्वजनिक ऋणों के अग्र भेद हैं-
   - **उत्पादक ऋण-** उत्पादक ऋण से आशय ऐसे ऋणों से है जिनका भुगतान व्यवसाय से प्राप्त आय से कर दिया जाता है। जो ऋण विकास कार्यों से जैसे नदी-घाटी योजना, जलकल, यातायात, लौह इस्पात, खाद व सीमेंट के कारखानों में लगाया जाता है उसे उत्पादक ऋण कहा जाता है। वर्तमान समय में सरकार द्वारा लिये गये ऋण नियोजन कार्य में लगाने से उत्पादक ही माने जाते हैं। क्योंकि इनसे भविष्य में उत्पादन एवं रोजगार की मात्रा में वृदि होगी जिससे राष्ट्रीय व प्रति व्यक्ति आय बढ़कर करों के रूप में अधिक धनराशि प्राप्त होकर ऋणों का भुगतान सरलतापूर्वक किया जा सकेगा। उदाहरणार्थ बाढ़, भूकम्प, प्रतिरक्षा आदि पर किया गया व्यय उत्पादक माना जाता है।
   - **अनुत्पादक ऋण-** प्रत्यक्ष रूप से मौद्रिक लाभ न देने वाले ऋण अनुत्पादक ऋण कहे जाते हैं। यदि सरकार ऋण ऐसे उपयोगों में लगाती है जहां पर मूलधन एवं ब्याज की राशि का भुगतान करने हेतु पृथक से व्यवस्था करनी पड़े तो ऐसे ऋणों को अनुत्पादक या मृतभार ऋण कहते हैं। जैसे बाढ़ पीड़ितों को सहायता देने तथा अकाल एवं सुरक्षा आदि पर धन व्यय करना आदि। यद्यपि ऐसी सहायता से समाज का हित होता है, और जनता के कल्याण में वृद्धि होती है, परन्तु मौद्रिक रूप से इसका कोई लाभ प्राप्त नहीं होता है। वास्तव में कोई ऋण अनुत्पादक नहीं माना जा सकता। "किसी भी देश की सम्पन्नता वहां की भूमि एवं डालरों में निहित न होकर स्वस्थ एवं प्रसन्न पुरूषों एवं बच्चों में होती है।''
3. **समय की दृष्टि से-** समय की दृष्टि से ऋणों को निम्न भागों में बांट सकते हैं-

- **अल्पकालीन ऋण-** जब सरकार थोड़े समय के लिए ऋण प्राप्त करे तो इन्हें अल्पकालीन ऋण कहेंगे। इस ऋण की मूल धनराशि को भविष्य में वापस कर दिया जाता है। इन ऋणों इसलिए इन ऋणों को चल ऋण कहा जाता है। इस ऋण को व्याज के साथ वापस करना होता है।
- **दीर्घकालीन ऋण-** जब सरकार के द्वारा लम्बी अवधि के लिए ऋण प्राप्त किये जायें तो उसे दीर्घकालीन ऋण कहते हैं। इस ऋण का एक निश्चित अवधि के पश्चात लौटाने का वायदा नहीं किया जाता परन्तु प्रतिवर्ष व्याज का भुगतान अवश्य कर दिया जाता है। इस ऋण की स्थापना हेतु सरकार द्वारा एक कोष की स्थापना की जाती है। यह ऋण कब लौटाये जायेंगें, इसकी सीमा नहीं होती।

4. **शोधन की दृष्टि से-** शोधन की दृष्टि से सार्वजनिक ऋण निम्न प्रकार के होते हैं-
   - **शोध्य ऋण-** जब सरकार किसी ऋण के सम्बन्ध में एक निश्चित भावी तिथि पर भुगतान करने का वचन देती है तो ऐसे ऋण को शोध्य ऋण कहा जाता है।
   - **अशोध्य या स्थायी ऋण-** ऐसे ऋण जिनके भुगतान का वायदा नहीं किया जाता इसे अशोध्य ऋण कहते हैं। इस ऋण में सरकार केवल ब्याज देने की गारंटी करती है तथा मूलधन को वापस करने की कोई व्यवस्था नहीं की जाती। जे0के0 मेहता का मत है कि, "शोध्य ऋण वे हैं जिन्हें सरकार एक भावी तिथि पर भुगतान करने का वचन देती है। वे जिनके लिए कोई वायदा नहीं किया जाता, वे अशोध्य ऋण कहलाते हैं। सार्वजनिक ऋण प्रायः शोध्य ऋण होते हैं।''
5. **स्वेच्छा की दृष्टि से-** स्वेच्छा की दृष्टि से ऋणों को निम्न भागों में बाँटा जा सकता है-
   - **ऐच्छिक ऋण-** जब जनता स्वेच्छा से सरकार को जब ऋण देती है तो ऐसे ऋण को एच्छिक ऋण कहा जाता है। यह आन्तिरिक एवं बाह्रा दोनों ही प्रकार के हो सकते हैं।
   - **बलात ऋण-** आवश्यकता से कम ऋण प्राप्त होने से सरकार द्वारा जनता से मजबूरन ऋण प्राप्त किया जाता है। 17वीं या 18वीं शताब्दी में ऐसे ऋणों का अधिक प्रचलन रहा है। इन ऋणों को देश में उत्पन्न हुए आपातकाल को दूर करने में प्रयोग किया जाता रहा है।
     डाल्टन का मत है कि "ऋण ऐच्छिक या बलात हो सकता है। बलात ऋण वर्तमान राजस्व व्यवस्था में कदाचित ही हो, क्योंकि इसमें हानियाँ अधिक व लाभ कम पाये जाते हैं जिससे दोनों ही करों को स्वैच्छिक माना जा सकता है।''
6. **सम्पत्ति की दृष्टि से-** सम्पत्ति की दृष्टि से सार्वजनिक ऋण के प्रमुख भेद निम्न हैं-
   - **पुनरूत्पादक ऋण-** यह वे ऋण होते है, जिनके लिए सरकार उनके बराबर सम्पत्ति अपने पास रखती है, और इसकी आय में से ब्याज एवं मूलधन कर दिया जाता है।
   - **मृतक बोझ ऋण-** इस ऋण में सरकार के पास उनके मूल्य के बराबर सम्पत्ति नहीं रखी जाती तथा ऋणों को भुगतान करारोपण की आय से हो जाता है। इस ऋण को ऐसे कार्यों पर व्यय किया जाता है जिनसे कोई भी आय प्राप्त न हो। जैसे युद्ध संचालन पर व्यय करना, अकाल, भूकम्प व बाढ़ पीड़ितों की सहायता आदि।
7. **अन्य दृष्टि से-** इस आधार पर सार्वजनिक ऋणों के रूप निम्न प्रकार हैं-
   - **सूद सहित एवं सूद रहित ऋण-** सूद सहित ऋणों में सरकार द्वारा एक निश्चित अवधि के पश्चात ब्याज दी जाती है, जबकि सूद रहित ऋणों में सरकार द्वारा कोई भी ब्याज नहीं दी जाती है। प्राचीन के शासकों के द्वारा बिना ब्याज का ऋण लिया जाता था।

- **वार्षिक वृत्ति एव लाटरी ऋण-** सरकार द्वारा ऋण किश्तों में ऋण लेने की पद्धति को वार्षिक वृत्ति कहते हैं। ऐसे ऋण का भुगतान भी एक साथ न करके किश्तों में ही वार्षिक वृत्ति के रूप में कर दिया जाता है। लाटरी ऋण में मूलधन के अतिरिक्त इनाम भी घोषित किये जाते हैं।
- **क्रय योग्य एवं अक्रय योग्य ऋण-** क्रय योग्य ऋणों में वे सरकारी प्रतिभूतियां आती हैं, जिनका बाजार में स्वतन्त्रतापूर्वक क्रय विक्रय किया जा सकता है। इसके विपरीत अक्रय योग्य ऋण में वे ऋण सम्मिलित किये जाते हैं जो बाजार में न बेचे जाकर एक निश्चित अवधि के पश्चात सरकार को ही वापस कर दिये जाते हैं।
- **कुल ऋण एवं शुद ऋण-** एक निश्चित अवधि में सरकार द्वारा लिये गये समस्त प्रकार के ऋणों के योग को कुल ऋण कहा जाता है। इन ऋणों के भुगतान हेतु जो कोष सरकार द्वारा रखा जाता है, उसे घटाने पर शुद्ध ऋण ज्ञात होता है।

सार्वजनिक ऋण एक समान न होकर सदैव एक दूसरे से भिन्न होते हैं। इस सम्बन्ध में जे0के0 मेहता का मत है कि ''सार्वजनिक ऋण एक दूसरे से भिन्न होते हैं क्योंकि उनका आधार भिन्न-भिन्न होता है। इनमें यह अन्त बाजार ब्याज, चुकाने के ढंग आदि के कारण ही पाया जाता है।''

13.6 सार्वजनिक ऋण के सिद्धांत

सार्वजनिक ऋण के प्रमुख सिद्धांत निम्न प्रकार हैं-

1. **विनियोक्ताओं की आवश्यकता की पूर्ति-** सार्वजनिक ऋण का प्रबन्ध इस ढंग से किया जाना चाहिए कि विनियोक्ता की आवश्यकताएं सरकारी प्रतिभूतियों के प्रकार एवं उनके निर्गमन के सम्बन्ध में सन्तुष्ट होनी चाहिए।
2. **प्रशुल्क व मौद्रिक नीति से समन्वय-** देश में आर्थिक स्थिरता एवं आर्थिक विकास हेतु सार्वजनिक ऋण नीति का प्रशुल्क व मौद्रिक नीति के साथ समन्वय स्थापित करना आवश्यक है। ऋण नीति से बने रहना चाहिए।
3. **परिपक्वता, वितरण एवं ऋणधारी के प्रकार-** यदि कुल ऋण का एक बड़ा भाग अल्पकालीन ऋण है जो अधिकांशतया बैंक द्वारा लिया जाता है तो उसमें उच्च प्रकार की तरलता होगी जो कि स्फीति दबाव बतायेगी, जबकि अपस्फीतिक नीति की आवश्यकता होती है। अतः ऋण की उच्च तरलता स्फीतिक नियन्त्रण को कठिन बना देती है।
4. **अल्पकालीन ऋणों का दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्ततन-** सार्वजनिक ऋण प्रबन्ध में अल्पकालीन ऋणों को दीर्घकालीन ऋणों में परिवर्तित किया जाना चाहिए विशेषकर अति दीर्घकालीन ऐसे ऋणों में जो कभी परिपक्व नहीं होते। परन्तु यह कार्य इस ढंग से किया जाना चाहिए जिससे आर्थिक स्थायित्व में कोई कठिनाई न हो।
5. **सार्वजनिक ऋण की ब्याज सेवा का न्यूनतम होना-** सरकार द्वारा सार्वजनिक ऋण की प्राप्ति न्यूनतम ब्याज दर भार पर करनी चाहिए। यह ऋण प्रबन्ध का एक प्रमुख उददेश्य है।ब्याज भार न्यूनतम होना चाहिए, क्योंकि ब्याज की व्यवस्था अतिरिक्त करारोपण से ही सम्भव हो पाती है। करारोपण की दर में कमी करने से विभिन्न प्रेरणाओं पर कम प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। जनता कर के भार को उठाने में असमर्थ रहती है।

13.7 सार्वजनिक ऋण के स्रोत

भारत में सार्वजनिक ऋण को निर्गमन करने या प्राप्त करने की विभिन्न रीतियों को निम्न प्रकार रखा जा सकता है-

1. **आन्तरिक ऋण-** आन्तरिक ऋण की दृष्टि से सरकार निम्नलिखित तकनीकों ओर स्रोतों से ऋण प्राप्ति करती है-
   - **विपणन उधार-** सरकार द्वारा लोक ऋण लेने की एक महत्वपूर्ण तकनीकी निश्चित तिथि वाले ऋणों का निर्गमन करना है। इसमें सरकार की निश्चित तिथि या वर्ष में भुगतान होने वाले ऋण-पत्र, बाण्ड या ऋण का निर्गमन करती है और इन पर ब्याज की दर भी निश्चित रहती है। यह ऋण सामान्य रूप से विक्रय के लिए होते हैं और जन-सामान्य द्वारा खरीदे जाते हैं। लेकिन इनका अधिकांश भाग व्यापारिक बैंकों, बीमा कम्पनियों और गैर बैंकिंग वित्तीय संस्थाओं द्वारा क्रय किया जाता है।
   - **लघु बचतें-** सरकार जन सामान्य से ऋण प्राप्त करने की दृष्टि से लघु बचत तकनीक का प्रयोग करती है। इसके लिए विभिन्न प्रकार के ऋण प्रमाण पत्रों का निर्गमन किया जाता है। इस प्रकार के ऋण को प्राप्त करने के लए सरकार आय-कर में भी छूट प्रदान करती है और कभी कभी इन बचतों में राशि लगाना अनिवार्य भी कर दिया जाता है,
   - **अघोषित ऋण-** सरकार प्रॉविडेण्ड फण्ड, अनिवार्य बचत योजनाऐं, एन्यूटी जमा इत्यादि के आधार पर भी अकोषित ऋण प्राप्त कर लेती है।
   - **ट्रेजरी बिलों का निर्गमन-** सरकार के हाथ में ऋण प्राप्त करने का एक विशिष्ट साधन ट्रेजरी बिल होते हैं। इनमें से अधिकांश ट्रेजरी बिलों का प्रयोग रिजर्व बैंक से ऋण प्राप्त करने में किया जाता है।

लोक ऋण प्रवर्तन की उपर्युक्त तकनीकों के अतिरिक्त राज्य सरकारों द्वारा निम्न स्रोतों का भी प्रयोग किया जाता है-

- **केन्द्रीय सरकार के ऋण और अग्रिम-** राज्य सरकार के ऋणों का एक बड़ा भाग केन्द्रीय सरकार से ऋण और अग्रिम के रूप में प्राप्त किया जाता है। यह ऋण और अग्रिम नियोजन और गैर-नियोजन दोनों उद्देश्यों से लिए जाते है।
- **बैंकों और संस्थाओं से ऋण-** राज्य सरकारें बैंकों और अन्य संस्थाओं से भी ऋण और अग्रिम प्राप्त करती हैं। इनमें व्यापारिक बैंक, राष्टीय कृषि साख (दीर्घकालीन क्रियान्वयन) कोष, राष्ट्रीय सहकारी विकास निगम और जीवन बीमा निगम का नाम उल्लेखनीय है।
- **रिजर्व बैंक से ऋण और अधिविकर्ष-** राज्य सरकारें रिजर्व बैंक से "Ways and Means Advances from the Reserve Bank of India'' योजना के अन्तर्गत ऋण और अधिविकर्ष भी प्राप्त करती है।

2. **विदेशी या बाह्य ऋण-** विदेशी ऋणों में तीन स्रोतों को शामिल किया जाता है- विदेशी जनता, विदेशी सरकारें एवं विशिष्ट संस्थाएं- विदेशी जनता से ऋण प्राप्ति लगभग नगण्य रहती है, लेकिन विदेशी सरकारों तथा विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं से पर्याप्त मात्रा में ऋण प्राप्त किया जाता है। विशिष्ट वित्तीय संस्थाओं में अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष, विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय विकास परिषद तथा एशियन विकास बैंक का उल्लेख किया जा सकता है।

13.8 सार्वजनिक ऋण के आर्थिक प्रभाव

जिस प्रकार सार्वजनिक आय एवं सार्वजनिक व्यय से पूरी अर्थव्यवस्था प्रभावित होती है, उसी प्रकार से सार्वजनिक ऋणों का प्रभाव भी सम्पूर्ण अर्थव्यवस्था पर पड़ता है। ऋण की प्रकृति, स्वभाव-अवधि एवं रूप आदि

पर सार्वजनिक ऋणों के प्रभाव निर्भर करते हैं। भारत में 1996-97 में कुल सार्वजनिक ऋण की मात्रा 368216 करोंड़ रूपये थी तथा 1996-97में सरकार का कुल दायित्व 630329 करोंड़ रू0 था। सार्वजनिक ऋणों के प्रभावों को निम्न प्रकार से रखा जा सकता है-

1. **उत्पादन पर प्रभाव-** सार्वजनिक ऋण का उत्पादन पर पड़ने वाले प्रभावों को निम्नवत अध्ययन किया जा सकता है-
    - **कार्य, बचत एवं विनियोग की शक्ति पर प्रभाव-** यदि ऋण से प्राप्त धन को ऐसी योजनाओं पर व्यय किया जाए जोकि उत्पादक है और उससे नागरिकों की उत्पादन क्षमता में वृद्धि हो जाती हो, तो उससे नागरिकों की कार्य करने, बचत करने एवं विनियोग करने की शक्ति पर अच्छे प्रभाव पड़ेंगे। यदि इस राशि को इस प्रकार व्यय किया जाए जिससे निर्धन वर्ग की आय बढ़े तो उससे निर्धनों की कार्य करने की शक्ति अधिक बढ़ जाती है। ऋणों का उपयोग सदैव इस ढंग से किया जाना चाहिए कि उससे निर्धन वर्ग लाभान्वित हो सके।
    - यदि प्राप्त ऋण को उत्पादन कार्यो मे लगा दिया है तो ऋणों का मूलधन व ब्याज के भुगतान हेतु करारोपण करने की आवश्यकता नहीं होगी। इसके विपरीत यदि प्राप्त ऋण राशि को अनुत्पादक कार्यों में लगा दिया जाए तो ऋण के भुगतान के लिए करारोपण करना होगा और उससे नागरिकों की कार्य करने, बचत करने एवं विनियोग करने की शक्ति पर बुरे प्रभाव पड़ेंगे।
    - **कार्य करने एचं बचत करने की इच्छा पर प्रभाव-** सार्वजनिक ऋणों के अच्छे साधनों में विनियोग करने से नागरिकों की बचत करने की इच्छा पर अच्छे प्रभाव पड़ते हैं। प्रायः यह कहा जाता है कि सार्वजनिक ऋण से कार्य करने एवं बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं, क्योंकि- सरकारी प्रतिभूतियों में धन लगाने से निरन्तर आय प्राप्त होते रहने से नागरिकों की कार्य करने की इच्छा कम हो जाती हैं क्योंकि उन्हें आय निरन्तर प्राप्त होती रहती है। करारोपण का सहारा लिये जाने पर इससे नागरिकों की कार्य करने व बचत करने की इच्छा पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ते हैं। यदि केवल ऋण लेने की ही व्यवस्था रखी जाए, तो उससे जनता पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता है।
    - **साधनों के स्थानान्तरण पर प्रभाव-** सरकार द्वारा ऋण लेने पर उसे ऐसे उपयोगों में व्यय किया जाता है जिससे नागरिकों की उत्पादन शक्ति में वृद्धि हो जाती है। यदि ऋण का उपयोग अनुत्पादक कार्या में हो तो ऐसे हस्तानान्तरण से उत्पादन हतोत्साहित होगा।
      जे0के0 मेहता का मत है कि "भावी वर्षों में जहां पर ऋणों के भुगतान के लिए कर लगाये जायें तो व्यक्ति अपने उपयोग को कम करता है। अतः यह कहा जाता है कि ऋण के वर्तमान उपभोग कम न होकर भविष्य के उत्पादन पर प्रभाव पड़ता है। भविष्य में उत्पादन कम नहीं होता वास्तव में उत्पादन में वृद्धि हो जाती है।''
    - **साधनों का एक उपयोग से दूसरे उपयोग को स्थानान्तरण-** सार्वजनिक ऋणों की क्रिया से उत्पत्ति के साधनों को एक उपयोग से दूसरे उपयोग की ओर स्थानान्तरित कर सकते हैं। अनुत्पादक कार्यो से देश का समुचित विकास नहीं हो पाता है।
2. **रोजगार पर प्रभाव-** जिन कारणों से सार्वजनिक ऋण उत्पादन की वृदि करता है, उन्हीं कारणों से रोजगार मे भी वृद्धि करता है। सरकार रोजगार एवं मूल्य स्तर को द्रव्य की मात्रा से नियमित करती है।

लर्नर का कथन है कि सार्वजनिक ऋण के सम्बन्ध में क्रियात्मक वित्त सिद्धांत का पालन करना चाहिए तथा उत्पादन की मात्रा एवं उस पर होने वाले व्यय में सदा सन्तुलन स्थापित होना चाहिए।

3. **उपभोग पर प्रभाव-** सार्वजनिक ऋणों का उपयोग पर प्रभाव ऋण देने के ढंग पर निर्भर करेगा। यदि ऋण की धनराशि उपभोग में से कटौती करके दी जाती है, तो उपभोग पर बुरे प्रभाव पड़ेंगे। उपभोग पर सार्वजनिक ऋण का प्रभाव वर्तमान में न पड़कर भविष्य में पड़ता है। इससे उपभोग में कमी होने की अपेक्षा बढ़ेगी। जब व्यक्ति अपने उपभोग में कमी करके सरकार को ऋण देता है तो उसे पर्याप्त उपयोग न होने के कारण व्यक्तियों के स्वास्थ्य पर बुरे प्रभाव पड़ने लगते हैं। इससे उनकी कार्य क्षमता गिर जाती है तथा उत्पादन गिरने से वस्तुएं महँगी हो जाती है और उपभोग पूर्व की अपेक्षा और कम हो जाता है।
4. **निजी क्षेत्र पर प्रभाव-** सार्वजनिक व्यय द्वारा जनता की क्रय शक्ति के बढ़ने से वस्तुओं की मांग में वृद्धि हो जाती है तथा चलन में मुद्रा की मात्रा भी बढ़ जाती है। जब यह व्यय करों से प्राप्त किया जाए तो चालू उपभोग कम हो जाता है। परन्तु यह व्यवस्था ऋण कें रूप में करने से बचतों का सदुपयोग होता है और चालू उपभोग कम नहीं हो पाता। यदि ऋण का उपयोग निजी क्षेत्र मे उत्पादित माल के लिए किया जाए तो निजी क्षेत्र मे मांग में वृद्धि की जा सकती है। यदि ऋण के एक भाग का उपयोग सरकारी अधिकारियों की मजदूरी व वेतन के रूप में प्रयोग किया जाता है, तो वह निजी क्षेत्र में उत्पादित वस्तु के उपयोग पर व्यय हो सकता है, जिससे सार्वजनिक ऋण के अनुकूल प्रभाव पड़ते हैं। निजी क्षेत्र में विनियोग बढ़ने से लाभ की सम्भावनाएं भी बढ़ जाती है।
5. **उत्पादन लागत पर प्रभाव-** लागत में सामग्री व्यय तथा अन्य व्ययों को सम्मिलित किया जाता है। यदि सरकार ऋण राशि का उपयोग उत्पादकों को उचित मूल्य पर कच्ची समग्रियों की पूर्ति पर करे, औद्योगिक अनुसन्धानों को प्रोत्साहित करे, तो उससे उत्पादन लागत में कमी होगी तथा ऋणों के अनुकूल प्रभाव पड़ेंगें।
6. **विनियोग पर प्रभाव-** प्रायः सार्वजनिक ऋणों का विनियोग पर विपरीत प्रभाव पड़ता है। यदि सरकार बैंकों से ऋण प्राप्त करती है तो उससे जनता पर अतिरिक्त क्रय-शक्ति आयेगी और विनियोग की राशि में कोई कटौती नहीं होगी। यदि ऋणों के लिए धन निजी बचतों या व्यापार से लिया जाता है तो विनियोग में कमी होगी क्योकि धनराशि को या तो विनियोग किया जा सकता है या उसे ऋण के रूप में दिया जा सकता है।
7. **वितरण पर प्रभाव-** सार्वजनिक ऋणों के उपयोग से कभी धन के वितरण में समानता लायी जा सकती है, तो कभी धन के वितरण में असमानता। सार्वजनिक ऋणों से धन के वितरण में समानता लाना लाभकारी रहता है, इससे गरीब वर्ग लाभान्वित होता है। धन के वितरण में समानता लाने से देश मे कल्याणकारी कार्यों को बढ़ाया जा सकता है।
8. **तरलता पर प्रभाव-** जो व्यक्ति सरकारी प्रतिभूतियां क्रय करते हैं, उनकी सम्पत्ति में उच्चकोटि की तरलता बनी रहती है जिसे किसी भी उद्देश्य हेतु प्रयोग किया जाता सकता हैं। अतः सार्वजनिक ऋण उच्चतम तरलता सम्पत्ति प्रदर्शित करते हैं। स्फीतिक परिस्थितियों मे केन्द्रीय बैंक, व्यापारिक बैंकों की साख निर्माण क्षमता को बैंक दर, खुले बाजार की क्रियाएँ आदि सीमित कर देती हैं। अधिक मात्रा में सार्वजनिक ऋण बाजार भार को बढ़ा देते हैं जो कि समाज पर स्फीतिक या अस्फीतिक प्रभाव डालते हैं।
9. **विदेशी ऋणों का प्रभाव-** विकासशील देशों में बाह्य ऋण पूजीगत माल के आयात को प्रोत्साहित करता है, जो कि उपभोग व विनियोग पर अनुकूल प्रभाव डालता है। विदेशी माल के आयात से जनता का जीवन स्तर बढ़ जाता है इस दृष्टि से कभी-कभी विदेशी ऋणों को प्राप्त करना अच्छा समझा जाता है।

10. **मुद्रा बाजार पर प्रभाव-** यदि निजी क्षेत्र से कोष के लिए अधिक मांग है तो सरकार को अधिक ब्याज दर पर प्रतिभूतियों को आकर्षित करना होगा अतः सरकार द्वारा ऋण प्राप्त करते समय उसे निजी क्षेत्र से तुलना करनी होगी। यदि सरकार विद्यमान पूर्ति की तुलना में अधिक ऋण लेना चाहती है तो उससे मुद्रा का विस्तार होगा। इस बढ़ी हुई मुद्रा का उपयोग देश की विकास योजनाओं व कार्यक्रमों पर किया जा सकेगा।
11. **साधन आबंटन व राष्ट्रीय आय पर प्रभाव-** करों के विपरीत, सार्वजनिक ऋणों का साधनों के आवंटन एवं राष्टीय आय पर थोड़ा ही प्रभाव पड़ता है। यदि विनियोग स्तर गिरता है तो उससे पूँजीगत माल के उत्पादन मे कमी होगी। इससे विपरीत, यदि पूँजीगत माल से उत्पादन बढ़ता है तो उसे राष्ट्रीय आय में वृदि हो जाती है तथा गुणंक के प्रभावकारी असर के कारण दीर्घकाल में रोजगार तथा आर्थिक क्रियाओं पर अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

13.9 सार्वजनिक ऋणों का भार

डाल्टन ने सार्वजनिक ऋण के भार को निम्न दो वर्गों में विभाजित किया है- आन्तिरक ऋण का भार एवं बाह्य ऋण का भार।

1. **आन्तरिक ऋण का भार-** आन्तरिक ऋण में राज्य अपने ही देश के लोगों व संस्थाओं से ऋण प्राप्त करता हैं अत इसके भार से सम्बन्धित मुख्य बातें निम्न हैं-
    - प्रत्यक्ष वास्तविक भार- यदि ऋणपत्र निर्धन वर्ग ने क्रय किये हैं और इनके भुगतान हेतु सरकार ने धनी वर्ग पर कर लगाया है तो ऋण का वास्तविक भार कम होगा। व्यवहार में ऋण पत्र धनी वर्ग के द्वारा ही क्रय किये जाने के कारण वास्तविक भार बढ़ जाता है।
    - प्रत्यक्ष मौद्रिक भार- आन्तरिक ऋणों में धन का पुनवितरण होने के कारण उसका कोइ प्रत्यक्ष मौद्रिक भार नहीं होता क्योंकि सरकार जनता से ही ऋण लेती है और उन्हीं पर कर लगाकर उसे वापस कर देती है।
    - अप्रत्यक्ष मौद्रिक भार- सरकार ऋण लेकर यदि उसे विकासात्मक कार्यो पर व्यय करे तो इससे वस्तुओं की मांग बढ़ जाती है और उससे मूल्यों मे भी वृद्धि हो जाती है।
    - अप्रत्यक्ष वास्तविक भार- ऋण का शोधन करने हेतु जनता पर कर लगाया जाता है जिससे आन्तरिक ऋणों का अप्रत्यक्ष भार नागरिकों पर ही पड़ता हैं इससे करदाता की कार्य करने एवं बचत करने की शक्ति एवं इच्छा हतोत्साहित हो जाती है।

      रेडफोर्ड के अनुसार, ''आन्तरिक ऋण का प्रभावपूर्ण प्रभाव ऋण का भावी आय पर प्रभाव पड़ता है। भारी करारोपण से विनियोग रूक जाता है।''
2. **बाह्य ऋणों का भार-** बाह्य ऋण वे माने जाते है जिनमें मूलधन व ब्याज विदेशियों को दी जाती हो। ब्याज के रूप मे काफी धन प्रतिवर्ष विदेशी मुद्रा के रूप में विदेशों को चला जायेगा जिससे विदेशी विनिमय कोष पर बुरे प्रभाव पड़ सकते हैं। देश के दीर्घकालीन आर्थिक विकास कार्यक्रम में बाह्य ऋणों पर कम निर्भर रहना चाहिए तथा व्यवस्था आन्तरिक ऋणों से ही की जानी चाहिए। इसके भार से सम्बन्धित मुख्य बातें निम्न प्रकार हैं-
    - प्रत्यक्ष वास्तविक एवं द्राव्यिक भार- वास्तविक भार का अनुमान उस समय लगता है जबकि नागरिकों को विदेशी भुगतान के बदले में देश की वस्तुओं एवं सेवाओं को निर्यात करना होता है जिससे आर्थिक कल्याण में कमी हो जाती है। यदि ऋणों का भुगतान निर्धनों की तुलना मे धनी

करें तो प्रत्यक्ष वास्तविक भार उस राशि से मापा जा सकता है जो ऋणी देश को मूलधन व ब्याज के रूप में विदेशों को चुकानी पड़ती हो।

- अप्रत्यक्ष द्राव्यिक व वास्तविक भार- यह भार प्रायः उत्पादन की कमी के कारण पड़ता हैं। बाह्य ऋण से उत्पादन दो प्रकार से हतोत्साहित होता है -(अ) ऐसे ऋणों के शोधन के लिए भारी मात्रा में करारोपण करना पड़ता है जिससे कार्य करने एवं बचत की शक्ति पर बुरे प्रभाव पड़ते हैं। (ब) इन ऋणों के भुगतान करने से सरकार को सार्वजनिक व्ययों में कमी करनी होती है जिससे उत्पादन हतोत्साहित होता है। परन्तु यह सत्य नहीं है।

13.10 सार्वजनिक ऋणों के शोधन के ढंग

सार्वजनिक ऋणों का उपयोग देश के आर्थिक विकास में किया जाता है व नियोजन की सहायता से विकास कार्यक्रम बनाये जाते हैं। इन ऋणों को एक निश्चित अवधि के पश्चात चुकाया जाना आवश्यक माना जाता है। सार्वजनिक ऋणों के भुगतान के हेतु अनेक प्रकार की विधियों को अपनाया जाता है, इनमे से मुख्य विधियां निम्नलिखित है-

1. **पूंजी कर-** पूंजी कर लगाकर ऋणों का भुगतान किया जा सकता है। यदि लिये गये ऋण का उपयोग युद्ध कार्य पर किया गया है तो उसका भुगतान विशेष करारोपण द्वारा ही किया जाना चाहिए। जब सरकार अन्य प्रकार के कर लगाने में असमर्थ हो तो पूंजी कर को ही अपनाना उचित माना जाता हे। प्रथम विश्वयुद्ध के बाद बहुत से अंग्रेज अर्थशास्त्रियों ने सरकार पर इस ढंग से ऋणों का भुगतान करने हेतु दबाव डाला था। डाल्टन का विचार है कि "ऋणों के भुगतान के सम्बन्ध में सम्पूर्ण वाद-विवाद के मध्य अपने स्वयं के गुणों के कारण पूंजी कर ही सर्वोत्तम नीति है।'' पूंजी कर को लगाया जाना चाहिए या नहीं, इस सम्बन्ध में सदैव ही वाद-विवाद रहा है। विभिन्न अर्थशास्त्रियों ने इसके पक्ष एवं विपक्ष में अनेक तर्क दिये हैं। रिकार्डो ने नेपोलियन को युद्ध के उपरान्त इस कर को लगाने की सलाह दी थीं उनके अनुसार, "एक राष्ट्र जिस पर बहुत ऋण एकत्रित हो जाते हैं, वह बहुत ही कृत्रिम स्थिति में हो जाता है। जो देश इस प्रकार की कृत्रिम स्थिति की कठिनाइयों में फंस जाता है, वह इससे छुटकारा पाने हेतु अक्लमन्दी से कार्य करेगा और अपनी सम्पत्ति को ऋण के शोधन करने के लिए त्याग करने को तत्पर होगा।'' इस कर के अन्य समर्थकों में ए0एस0 हेन्सन, ए0सी0 पीगू, एजवर्थ एवं लारेन्स थे। इसके विरोध में जोशिया स्टैम्प एव पेन थे।
2. **ऋण परिशोधन कोष-** इंग्लैंड में सर्वप्रथम सार्वजनिक ऋण के शोधन में ऋण परिशोधन कोष प्रणाली को अपनाया गया। उसके बाद विश्व के अन्य राष्ट्रों ने इस तरीके को अपनाया। इस रीति में सरकार द्वारा एक कोष का निर्माण किया जाता है और उसी से मूलधन एवं ब्याज का भुगतान कर दिया जाता है। करारोपण से जो आय प्राप्त होती है उसे भी इसी कोष में जमा कर दिया जाता है। यह कोष दो प्रकार से स्थापित किया जा सकता है। वार्षिक आय से कुछ बचत इसमें रखकर, या नवीन ऋणों का जारी करके।
   डॉ0 डाल्टन ने परिशोध कोष को दो भागों मे विभाजित किया है, जैसे (अ) निश्चित परिशोध कोष एवं (ब) अनिश्चित परिशोध कोष- जब धन की एक निश्चित मात्रा प्रतिवर्ष कोष मे जमा की जाए तो उसे निश्चित परिशोध कोष कहेंगे। इसके विपरीत जब कोष मे जमा की जाने वाली राशि निश्चित न हो तो उसे अनिश्चित परिशोध कोष कहेंगे। डाल्टन का मत है, "एक संचयी परिशोध कोष में एक निश्चित ऋण राशि एवं कोष ब्याज पर लगा दिया जाता है जिससे बयाज के रूप में अर्जित धन राशि को परिशोधन कोष में लगा दिया जाता है। अतः वार्षिक परिशोधन कोष मे चक्रवृद्धि से ब्याज वृदि हो जाती है।''

ऋण भुगतान की अवधि को निश्चित कर लेने के बाद सरकार का दूसरा कदम यह होता है कि भुगतान कोषों को इस अवधि पर किस प्रकार फैलाया जाए। इसके लिए निश्चित परिशोध कोष की स्थापना तीन आधारों पर की जाती है जैसे-

ऋण शोधन की अवधि निश्चित करके, भुगतान कोषों को इस निश्चित अवधि में वितरित करके एवं शोधन कोष में बंटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणों में करके।

- ऋण शोधन की अवधि निश्चित करके- इसमें ऋण के भुगतान की अवधि निश्चित कर दी जाती है और उस अवधि की समाप्ति पर ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है। इस निश्चित अवधि की समाप्ति पर सभी प्रकार के ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है।
- भुगतान कोषों को इस अवधि में वितरित करके- ऋणों के भुगतान करने की अवधि जितनी थोड़ी होगी उतना ही कम भार उस देश की अर्थव्यवस्था पर पड़ेगा। भुगतान कोषों को ऋणों के भुगतान में निम्न प्रकार से प्रयोग किया जा सकता है-
    - मात्रा कम करके- इस विधि मे वार्षिक ब्याज की राशि से भी अधिक ऋणदाताओं को भुगतान कर दिया जाता है जिससे प्रतिवर्ष ऋण भार कम हो जाता है। मूलधन अधिक लौटा दिये जाने से ब्याज का भाग कम हो जाता है और व्यय के रूप में भी धन कम रह जाता है।
    - भुगतान मात्रा समान रखकर- इसके अनुसार वर्ष में प्राप्त होने वाली ब्याज की सम्पूर्ण राशि को कोष में जमा नहीं करते, वरन् उसका केवल एक भाग ही इस कोष में जमा कर देते हैं और शेष राशि को ऋणदाताओं में वितरित कर दिया जाता है, जिससे प्रतिवर्ष ऋण का भार समान बना रहता है।
    - भुगतान की मात्रा बढ़ाकर- इसमें एक संचयी परिशोध कोष की स्थापना की जाती है जिसमें धनाशि चक्रवृदि दर से बढ़ती है और प्रतिवर्ष एक निश्चित धनराशि जमा करते हैं जिससे इस कोष की मात्रा में वृदि होती रहती है।
    - शोधन कोष का बंटवारा विभिन्न प्रकार के ऋणों में करके- इसमें शोधन कोष को विभिन्न प्रकार के ऋण में विभाजित करके, ऋण के भुगतान की व्यवस्था की जाती है। प्रो0 मेहता का मत है कि "परिशोध कोष की पद्धति ऋण भुगतान का सबसे अच्छा ढंग है। यह अत्यन्त क्रमबद्ध है तथा कोई उसे किसी विशेष ऋण की आवश्यकताओं की पूर्ति में समायोजित कर सकता है।"ऋण शोधन की इस क्रिया को अग्र क्रिया से सरलतापूर्वक समझा जा सकता है।

3. **ऋण निषेध-** सार्वजनिक ऋण से छुटकारा पाने का सबसे सरल ढंग यह है कि सरकार इसे चुकाने से इन्कार कर दे। परन्तु ऋणों के भुगतान को मना करने पर सरकार की साख समाप्त हो जाती है और युद की सम्भावनाएं बढ़ जाती हैं। डाल्टन का मत है कि "खुला सैनिक आक्रमण सहित प्रचार से विभिन्न आर्थिक एवं वित्तीय दबाव तक ऐसे ढंग हैं जो ऋणदाताओं द्वारा ऋण वसूल करने में प्रयोग किये जाते हैं। विशेषकर जबकि विदेशी ऋणों का निषेध करना हो। जनतन्त्रीय सरकार द्वारा ऋण निषेध की रीति को निम्न कारणों से अपनाया जाना उचित नहीं माना जाता-
    - अन्याय पूर्ण- ऋण समाज के किसी एक वर्ग द्वारा प्रदान किया जाता है और उसका भुगतान न करने से समाज के किसी एक वर्ग को ही हानि सहन करनी होगी। जबकि उस ऋण से सम्पूर्ण समाज को लाभ पहुंचाये जा सकते हैं।

- राजनीतिक स्वतन्त्रता को खतरा- सरकार द्वारा विदेशी ऋणों को मनाही न करने से राजनीतिक स्वतन्त्रता को खतरे उत्पन्न हो सकेंगे। कहा जाता है कि "विदेशी ऋण के साथ विदेशी झण्डा भी आ जाता है जो देश की अर्थव्यवस्था को खतरे में डाल सकता है।''
- नवीन ऋण प्राप्ति में कठिनाई- यदि सरकार किसी ऋण के भुगतान करने को इन्कार कर देती है तो भविष्य में नवीन ऋणों को प्राप्त करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित होंगी।

4. **ऋण परिवर्तन-** इस विधि से सरकार पुराने ऋणों को नये ऋणों में बदल देती है, जिन पर सूद की दर कम होती है। इस विधि में ऋणों की शर्तो एवं ब्याज की दर में परिवर्तन कर दिया जाता है। जो ऋणदाता नवीन ऋणों को स्वीकार नहीं करते उन्हें भुगतान कर दिया जाता है। ब्यूहलर के शब्दों में, "ऋण परिवर्तन से आशय ब्याज करों की राशि को कम करने के लिए तथा उसका लाभ प्राप्त करने के लिए वर्तमान ऋणों को नवीन ऋणों में परिवर्तन करने से लगाया जाता है।" ऋण परिवर्तन की क्रिया उस समय अपनायी जाती है जबकि ऋण के भुगतान की अवधि आ चुकती है, और साधनों के अभाव में सरकार ऋणों का भुगतान न कर पाती हो। अतः इस क्रिया में ऋण के भुगतान को टालने का प्रयास किया जाता है। कभी-कभी सरकार के ऋणों को चुकाने हेतु नवीन आकर्षक ऋणों को प्रारम्भ कर देती है।
5. **क्रमानुसार भुगतान-** क्रमानुसार भुगतान में प्रति वर्ष थोड़ी-थोड़ी मात्रा में भुगतान किया जाता है। इसमें समस्त ऋणों की व्यवस्था इस ढंग से की जाती है कि प्रतिवर्ष कुछ ऋणों की परिपक्वता हो जाए और उस भाग को उस वर्ष चुकता कर दिया जाए।
6. **पुनः ऋणशोधन-** इस रीति में सरकार नवीन ऋणों को चालू करने से जो राशि प्राप्त करती है उससे पुराने ऋणों का भुगतान कर दिया जाता है। नवीन ऋण कम ब्याज दर पर प्राप्त किये जाते हैं। जिससे भविष्य में सरकार पर ऋण का बोझ कर हो जाए।
7. **बजेटरी बचत-** सरकार द्वारा बनाये गये बजटों में से कुछ राशि प्रतिवर्ष बचत के रूप में निकालकर ऋणों के भुगतान में प्रयोग की जा सकती है।
8. **लाटरी द्वारा भुगतान-** इस विधि में ऋणों का भुगतान लाटरी के आधार पर किया जाता है तथा जिस व्यक्ति का नम्बर आ जाता है उसी को ऋण का भुगतान कर दिया जाता है लाटरी से नम्बर निकलने की एक पूर्ण प्रक्रिया है, जिसका पालन करके ही इस रीति का प्रयोग किया जा सकता है।
9. **वार्षिक वृत्ति-** इसमें सरकार जो ऋण प्राप्त करती है उसे वार्षिक किश्तों के रूप में चुका दिया जाता है। इसमें ऋण की राशि शनैः शनैःकम हो जाती है और एक निश्चित अवधि के बाद पूर्णतया समाप्त हो जाती है।
10. **ब्याज दर में कमी-** सरकार द्वारा ब्याज दर में कमी करके भी ऋण के भार को कम किया जा सकता है औरऋण का भुगतान हो सकता है। परन्तु यह ढंग व्यावहारिक नहीं माना गया और इसका विरोध सभी स्थानों पर किया गया।

अभ्यास प्रश्न-

1. किसने ने लोक ऋण का विरोध किया था?
2. एक निश्चित अवधि के बाद जिन ऋणों के भुगतान का वचन सरकार द्वारा दिया जाता है, वे क्या कहलाते हैं?
3. लोक ऋण क्या होते हैं?
4. सिचाई परियोजना के लिये लिया गया ऋण क्या है?
5. किसका ऋण भार कम होता है?

6. लोक ऋण के बाह्य स्रोत क्या हैं?

13.11 सारांश

किसी वर्ष में बजेटरी व्यवहार से उत्पन्न असन्तुलन को हम राजकोषीय घाटा से व्यक्त करते हैं, सरकार इस घाटे की पूर्ति वर्ष में की गयी आन्तरिक तथा विदेशी उधारी से करती है। इस उधारी को लोक व सार्वजनिक ऋण की संज्ञा दी जाती है। कालांतर में सार्वजनिक ऋण सरकार की एक सरल और अल्पकालीन गतिविधि के स्थान पर एक महत्वपूर्ण राजकोषीय घटक और एक सक्षम नीति-अस्त्र की पद्वीं प्राप्त कर चुका है। वर्तमान भारतीय बजेटरी व्यवहार के अनुसार केन्द्र सरकार के सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत तीन प्रकार की देयतायें आती हैं- (क) आन्तरिक ऋण (ख) विदेशी ऋण (ग) अन्य देयताएं। आन्तरिक तथा विदेशी ऋण भारत के सार्वजनिक ऋण के अन्तर्गत आते हैं। इस इकाई में लोकऋण वर्गीकरण सिद्धातों, स्रोतों, आर्थिक प्रभावों तथा शोधन विधियों की चर्चा की गई है।

13.12 शब्दावली

लोकऋण- आन्तरिक व विदेशी ऋण, आन्तरिक/घरेलू ऋण- जनता द्वारा ऋण यथाः विपणन उधार, लघु बचतें आदि, गैर-उत्पादक ऋण- निजी व गैर उत्पादक ऋण, कालावधि- ऋण शोधन समय सीमा, राजकोषीय घाटा- बजेटरी व्यवहार से उत्पन्न असन्तुलन

13.13 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. प्रतिष्ठित अर्थशास्त्रियों ने, **2.** शोध्य(ऋण), **3.** ऐच्छिक, **4.** उत्पादक, **5.** अशोध्य ऋणों का, **6.** विश्व बैंक, अन्तर्राष्ट्रीय मुद्रा कोष और अन्तर्राष्ट्रीय विकास संघ

13.14 सन्दर्भ ग्रंथ सूची

1. भाटिया, एच0 एल0, लोक वित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस लि0, नोएडा।
2. थावराज, एम0जे0के0, फायनेन्सियल एडमिनिस्ट्रेशन आफ इन्डिया, सुल्तान चंद एवं संस, नई दिल्ली।
3. बर्मन, किरण, 1978 इंडियोज पब्लिक डेट् एंड पालिसी सिंस इंडिपेंडेंस, चुघ पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली।
4. चन्द्रा, अशोक भारतीय प्रशासन, जार्ज ऐलन अनविन लिमिटेड।

13.15 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भाटिया, एच0 एल0, लोक वित्त, विकास पब्लिशिंग हाउस लि0, नोएडा।
2. चन्द्रा, अशोक भारतीय प्रशासन, जार्ज ऐलन अनविन लिमिटेड।

13.16 निबन्धात्मक प्रश्न

1. रिजर्व बैंक के कार्यों की विस्तार से चर्चा कीजिए।
2. सावर्जनिक ऋण के स्रोतों को स्पष्ट कीजिए।
3. सावर्जनिक ऋणों के शोधन के तरीके की व्याख्या कीजिए।
4. सावर्जनिक ऋण के आर्थिक प्रभाव पर प्रकाश डालिए।